उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन
मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

MAHY-108

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम

खण्ड – 1 : अठारहवीं सदी का घटनाक्रम 05–47

इकाई 1 : अठारहवीं सदी का विवाद 05

इकाई 2 : बंगाल में ब्रिटिश सत्ता की स्थापना एवं भारत में ब्रिटिश साम्राज्य 13

इकाई 3 : मुगल साम्राज्य का पतन एवं क्षेत्रीय शक्तियों का उदय 20

इकाई 4 : प्रारम्भिक भारतीय प्रत्युत्तर–सुधार और विद्रोह 30

इकाई 5 : 1857 ई. की क्रान्ति–कारण एवं स्वरूप 40

खण्ड – 2 : राष्ट्रीय जागरण तथा साम्राज्यवादी प्रतिक्रिया (1885 ई.–1919 ई.) 48–128

इकाई 1 : 1857 ई. की क्रान्ति के पश्चात् संवैधानिक तथा प्रशासनिक परिवर्तन 50

इकाई 2 : राष्ट्रवाद का उदय एवं भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना 70

इकाई 3 : उदारवाद, राष्ट्रवाद का युग 86

इकाई 4 : क्रान्तिकारी राष्ट्रवाद का युग 100

इकाई 5 : साम्प्रदायिक राजनीति का विकास 115

खण्ड – 3 : भारतीय राष्ट्र के विविध स्वर 129–203

इकाई 1 : ब्रिटिश औद्योगिक नीति और भारत 131

इकाई 2 : गैर ब्राह्मण और दलित प्रतिरोध 149

इकाई 3 : मजदूर और कृषक विद्रोह 165

इकाई 4 : स्त्रियों की भागीदारी 180

इकाई 5 : मुसलमानों का अलगाव 195

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन
मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

MAHY-108

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम

खण्ड – 1

अठारहवीं सदी का घटनाक्रम

इकाई – 1 5

अठारहवीं सदी का विवाद

इकाई – 2 13

बंगाल में ब्रिटिश सत्ता की स्थापना एवं भारत में ब्रिटिश साम्राज्य

इकाई – 3 20

मुगल साम्राज्य का पतन एवं क्षेत्रीय शक्तियों का उदय

इकाई – 4 30

प्रारम्भिक भारतीय प्रत्युत्तर–सुधार और विद्रोह

इकाई – 5 40

1857 ई. की क्रान्ति–कारण एवं स्वरूप

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

प्रयागराज

परामर्श समिति

प्रो0 सीमा सिंह — कुलपति, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन विश्वविद्यालय, प्रयागराज

कर्नल विनय कुमार — कुलसचिव, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन विश्वविद्यालय, प्रयागराज

पाठ्यक्रम निर्माण समिति (अध्ययन बोर्ड)

प्रो0 संतोषा कुमार आचार्य — इतिहास एवं प्रभारी निदेशक, समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

प्रो0 हेरम्ब चतुर्वेदी — आचार्य एवं पूर्व विभागाध्यक्ष, इतिहास विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

प्रो0 संजय श्रीवास्तव — आचार्य, इतिहास विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

डॉ0 सुनील कुमार — सहायक आचार्य, प्राचीन इतिहास, समाज विज्ञान विद्याशाखा उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

लेखक

डॉ0 यशवेन्द्र ढ़ाका — सहायक आचार्य, इतिहास वर्धमान पी0जी0 कॉलेज, बिजनौर उ0प्र0

सम्पादक

प्रो0 हेरम्ब चतुर्वेदी — आचार्य एवं पूर्व विभागाध्यक्ष, इतिहास विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज (इकाई 1–5)

पाठ्यक्रम समन्वयक

डॉ0 सुनील कुमार — सहायक आचार्य, प्राचीन इतिहास, समाज विज्ञान विद्याशाखा उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

2022 (मुद्रित)

©उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज 2021

ISBN : 978-93-94487-87-1

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस सामग्री के किसी भी अंश को उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में, मिमियोग्राफी (वक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

नोट : पाठय सामग्री में मुद्रित सामग्री के विचारों एवं आकड़ों आदि के प्रति विश्वविद्यालय, उत्तरदायी नहीं है।

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की ओर से कर्नल विनय कुमार, कुलसचिव द्वारा पुनः मुद्रित एवं प्रकाशित–२०२४

मुद्रक: सिग्नस इन्फार्मेशन सल्यूशन प्रा० लि०, लोढ़ा सुप्रीमस साकी विहार रोड, अन्धेरी ईस्ट, मुम्बई।

IOST-020

MAHY-108/4

इकाई–1

मुगल साम्राज्य का पतन एवं क्षेत्रीय शक्तियों का उदय

इकाई की रुपरेखा :

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 मुगल साम्राज्य के पतन के विभिन्न सिद्धांत

1.3 क्षेत्रीय शक्तियों का उदय

1.3.1 राज्य जो मुगल साम्राज्य में से निकले थे

1.3.2 नए राज्य जो मुगलों के विरुद्ध क्रान्ति से बने थे

1.3.3 अन्य स्वतन्त्र राज्य

1.4 बोध प्रश्न

1.5 सारांश

1.6 शब्दावली

1.7 बोध प्रश्नों के आदर्श उत्तर

1.8 सन्दर्भ/उपयोगी पुस्तकें

1.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप जान सकेंगे कि:

- मुगल साम्राज्य के पतन के प्रमुख विचार और उनके पक्ष विपक्ष में तथ्य
- क्षेत्रीय शक्तियों के उदय का प्रारम्भ
- मुगल साम्राज्य के पश्चात् विभिन्न क्षेत्रीय शक्तियॉ
- क्षेत्रीय शक्तियों की कार्यप्रणाली और असफलता

1.1 प्रस्तावना

18वीं शताब्दी के प्रारम्भ में मुगल साम्राज्य का पतन हुआ। मुगल साम्राज्य की सीमाएं निरंतर सिकुड़ती जा रही थी । साथ ही प्रशासनिक व्यवस्था कमजोर होने के कारण क्षेत्रीय शक्तियों का उदय हो रहा था। इसके पश्चात्, क्षेत्रीय शक्तियों का उदय एक महत्वपूर्ण चरण था। यद्यपि ब्रिटिश इतिहासकारों ने ब्रिटिश साम्राज्य के उदय पर अधिक ध्यान देकर इस चरण को यथायोग्य महत्त्व नहीं दिया। अतः इस चरण को हम मुगल साम्राज्य के पतन अथवा ब्रिटिश

साम्राज्य के उदय के द्वारा न देखकर 18वीं सदी के समकालीन परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयास करेंगे।

1.2 मुगल साम्राज्य के पतन के विभिन्न सिद्धांत

जदुनाथ सरकार ने कानून व्यवस्था को ध्यान में रखते हुए औरंगजेब की धार्मिक कट्टरता को पतन का प्रमुख कारण माना। सतीशचंद्र के अनुसार, मनसबदारी और जागीरदारी समस्या के कारण मुगल साम्राज्य का पतन हुआ। साम्राज्य के मुख्य कर्मचारी सेना से आते थे। उनको आधिकारिक मुगल पदक्रम में उनके स्तर के अनुसार एक श्रेणी दी जाती थी। इन श्रेणियों को मनसब कहते थे। मनसब को पाने वाले को मनसबदार कहते थे। इनको भू–राजस्व के रूप में जागीर दी जाती थी। अतः मनसबदार जागीर को प्राप्त करके जागीरदार कहलाता था। मनसबदार को एक निश्चित सीमा में सैनिक और घोड़े रखने होते थे। जागीर के भू–राजस्व से इन सैनिकों को वेतन मिलता था। ये सैनिक मनसबदार को भू–राजस्व वसूली में सहायता करते थे। सतीशचंद्र ने इस मनसबदारी–जागीरदारी व्यवस्था की असफलता को मुख्य रूप से मुगल साम्राज्य के पतन के लिए उत्तरदायी माना। इसी सिद्धांत को आगे बढ़ाते हुए अतहर अली ने दक्कनी राज्यों को मुगल साम्राज्य में मिलाना और मराठा संघर्ष के कारण मनसबदारों के बढ़ने व जागीर कम होने के कारणों को साम्राज्य के राजनैतिक पतन के लिए जिम्मेदार माना। कृषि संबंधों में भू–राजस्व के कारण भी जमींदारों एवं किसानों में न्याय व्यवस्था सम्बन्धी समस्याएं आयी। इरफान हबीब ने अधिक भू–राजस्व लेने के कारण उत्पन्न हुई किसानों की समस्याओं को रखा। भू–राजस्व उच्चतम दर पर रखा जाता था जिससे सैन्य शक्ति को बढ़ाया व मजबूत रखा जा सके। परन्तु इसके कारण किसानों की दशा खराब हो गयी। जागीरों के लगातार स्थानांतरण के कारण मनसबदारों ने भी कृषि विकास पर कोई खास ध्यान नहीं दिया। किसान क्रान्तियों के कारण मुगल साम्राज्य का राजनैतिक तथा सामाजिक ताना बाना कमजोर पड़ गया।

ब्रिटिश इतिहासकारों ने भी दक्कन में मुगल प्रवेश और मराठा संघर्ष को साम्राज्य के पतन का कारण माना। पियर्सन ने दक्कन में मुगल शासन को अप्रत्यक्ष बताया। उसके अनुसार केवल मनसबदारों के लिए ही दक्कन में मुगल साम्राज्य का महत्त्व अधिक था। दक्कनी लोगों के लिए क्षेत्रीय संबंध अधिक महत्वपूर्ण थे। सैन्य विस्तार की कमी के कारण मुगल संरक्षण में भी कमी आयी । जागीर के लिए उर्वर भूमि में भी निरंतर कमी हो रही थी, साथ ही मनसबदारों की संख्या बढ़ती जा रही थी। जे एफ रिचर्ड्स के अनुसार, दक्कन में बेजागिरी की समस्या नहीं थी जैसा की पहले ऐतिहासिक रूप से समझा जाता था। जागीरों के आभाव को बेजागिरी कहते थे। रिचर्ड्स के अनुसार, दक्कन राजस्व

अभाव का क्षेत्र नहीं था। औरंगजेब ने सबसे उपजाऊ जागीरें खालीसा भूमि के रूप में अपने पास रखी थी जिससे दक्कन एवं विशेष रूप से मराठाओं के विरुद्ध सैनिक अभियान के लिए धन की कमी न पड़े।

सतीशचंद्र ने बेजागिरी और जागीरदारी संकट में अंतर स्पष्ट किया। जागीरदारी संकट मनसबदारों की संख्या में वृद्धि और उसके अनुरूप जागीरों के राजस्व में कमी के कारण नहीं हुआ। वास्तव में यह किसान जमींदार जागीरदार त्रिकोणीय व्यवस्था के सही रूप से कार्य नहीं करने के कारण उत्पन्न हुआ। जहांगीर और शाहजहाँ के काल में साम्राज्य के गंगा–यमुना दोआब से बाहर सीमावर्ती क्षेत्रों में पहुँचने के कारण जागीरदारी संकट बढ़ा। शाहजहाँ के शासनकाल के अंतिम समय में जमा (भू–राजस्व आंकलन) और हासिल (वास्तविक भू–राजस्व) में अंतर बढ़ता चला गया। एक साल में मात्र पांच महीने का राजस्व मिल रहा था। इस कारण से मनसबदार को सवार की संख्या में आनुपातिक कमी करनी पड़ी। सैन्य शक्ति में कमी के कारण मुगल साम्राज्य का आधार यह त्रिकोणीय व्यवस्था टूटने लगी।

मुजफ्फर आलम ने पंजाब और अवध सूबे के अध्ययन से पाया कि मुगल साम्राज्य जमींदार, जागीरदार, मदद–ऐ–माश धारक और क्षेत्रीय देशज तत्व, उदाहरण के लिए अवध में शेखजादा के मध्य नियंत्रण और संतुलन की नीति को सही से लागू कर पाने में असफल रहा। 18वीं शताब्दी के प्रारम्भ में जमींदार, जागीरदार के मध्य अपने भविष्य को सुरक्षित करने के लिए एक राजनैतिक समझ बनी। साथ ही, एक दूसरे के अधिकारों और भौगोलिक शक्तियों को हड़पने के लिए प्रयास हुए। आलम के अनुसार, 17वीं शताब्दी के अंतिम एवं 18वीं शताब्दी के प्रारम्भ में आर्थिक विकास पंजाब तथा अवध में अच्छा था। विभिन्न सामाजिक वर्ग इस आर्थिक विकास का उपयोग व्यक्तिगत लाभ के लिए करने लगे।

मुगल साम्राज्य के सीमावर्ती क्षेत्रों ने अपने व्यक्तिगत विकास पर ध्यान दिया। कुछ क्षेत्र साम्राज्य से तेजी से अलग हुए जबकि अन्य क्षेत्र अभी भी सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक रूप से जुड़े हुए थे। विभिन्न क्षेत्र अलग–अलग समय पर मुगल साम्राज्य से धीरे–धीरे टूटते चले गए।

मुगल प्रशासन केंद्रीकृत था। इसकी सफलता पादशाह की मनसबदारों, जागीदारों, जमींदारों और प्रादेशिक अधिकारियों को नियंत्रण में रखने की शक्ति एवं योग्यता पर निर्भर थी। 1707 में औरंगजेब की मृत्यु के बाद यह स्थिति बदलने लगी थी। उत्तरवर्ती मुगल पादशाह कमजोर होने के कारण अपनी शक्ति खोते गए।

मुगल प्रशासन में दीवान (राजस्व विभाग का अध्यक्ष) और नाजिम (प्रशासनिक अध्यक्ष) दो सबसे महत्वपूर्ण पद थे। ये दोनों पादशाह के द्वारा नियुक्त किये जाते थे तथा इन्ही के द्वारा सूबों पर नियंत्रण रखा जाता था। इनके अतिरिक्त आमिल, फौजदार

और कोतवाल भी पादशाह के द्वारा नियुक्त किये जाते थे। सूबेदार भी उसकी इच्छा पर ही अपने पद पर बने रह सकते थे। इस प्रकार, नियुक्ति पर नियंत्रण से पादशाह प्रादेशिक प्रशासन पर अप्रत्यक्ष नियंत्रण स्थापित करने में सफल रहता था।

1.3 क्षेत्रीय शक्तियों का उदय

17वीं शताब्दी के प्रारम्भ में केंद्रीय प्रशासन आर्थिक संकट के कारण छिन्न भिन्न हो रहा था। मनसबदारों में आपसी द्वेष और प्रतिद्वंदिता के कारण अलग अलग गुट बन रहे थे। पादशाह व्यक्तिगत रूप से इतने शक्तिशाली नहीं रह गए थे कि सूबेदारों को संरक्षण प्रदान कर पाते। परिणामस्वरूप, सूबेदारों ने अपने स्वतन्त्र राज्य बनाने प्रारम्भ कर दिए। अब नियुक्तियों में पादशाह से आज्ञा लेना उनके लिए आवश्यक न रहा। इस प्रकार, सूबों में मुगलों से स्वतन्त्र वंशानुगत शासन प्रारम्भ हुआ। ये मुगल पादशाह को केवल वार्षिक उपहार भेजते थे। धीरे–धीरे राजपूताना और दक्कन के स्वतन्त्र राज्यों ने भी मुगल साम्राज्य से अपने सम्बन्ध समाप्त कर लिए जो पहले उनकी सत्ता को मानते थे। इस प्रकार, जो क्षेत्रीय शक्तियाँ उदित हुयी उनको निम्न तीन वर्गों में बाँटा जा सकता हैः

1. राज्य जो मुगल साम्राज्य में से निकले थे।
2. नए राज्य जो मुगलो के विरुद्ध क्रान्ति से बने थे।
3. अन्य स्वतन्त्र राज्य।

1.3.1 राज्य जो मुगल साम्राज्य में से निकले थे

अवध, बंगाल और हैदराबाद तीनों ही मुगल प्रशासन के प्रत्यक्ष नियंत्रण में थे। ये उत्तराधिकारी राज्यों की श्रेणी में आते हैं। इन्होने पादशाह की संप्रभुता को चुनौती नहीं दी परन्तु अपने स्वतन्त्र वंशानुगत राज्यों को स्थापित किया। कमजोर मुगल सत्ता में से एक नयी राजनैतिक व्यवस्था उत्पन्न हुयी।

अवध

सआदत खाँन 1722 ई. में अवध का सूबेदार बना। वह शाही दरबार में अपना महत्त्व बढ़ाना चाहता था। इसमें असफल होने के बाद उसने अवध को एक स्वतन्त्र शक्ति का केंद्र बनाना प्रारम्भ किया। मुगल केंद्रीय सत्ता के कमजोर होने पर उसकी योजना को बल मिला। उसने अवध के क्रान्तिकारी जमींदारों का दमन किया, मदद–ऐ–माश धारकों की शक्ति को कम किया, भू राजस्व व्यवस्था को ठीक किया, नए अधिकारियों की नियुक्ति में केवल अपने प्रति स्वामीभक्ति को महत्त्व दिया। उसने अपने दामाद सफदर जंग को मुगल पादशाह की अनुमति लिए बिना ही नायब सूबेदार नियुक्त किया। सफदर जंग ने भी सआदत खाँन की नीति को जारी रखा। 1739 ई. से 1764 ई. के दौरान अवध वास्तव में स्वतन्त्र क्षेत्रीय शक्ति बना। उसने

रोहतास, चुनार और इलाहबाद के दुर्गों पर नियंत्रण स्थापित किया। उसके उत्तराधिकारी शुजाउद्दौला ने भी अवध की राजनैतिक स्थिति को सुदृढ़ करने का प्रयास किया। इस प्रकार एक नयी कार्य संस्कृति का उदय हुआ जिसमें आम जनता मुगल पादशाह के प्रति स्वामिभक्त न होकर अवध के नवाब के प्रति स्वामिभक्त थी।

बंगाल

मुर्शीद कुली खाँन को बंगाल का दीवान नियुक्त किया गया था। औरंगजेब की मृत्यु और राजस्व प्रशासन में उसकी सफलता के कारण वह बंगाल का सूबेदार बना। उसने राजस्व प्रशासन को सुदृढ़ बनाने के लिए छोटे जमींदारों को समाप्त किया, क्रान्तिकारी जमींदारों और जागीरदारों को उड़ीसा के सीमावर्ती क्षेत्रों में भेजा, बड़े जमींदारों को राजस्व प्राप्ति और भुगतान के लिए प्रेरित किया और खालीसा भूमि को बढ़ाया। उसके प्रोत्साहन से व्यापारी वर्ग बंगाल की राजनीति में महत्वपूर्ण बना। मुर्शीद कुली खान ने अपनी बेटी के पुत्र सरफराज को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। उसके पिता शुआउद्दीन ने अपने ही पुत्र को हटाकर शासन अपने हाथों में ले लिया। अलीवर्दी खान ने क्रान्ति किया और शुजाउद्दीन को मारकर वह बंगाल का शासक बना। उसने अपने स्वामिभक्त लोगों को पटना, कटक और ढाका में नायब नवाब नियुक्त किया। इसप्रकार, पूर्व में एक स्वतन्त्र राज्य का उदय हुआ जिसमे बंगाल, बिहार और उड़ीसा शामिल थे।

हैदराबाद

निजाम–उल–मुल्क असफ जहाँ दक्कन का सूबेदार था। मुगल केंद्रीय शासन के कमजोर होने पर उसने पादशाह द्वारा नियुक्त कर्मचारियों को हटाकर स्वयं नियुक्तियां की। उसने राजस्व व्यवस्था को सुधारा तथा जमींदारों को नियंत्रित किया। महाजन, सेठ और सैन्य अधिकारी इस क्षेत्रीय राजनैतिक शक्ति के केंद्र–बिंदु थे। उसके उत्तराधिकारियों ने मराठा और यूरोपियन कंपनियों की चुनौतियों का सामना किया।

1.3.2 नए राज्य जो मुगलों के विरुद्ध क्रान्ति से बने थे

मराठा

मराठा राज्य सभी क्षेत्रीय राज्यों में सबसे प्रमुख था। मराठाओं का उदय मुगल केंद्रीकृत शासन के विरुद्ध एक क्षेत्रीय प्रतिक्रिया थी, साथ ही, कुछ क्षेत्रीय वर्गों और जातियों के सामाजिक उत्थान ने भी इसमें महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। पेशवा बालाजी विश्वनाथ के समय में पेशवा का पद अत्यधिक महत्वपूर्ण हो गया था। मराठा राज्य प्रशासन ने एक प्रभावी विस्तारवादी राज्य के रूप में अपनी पहचान बनाई। बालाजी राव के नेतृत्व में मराठा शक्ति अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंच गई। मध्य और उत्तर भारत की राजनीति में मराठा प्रमुख भूमिका निभाने लगे। 1761 में पानीपत के तृतीय युद्ध में अफगानों से हारने के कारण मराठा शक्ति का अत्यधिक ह्रास हुआ। मराठा प्रशासन प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष क्षेत्रों में विभाजित था। प्रत्यक्ष प्रशासनिक क्षेत्रों में

राजस्व आंकलन एवम् वसूली के लिए वतन व्यवस्था थी जिसमें वतनदार पितृसत्तात्मक आनुवांशिक परिवारों के व्यक्ति होते थे जिनका भूमि पर अधिकार था। अप्रत्यक्ष क्षेत्रों में पूर्ववर्ती जमींदारों को वार्षिक कर के एवज में प्रशासनिक व्यवस्था चलाने की अनुमति दी गई। मराठों का चौथ तथा सरदेशमुखी वसूलने का प्रमुख उद्देश्य अतिरिक्त उपज का अधिग्रहण था।

पंजाब

पंजाब अन्य क्षेत्रों से काफी अलग तरीके से मुगल शासन से अलग हुआ। लाहौर के सूबेदार, जकारिया खान ने एक स्वतंत्र राजनैतिक व्यवस्था स्थापित करने की कोशिश की परंतु वह असफल रहा क्योंकि सिख स्वयं एक स्वतंत्र राजनैतिक व्यवस्था स्थापित करना चाहते थे। गुरु नानक ने सिख संप्रदाय जिन धार्मिक विश्वासों तथा भाईचारे को सुदृढ़ करने के लिए बनाया था, वे मुगल प्रशासनिक गलतियों एवम् बाद में सिक्खों के धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप करने के कारण 18वीं शताब्दी में राजनैतिक हो गए। सिक्खों ने अपने आप को छोटे व अत्यंत तीव्र गति से चलने वाले जत्थों में अनुशासित किया जो मुगल सत्ता के लिए एक गंभीर चुनौती बन गए। मुगलों पर वाह्य फारसी एवम् अफगानी आक्रमण, मराठा चुनौती तथा सूबों में आंतरिक प्रशासनिक संघर्ष के कारण सिक्खों ने अपनी स्थिति को बहुत सुदृढ़ कर लिया। 18वीं सदी के दूसरे भाग में सिक्खों ने स्वयं को 12 वृहद क्षेत्रीय संघों अथवा मिस्लों में संगठित किया। 19वीं शताब्दी के प्रारंभ में एक स्वतंत्र राज्य के रूप में सिक्ख शक्ति महाराजा रणजीत सिंह के नेतृत्व में अपने चरम पर थी।

जाट

दिल्ली आगरा क्षेत्र में रहने वाली यह एक कृषक जाति थी। 17वीं शताब्दी के अंत में मुगल साम्राज्य के विरुद्ध जाटों का क्रान्ति एक महत्वपूर्ण घटना थी। जाटों ने यह क्षेत्र अपने नियंत्रण में रखने का प्रयास किया। चूड़ामन और बदन सिंह ने इस दिशा में प्रारंभिक प्रयास किए परन्तु सूरजमल ने 1756–1763 में वास्तव में भरतपुर में एक स्वतंत्र जाट राज्य की स्थापना की। जाट राज्य की सीमाएं पूर्व में गंगा नदी तक, पश्चिम में आगरा, दक्षिण में चंबल नदी तक तथा उत्तर में दिल्ली तक फैली थीं। जमींदारों को यहाँ प्रशासनिक और राजस्व शक्तियां प्राप्त थीं।

1.3.3 अन्य स्वतन्त्र राज्य

मैसूर

हैदराबाद के दक्षिण में मैसूर का राज्य था। यह मुगलों के प्रत्यक्ष आधिपत्य में नहीं था। वुडयार वंश के अन्तर्गत यह विजयनगर साम्राज्य के एक प्रदेश से स्वतंत्र राज्य बना। हैदर अली ने राज्य का सेनापति बनने के पश्चात वुडयार वंश के राजा को हटाकर सत्ता प्राप्त की। मैसूर के समक्ष मराठा, हैदराबाद और ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी की चुनौतियां थीं। हैदर अली ने मैसूर की सेना को यूरोपियन तरीकों से आधुनिक बनाने का प्रयास किया। फ्रांसिसियों की सहायता से उसने सांगठनिक अनुशासन को बढ़ाया।

1769 में हैदर अली ने ब्रिटिश सेना को हराया। 1782 में उसकी मृत्यु के बाद उसके पुत्र टीपू सुल्तान ने अंग्रेजों से संघर्ष किया। 1799 में चतुर्थ आंग्ल मैसूर युद्ध में उसकी मृत्यु के पश्चात मैसूर ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया गया।

राजपूत

राजपूत राजाओं ने भी स्वतंत्र राजनैतिक सत्ता स्थापित की। मेवाड़, मारवाड़ और आंबेर प्रमुख राज्य थे जिन्होंने मुगलों के खिलाफ संघर्ष किया। परन्तु शक्तिशाली बनने के लिए आंतरिक संघर्ष के कारण उनकी स्थिति कमजोर पड गई। जोधपुर के राजा अजीत सिंह तथा जयपुर के राजा जय सिंह प्रमुख राजपूत राजा थे।

1.4 बोध प्रश्न

1. मनसबदारी संकट से आप क्या समझते हैं?
2. सही अथवा गलत दर्शाइए।
   - क. सआदत खान ने हैदराबाद राज्य की स्थापना की।
   - ख. भरतपुर जाटों का एक राज्य था।
   - ग. जागीरदार ही मनसबदार थे।
   - घ. वतन व्यवस्था अप्रत्यक्ष क्षेत्रों में थी।

1.5 सारांश

प्रारम्भिक विश्लेषण में ऐसा पाया गया कि मुगल साम्राज्य का पतन जागीर व्यवस्था में संकट उत्पन्न होने के फलस्वरूप हुआ जिसके परिणामस्वरूप क्षेत्रीय शक्तियों का उदय हुआ। बाद में, आर्थिक विश्लेषण में पाया गया कि एक कृषि आधारित संकट भी 17वीं शताब्दी के अंत में साम्राज्य को घेरे हुए था जिसकी वजह से जाट, सतनामी और सिक्खों के क्रान्ति हुए। सभी तथ्यों को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि साम्राज्य के पतन से क्षेत्रीय शक्तियों को बल मिला और उनका उद्‌भव एवम् विकास तेजी से हुआ।

तीन प्रकार के वर्गों में विभाजित विभिन्न राज्यों ने अपने क्षेत्रों में स्वतंत्र शक्तियों के रूप में प्रभावशाली केंद्रों की स्थापना की परंतु मुगल साम्राज्य से अपने रिश्तों को पूर्ण रूप से नहीं तोड़ा। ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी ने इन्हें फूट डालो और राज करो की नीति द्वारा धीरे धीरे अपने साम्राज्य में मिला लिया।

1.6 शब्दावली

मनसबदारी : एक पद क्रम व्यवस्था थी जिसमे मनसबदार का पद वेतन और सैन्य जिम्मेदारी तय की जाती थी।

मदद–ऐ–माश : अनुदान के रूप में धार्मिक प्रवृत्ति के विद्वान व्यक्तियों को दी जाने वाली भूमि।

चौथः एक चौथाई 25: राजस्व प्राप्ति को कहा जाता था।यह नाम संस्कृत शब्द से लिया गया है, जिसका अर्थ है 'एक चौथाई'। इसमें राजा का हिस्सा एक तिहाई होता था।

सरदेशमुखीः चौथ पर 10~%अधिक कर जो सीधे राजा को जाता था।

1.7 बोध प्रश्नों के आदर्श उत्तर

1. भाग 1.2 को देखिये।
2. क. गलत ख. सही ग. सही घ. गलत

1.8 सन्दर्भ / उपयोगी पुस्तकें

इरफान हबीब : अग्रेरियन सिस्टम ऑफ मुगल इण्डिया।

जदुनाथ सरकार : द फाल ऑफ मुगल एम्पायर।

जदुनाथ सरकार : हिस्ट्री ऑफ औरंगजेब।

मुज्जफर आलम : द क्राइसिस ऑफ एम्पायर इन नॉर्थ इण्डिया : अवध एण्ड द पंजाब, 1707–1748।

रिचर्ड बार्नेट : नॉर्थ इण्डिया बिटविन द एम्पायर।

सतीश चन्द्र : मेडिविल इण्डिया : सोसाइटी, द जागीरदारी क्राइसिस एण्ड द विलेज।

सतीश चन्द्र : पार्टीस एण्ड पॉलिटिक्स एट द मुगल कोर्ट 1707–1740।

आथर अली : द मुगल नोबेलिटी अण्डर औरंगजेब।

इकाई–2

बंगाल में ब्रिटिश सत्ता की स्थापना

इकाई की रुपरेखा :

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 ब्रिटिश विजय से पूर्व बंगाल की स्थिति

2.2.1 अंग्रेजों की बंगाल विजय 1757 से 1765

2.2.2 सिराजुद्दौला और अंग्रेज

2.2.3 मीर जाफर और अंग्रेज

2.2.4 मीर कासिम और अंग्रेज

2.2.5 पुनः मीर जाफर बंगाल का नवाब

2.3 बोध प्रश्न

2.4 सारांश

2.5 शब्दावली

2.6 बोध प्रश्नों के आदर्श उत्तर

2.7 सन्दर्भ / उपयोगी पुस्तकें

2.0 उद्देश्य

सर्वप्रथम ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी ने बंगाल को अपने अधीन करने का प्रयास किया। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप समझ पाएंगे कि :

- बंगाल में अंग्रेजों ने किस प्रकार विजय प्राप्त की।
- बंगाल के नवाब से अंग्रेजों को सत्ता हस्तांतरण किस प्रकार हुआ।
- सत्ता हस्तांतरण के पश्चात शक्ति का परिवर्तन और उसका महत्व।

2.1 प्रस्तावना

1757 ई. से 1765 ई. के समय में बंगाल में सत्ता का धीरे धीरे नवाबों से अंग्रेजों को हस्तांतरण हुआ। 1750 ई. के दशक में बंगाल के नवाब और अंग्रेजों के मध्य व्यावसायिक प्रतिद्वंद्विता बहुत बढ़ गई थी। नवाबों का व्यक्तिगत रूप से असफल होना भी इसका एक महत्वपूर्ण कारण था परंतु इससे कहीं अधिक महत्वपूर्ण 18वीं शताब्दी में प्रशासन का पतन बंगाल की राजनीति के लिए अधिक घातक साबित

हुआ। यहाँ हम अंग्रेजों के बंगाल विजय के पूर्ववर्ती कारणों पर प्रकाश डालेंगे तथा 1757 ई. से 1765 ई. बंगाल में हुए राजनीतिक बदलाव की चर्चा करेंगे। तत्पश्चात हम इस परिवर्तन के महत्व की व्याख्या करेंगे, साथ ही प्लासी (1757) तथा बक्सर (1764) के युद्ध और अंग्रेजों की साम्राज्यवादी नीति में इनके महत्व की विवेचना करेंगे।

2.2 ब्रिटिश विजय से पूर्व बंगाल की स्थिति

यूरोपियन अर्थव्यवस्था में सर्वप्रथम सामंतवाद से पूँजीवाद का बड़ा बदलाव आया। इसके बाद व्यावसायिक पूँजीवाद से औद्योगिक पूँजीवाद की ओर बढ़ते हुए यूरोपीय शक्तियों में औपनिवेशिक साम्राज्य बढ़ाने के लिए भयंकर प्रतिद्वन्दिता हुई। भारतीय उपमहाद्वीप में इस साम्राज्यवादी प्रतिद्वंद्विता के लिए डच, फ्रेंच और इंग्लिश कंपनियों में बंगाल को लेकर शत्रुता थी। इसका प्रमुख कारण बंगाल के अच्छे प्राकृतिक संसाधन और व्यापार की अच्छी संभावनाएं थी। 18वीं शताब्दी में बंगाल से यूरोप को होने वाले निर्यात में मुख्य रूप से कच्चे पदार्थों जैसे साल्टपीटर, चावल, नील, काली मिर्च, चीनी, रेशमी व सूती कपड़े और हथकरघे से संबंधित था। 18वीं शताब्दी में बंगाल के उत्पाद अंग्रेजों का एशिया से आयात में लगभग 60: थे। अंग्रेजों की बंगाल में विशेष रूचि का कारण उसकी व्यावसायिक संभावनाएं थी। अंग्रेजों ने शोरा का सज्जीरवार आज के उड़ीसा के बालासोर में 1633 में सर्वप्रथम ब्रिटिश कंपनी की स्थापना की। इसके बाद हुगली, कासिम बाजार, पटना और ढाका में कंपनियाँ स्थापित की गई। 1690 के दशक में ब्रिटिश कंपनी ने सुतानाती, कालिकाता और गोविंदपुर; तीन गांवों के जमीदारी अधिकार खरीद लिए। इन तीनों गांवों को मिलाकर ब्रिटिश व्यवसायिक केंद्र कलकत्ता की स्थापना की गई। 1680 में कंपनी का बंगाल में वार्षिक निवेश डेढ़ लाख पॉन्ड था। 17वीं शताब्दी से ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी को बंगाल में मुक्त व्यापार के लिए मुगल सम्राट को 3000 वार्षिक कर देना पड़ता था। उसी समय कंपनी का बंगाल से निर्यात 50000 पौंड वार्षिक से अधिक था।

बंगाल के सूबेदार कंपनी को इस प्रकार के विशेषाधिकार देने के पक्ष में नहीं थे क्योंकि इसका अर्थ शाही खजाने को एक भारी हानि था। वे कंपनी द्वारा प्रादेशिक प्रशासन को अधिक कर देने के पक्ष में थे। इस प्रकार ब्रिटिश व्यावसायिक हितों तथा बंगाल के स्थानीय प्रशासन में संघर्ष प्रारंभ हो गया। बंगाल की दो समस्याएं थी, ब्रिटिश कंपनी के बढ़ते हुए व्यावसायिक हित तथा बंगाल का कमजोर प्रशासन। बंगाल के नवाब का शासन स्थानीय कुलीन वर्ग के समर्थन पर निर्भर था। उसे आर्थिक प्रशासन के लिए हिंदू सेठों की सहयोग की आवश्यकता थी। विशेष रूप से बंगाल के सबसे बड़े आर्थिक घराने का प्रतिनिधिए जगत सेठ के सहयोग की आवश्यकता थी। बड़े जमींदारों द्वारा राजस्व वसूली और कानून व्यवस्था को बनाए

रखने की आवश्यकता थी।

इन सभी वर्गों के अलग–अलग हित थे और इसीलिए नवाब से उम्मीदें भी अलग अलग थी। नवाब के लिए आवश्यक था कि इन सभी वर्गों के मध्य एक संतुलन बना कर रखा जाए। सामान्य लोगों का शक्ति समीकरण में कोई स्थान नहीं था। वे जमींदारों के अत्याचारों के शिकार हो रहे थे परंतु प्रशासन से उन्हें कोई संरक्षण प्राप्त नहीं हुआ।

2.2.1 अंग्रेजों की बंगाल विजय 1757 से 1765

धीमी गति से सत्ता का स्थानांतरण नवाब से अंग्रेजों को हुआ। 8 वर्ष के छोटे से समय में बंगाल ने 3 नवाब देखें, सिराजुद्दौला, मीर जाफर और मीर कासिम। सत्ता के लालच के कारण उन्होंने नवाब के पद की संप्रभुता खो दी और अंततः प्रशासन का नियंत्रण अंग्रेजों के हाथ में चला गया।

2.2.2 सिराजुद्दौला और अंग्रेज

अली वर्दी खान के बाद 1756 में सिराजुद्दौला बंगाल का नवाब बना। इस परिवर्तन का विरोध स्वयं सिराज की चाची घसीटी बेगम और उसके पुत्र शौकत जंग ने किया जो उस समय पूर्णिया का जागीरदार था। नवाब के दरबार में शक्तिशाली समूह सिराज के विरुद्ध था जिनमें जगत सेठ, उमी चंद, राजबल्लभ, राय दुर्लभ, मीर जाफर और अन्य लोग थे। सिराजुद्दौला के समय में कंपनी से संबंध अधिक खराब होने के दो प्रमुख कारण थेः

- कंपनी ने कलकत्ता के चारों तरफ नवाब की अनुमति के बिना दुर्गीकरण किया था।
- कंपनी के व्यापारिक विशेष अधिकारों का अनुचित प्रयोग उसके कर्मचारी अपने व्यक्तिगत व्यापार के लिए कर रहे थे। कंपनी ने कलकत्ता में कृष्ण दास को शरण दी जो राजबल्लभ का पुत्र था। वह एक बड़ा खजाना लेकर भागा हुआ था।

सिराजुद्दौला कंपनी से अत्यधिक अप्रसन्न था। कंपनी के कर्मचारी यह सोच रहे थे की कहीं सिराज फ्रांसीसियों के साथ मिलकर कंपनी के विशेषाधिकार समाप्त ना कर दे। सिराज द्वारा कलकत्ता में अंग्रेजों के दुर्ग पर आक्रमण ने अविश्वास की खाई को और अधिक बढ़ा दिया। मद्रास से शक्तिशाली अंग्रेज सेना रॉबर्ट क्लाइव के नेतृत्व में कलकत्ता आ गई थी। दरबार के षड्यंत्रकरियों के साथ कंपनी की गुप्त संधि के कारण अंग्रेजों की स्थिति और अधिक मजबूत हो गई थी। अतः वास्तव में प्लासी (पलाश के फूलों के कारण प्रसिद्ध, स्थानीय भाषा में पलाशी) के युद्ध 23 जून 1757 को अंग्रेजों की विजय युद्ध से बहुत पहले ही निश्चित हो चुकी थी। अंग्रेजों की विजय सैन्य शक्ति की श्रेष्ठता के कारण नहीं हुई थी बल्कि नवाब के अधिकारियों के

षडयंत्र के कारण सुनिश्चित हुई। सिराज की हत्या मीर जाफर के पुत्र मीरान के आदेश पर की गई।

2.2.3 मीर जाफर और अंग्रेज

सिराज के विरुद्ध अंग्रेजों की सहायता करने के पुरस्कार स्वरूप मीर जाफर को रॉबर्ट क्लाइव ने नवाब बनाया। मीर जाफर ने सत्रह करोड़ पचास लाख की धनराशि प्रदान की। नवाब बनते ही उसे कई समस्याओं का सामना करना पड़ा। वह अंग्रेजों की बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर पाया। कुछ जमीदारों ने जैसे मिदनापुर के राजाराम सिन्हा तथा पूर्णिया के हिजिर अली खान ने उसे नवाब मानने से इंकार कर दिया। सैनिकों को नियमित रूप से वेतन नहीं मिलने के कारण वे क्रान्ति की भावना से भरे हुए थे। उसे राय दुर्लभ के विषय में संदेह था। उसका मानना था कि राय दुर्लभ ने ही उसके विरुद्ध जमींदारों का क्रान्ति कराया था। परंतु राय दुर्लभ को क्लाइव की शरण प्राप्त होने के कारण मीर जाफर उसके विषय में कुछ नहीं कर पाया।

इसी बीच मीर जाफर के पुत्र मीरान की मृत्यु हो गई, जिसके कारण मीरान के पुत्र और मीर जाफर के दामाद मीर कासिम के बीच उत्तराधिकार का संघर्ष प्रारंभ हो गया। कलकत्ता के नए गवर्नर वांसीटार्ट ने मीर कासिम का पक्ष लिया। मीर कासिम ने नवाब बनाने के बदले में गुप्त समझौते द्वारा कंपनी को आवश्यक आर्थिक मदद देने का वचन दिया। वेतन न मिल पाने के कारण सैनिकों ने क्रान्ति किया। इससे अंग्रेजों के लिए मीर जाफर को नवाब के पद से हटाना आसान हो गया।

2.2.4 मीर कासिम और अंग्रेज

मीर जाफर के जैसे ही मीर कासिम को भी अंग्रेजों को एक बड़ी धनराशि देनी पड़ी। इसके अलावा बुर्दवान, मिदनापुर और चित्तगोंग के 3 जिले दी भी ब्रिटिश कंपनी को दिए गए। उसने नवाब बनने के बाद दो महत्वपूर्ण निर्णय लिएः

- कलकत्ता में कंपनी से एक सुरक्षित दूरी बनाए रखने के लिए राजधानी को मुर्शिदाबाद से बिहार में मुंगेर स्थानांतरित किया।
- प्रशासन में अपने व्यक्तियों को लगाया तथा सेना को कौशल एवं निपुणता के आधार पर पुनर्गठित किया।

बिहार के नायब सूबेदार रामनारायण ने मीर कासिम के बार–बार कहने के बावजूद अपना राजस्व लेखा नहीं दिया था परंतु नवाब उसके विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं कर पाया क्योंकि उसे पटना के अंग्रेज अधिकारियों का समर्थन प्राप्त था। कंपनी के व्यापार अनुमति पत्र दस्तक का कंपनी के ही अधिकारी अपने व्यक्तिगत व्यापार के लिए उपयोग कर रहे थे। वे अपने सामान पर कोई कर भी नहीं दे रहे थे जबकि स्थानीय व्यापारियों को कर देना पड़ता था। इससे एक ओर नवाब को राजस्व घाटा

हो रहा था तथा दूसरी ओर व्यापारियों को असमान व्यापारिक प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ रहा था। स्थानीय व्यापारियों को अपने उत्पाद कम मूल्य पर बेचने पढ़ रहे थे। मीर कासिम ने इसकी शिकायत गवर्नर वांसीटार्ट से की परंतु उसका कोई प्रभाव नहीं हुआ। मीर जाफर की तरह ही मीर कासिम भी अंग्रेजों की अपेक्षाएं पूरी नहीं कर सका। कंपनी ने मीर कासिम का विकल्प खोजना प्रारंभ किया। परंतु मीर कासिम अपने पूर्ववर्ती की तरह आसानी से हार मानने वाला नहीं था। उसने अंग्रेजों के विरुद्ध मुगल पादशाह शाह आलम और अवध के नवाब शुजाउद्दौलाके साथ मिलकर एक संघ बनाया। बिहार में बक्सर के युद्ध में 22 अक्टूबर 1764 को यह त्रिकोणीय संघ बुरी तरह पराजित हुआ। इसके फलस्वरूप कंपनी का पूर्वी भारत पर पूर्ण रूप से आधिपत्य हो गया।

2.2.5 पुनः मीर जाफर बंगाल का नवाब

कंपनी ने मीर जाफर को दोबारा बंगाल का नवाब बनाया परंतु खराब स्वास्थ्य के कारण 1765 में उसकी मृत्यु हो गई। उसके अवयस्क पुत्र नजीमुद्दौला को नवाब बनाया गया। वास्तविक प्रशासन नायब सूबेदार के द्वारा चलाया जाता था जो अंग्रेजों द्वारा नियुक्त एवम् पद च्युत किया जा सकता था। 1765 में ही रॉबर्ट क्लाइव बंगाल के गवर्नर के रूप में वापस आया। उसे अपने अपूर्ण कार्य को पूरा करने का स्वर्णिम अवसर प्राप्त हुआ अर्थात बंगाल में कंपनी को सर्वोच्च राजनीतिक शक्ति बनाना। उसने शाह आलम से संधि करके कंपनी को बंगाल, बिहार और उड़ीसा के दीवानी अधिकार प्राप्त किए। इसके बदले में शाह आलम को इलाहाबाद और उसके समीप का क्षेत्र प्रदान किया गया। दीवानी अधिकारों के कारण कंपनी को बंगाल के आर्थिक प्रशासन पर पूर्ण नियंत्रण प्राप्त हो गया।

कानून व्यवस्था सुरक्षा और न्यायिक प्रशासन अभी भी नवाब के पास था परंतु बक्सर के युद्ध के बाद नवाब की सैन्य शक्ति लगभग नष्ट हो चुकी थी। इस प्रकार 1757 से 1765 के मध्य बंगाल के नवाब से सत्ता का हस्तांतरण ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी को हो चुका था। कुछ इतिहासकारों ने इस प्रक्रिया को राजनैतिक क्रांति कहा। व्यक्तिगत कारणों में नवाबों की असफलता, सिराज का अहंकार, मीर जाफर द्वारा धोखा और मीर कासिम की सीमित क्षमता आ सकते हैं परंतु इससे बंगाल की शासन व्यवस्था का परिवर्तन समझना संभव नहीं है।

2.3 बोध प्रश्न

1. सही अथवा गलत दर्शाइए।

   क. कंपनी ने जानबूझ कर दस्तक प्रथा/व्यवस्था का दुरूपयोग किया।

   ख. मीर जाफर ने राजधानी को मुर्शिदाबाद से मुंगेर स्थानांतरित किया।

   ग. सिराज की हत्या मीर जाफर के पुत्र मीरान के आदेश पर की गई।

घ. अंग्रेजों ने बंगाल में प्रशासन को भारतीयों के लिए सुगम बनाया।

2. बंगाल में राजनैतिक परिवर्तन पर टिपण्णी लिखिए?

3. बंगाल के नवाब तथा कंपनी के बीच किस मुख्य कारण से संघर्ष प्रारम्भ हुआ?

2.4 सारांश

कंपनी के कर्मचारियों के व्यक्तिगत हितों के कारण नवाब से टकराव प्रारंभ हुआ। व्यापारिक विशेषाधिकार और व्यक्तिगत व्यापार के लिए कंपनी के कर्मचारियों ने नवाब के आदेशों का उल्लंघन किया। नवाब और कंपनी के बीच विवाद का सबसे प्रमुख कारण दस्तक का कंपनी के कर्मचारियों द्वारा व्यक्तिगत व्यापार के लिए दुरुपयोग था। मुगल शासक फर्रूखसियार ने 1717 में कंपनी के आयात निर्यात पर कर में छूट प्रदान की थी लेकिन यह कंपनी के कर्मचारियों के व्यक्तिगत व्यापार के लिए नहीं थी। इस व्यापारिक विशेषाधिकार के दुरुपयोग के कारण नवाब को राजस्व की बड़ी हानि हो रही थी। सिराजुद्दौला और मीर कासिम दोनों ने ही कंपनी से इसकी शिकायत की किंतु इस स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। अंग्रेज कंपनी भी अपने अन्य प्रतिद्वंदियों जैसे फ्रांसीसी और डच कंपनियों को व्यापारिक प्रतिस्पर्धा से बाहर करना चाहती थी। इसके लिए कंपनी ने नवाब के ऊपर अधिक व्यापारिक छूट के लिए दबाव बनाया। कंपनी ने अपनी सैन्य शक्ति बढ़ाई तथा कलकत्ता की किलेबंदी बिना नवाब की अनुमति लिए प्रारंभ कर दी। यह नवाब की शक्ति को प्रत्यक्ष चुनौती थी।

2.5 शब्दावली

दस्तकः मुगल शासक फर्रूखसियार ने 1717 में कंपनी के आयात निर्यात पर इस व्यापारिक विशेषाधिकार के द्वारा कर में छूट प्रदान की थी।

दीवानीः राजस्व अधिकार जिससे राज्य के आर्थिक मामलों पर पूर्ण नियंत्रण स्थापित हो जाता है।

2.6 बोध प्रश्नों के आदर्श उत्तर

1. क. सही ख. गलत ग. सही घ. गलत

2. भाग 2.2 को देखिये।

3. भाग 2.2.4 को देखिये।

2.7 सन्दर्भ / उपयोगी पुस्तकें

सी.ए. बायली : द न्यू कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, वॉल.– II.1, इण्डियन सोसायटी एण्ड द मेकिंग ऑफ द ब्रिटिश एम्पायर।

आर.सी. महूमदार (इडी.) : ब्रिटिश पैरामाउण्टसी एण्ड इण्डियन रिनेसेन्स, वॉल.– IX. पार्ट-I भारती विद्या भवन।

एन.के. सिन्हा (इडी.) : इकोनॉमिक हिस्ट्री ऑफ बंगाल, वॉल. 3.

एस.बिन्द उपाध्याय : इण्डिया फ्रॉम प्लेस्सी टू पोर्सन।

इकाई–3

बंगाल में ब्रिटिश साम्राज्य–आर्थिक नीतियां और प्रशासनिक ढांचा 1757–1857

इकाई की रुपरेखा :

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 विभिन्न राजस्व प्रणालियाँ

3.2.1 स्थायी राजस्व प्रणाली अथवा स्थायी बंदोबस्त

3.2.2 रैयतवाड़ी राजस्व प्रणाली अथवा रैयतवाड़ी बंदोबस्त

3.3 कृषि का व्यवसायीकरण

3.4 विऔद्योगीकरण

3.5 ब्रिटिश साम्राज्य का प्रशासनिक ढांचा

3.5.1 न्यायिक व्यवस्था

3.5.2 प्रशासनिक व्यवस्था

3.6 बोध प्रश्न

3.7 सारांश

3.8 शब्दावली

3.9 बोध प्रश्नों के आदर्श उत्तर

3.10 सन्दर्भ/उपयोगी पुस्तकें

3.0 उद्देश्य

इस इकाई में हम अंग्रेजों द्वारा बनाई गई भू राजस्व व्यवस्था, कृषि का व्यवसायीकरण, विऔद्योगिकरण और ब्रिटिश आर्थिक दुष्प्रभावों का अध्ययन करेंगे। अंग्रेजों द्वारा लाए गए विभिन्न कानूनों को संवैधानिक विकास की दृष्टि से समझने का प्रयास करेंगे तथा प्रशासन और कानून संबंधी परिवर्तनों का अध्ययन करेंगे। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप समझ पाएंगेः

- तीन प्रमुख भू राजस्व व्यवस्थाओं के लक्ष्य, विशेषताएं एवं ग्रामीण अर्थव्यवस्था पर प्रभाव।
- व्यवसायीकरण का अर्थ, प्रभाव सीमा, परिवर्तन और भारतीय किसानों पर

प्रभाव।

- विऔद्योगिकरण का अर्थ, यूरोपीय व्यापार का भारतीय उद्योग धंधों पर प्रभाव तथा ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी और विऔद्योगिकरण का संबंध।
- ब्रिटिश प्रशासनिक व्यवस्था की जानकारी, अंग्रेजों द्वारा लाए गए प्रशासनिक तथा न्यायिक परिवर्तन।

3.1 प्रस्तावना

यूरोप में एक लंबे समय तक व्यापारिक पूंजीवाद विकास के कारण विभिन्न देशों की ईस्ट इंडिया कंपनियां अस्तित्व में आई। इनमें से एक ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी थी जिसके व्यापार और एकाधिकार की हम चर्चा करेंगे। औद्योगिक क्रांति के कारण इंग्लैंड में औद्योगिक पूंजीवाद के उदय तथा भारत में कंपनी के द्वारा बंगाल में राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने के प्रभावों का आर्थिक और प्रशासनिक विश्लेषण करेंगे। बंगाल में स्थायी बंदोबस्त के द्वारा राजस्व वसूली के लिए ब्रिटिश सरकार ने कृषि पर भारी कर लगाया। अंग्रेजों ने कृषि का व्यवसायीकरण किया जिसमें नगदी फसलों को प्रमुखता दी गई। साथ ही आर्थिक और राजनैतिक दासता के कारण बंगाल में परंपरागत हस्तकला उद्योग को भारी हानि उठानी पड़ी। आर्थिक शक्ति से राजनैतिक शक्ति बनने के कारण कंपनी ने नया प्रशासनिक ढांचा तैयार किया। इस इकाई में हम विवेचना करेंगे कि अंग्रेजों ने भारत को कैसे शासित और नियंत्रित किया।

3.2 विभिन्न राजस्व प्रणालियाँ

ब्रिटिश सरकार ने कृषि पर अत्यधिक कर लगाया। कर की गणना तथा वसूली के लिए भिन्न भिन्न प्रकार की भू राजस्व व्यवस्था को अलग–अलग क्षेत्रों में लगाया गया। 1772 से एक वर्षीय और पंचवर्षीय कर व्यवस्था उच्चतम बोली लगाने वाली ठेकेदारों को दी गई। भविष्य की चिंता ना करते हुए उन्होंने किसानों का अत्यधिक शोषण किया, कुछ ठेकेदार अधिक बोली लगाने पर भी अत्यधिक दमन करने के बावजूद कर की राशि कंपनी को नहीं दे पाए। लाभकारी ठेकेदार मित्रों, संबंधियों तथा बेनामी ठेकेदारों को दिए गए जिससे ब्रिटिश सरकार को भारी राजस्व हानि हुई। 1786 में कॉर्नवालिस को इस दुर्व्यवस्था को सही करने तथा प्रशासनिक व्यवस्था का सुधार करने के लिए भारत भेजा गया।

3.2.1 स्थायी राजस्व प्रणाली अथवा स्थायी बंदोबस्त

कॉर्नवालिस ने अनुभव किया कि कृषि की स्थिति दयनीय होने के कारण रेशम और कपास जैसी फसलों का उत्पादन भी कम हो रहा था। वास्तव में ब्रिटिश कर व्यवस्था अनिश्चित और मनमानी थी। उसने भू राजस्व को लंबे समय काल के लिए निश्चित किया। 1793 में बंगाल, बिहार और उड़ीसा में स्थायी बंदोबस्त लगाया गया। बड़े जमींदारों के समूह राजस्व इकट्ठा करना कंपनी के लिए आसान था। यदि

जमींदार समय पर कंपनी को भू राजस्व देता था तो वह अपनी जमींदारी की संपूर्ण भूमि का मालिक था। वह भूमि को बेच सकता था, गिरवी रख सकता था अथवा किसी को भी दे सकता था। जमींदारी अनुवांशिक होती थी। यदि जमींदार राजस्व अदा करने में असफल रहा तो ब्रिटिश सरकार के पास यह अधिकार था कि वह नीलामी के द्वारा जमींदारी किसी अन्य व्यक्ति को दे दे और इस प्रकार सभी अधिकार भी इस नये व्यक्ति के पास चले जाते थे।

स्थायी राजस्व प्रणाली से किसानों का अत्यधिक शोषण हुआ। उच्चतम बोली लगाकर जमींदारी खरीदने के कारण राजस्व वसूली में बाढ़, सूखा और अन्य प्राकृतिक आपदाओं के बारे में नहीं सोचा गया। बंगाल में 1794 से 1819 के बीच 68ः जमीदारी दोबारा नीलाम की गई। जमीदारों ने अपने अंतर्गत पुनः छोटे जमींदार या पटनीदार रखे जिससे अधीनस्थ किराएदारी (subinfeudation) में उपसामन्ता होती है अधीनस्थ किराएदारी नहीं का प्रारंभ हुआ। बंगाल में जनसंख्या वृद्धि के कारण वन और खाली भूमि कृषि के अंतर्गत आई। स्थायी राजस्व प्रणाली में राजस्व कर निश्चित होने के कारण जमीदारों की स्थिति में सुधार हुआ और ये लोग अपने अंतर्गत किसानों का शोषण करते हुए संपन्नता का जीवन व्यतीत करने लगे।

3.2.2 रैयतवाड़ी राजस्व प्रणाली अथवा रैयतवाड़ी बंदोबस्त

स्थायी बंदोबस्त में कर बढ़ाने का कोई अवसर नहीं था जबकि कंपनी के खर्चे युद्धों के कारण लगातार बढ़ते जा रहे थे। 1792 में कंपनी के दो अधिकारी मुनरो और रीड मद्रास के क्षेत्र में नई भू राजस्व प्रणाली के अंतर्गत गांव से सीधे भू राजस्व लेने लगे। इसके पश्चात उन्होंने सीधे रैयत; किसान से राजस्व वसूली प्रारंभ की। इस प्रकार रैयतवाड़ी राजस्व व्यवस्था का विकास हुआ। इसमें एक सरकारी अधिकारी द्वारा प्रत्येक खेत का कर निश्चित किया जाता था और रैयत के पास यह विकल्प था कि वह उस खेत में फसल उगाये और कर अदा करें अथवा उस खेत में खेती ना करें। यदि किसी खेत के लिए कोई रैयत नहीं मिलता था तो वह उस राजस्व वर्ष के लिए खाली छोड़ दिया जाता था। मुनरो ने 1820 तक अपने अंतर्गत जनपदों में भू राजस्व व्यवस्था को रैयतवाड़ी प्रणाली में परिवर्तित कर दिया था इसीलिए उसे मद्रास का गवर्नर बनाया गया। जमींदार के रूप में कोई मध्यस्थ न होने के कारण तथा मद्रास सरकार के पास धन की कमी होने के कारण स्थायी बंदोबस्त की जगह रैयतवाड़ी बंदोबस्त को दक्षिण भारत में लगाया गया।

1820 के पश्चात रैयतवाड़ी व्यवस्था को पूरे मद्रास में लगाया गया परंतु यह मुनरो के द्वारा बनाई गई व्यवस्था से काफी अलग था। प्रत्येक खेत के राजस्व आकलन के लिए भूमि का प्रकार और खेत का क्षेत्रफल दो प्रमुख तथ्य थे। यह अत्यंत दुष्कर कार्य था इसीलिए अधिकांश भू आकलन अनुमानित थे। इस कारण से भू राजस्व आकलन बहुत अधिक था और प्राप्ति कम थी। रैयत के खेती करने या न

करने के विकल्प को समाप्त करके सभी खेतों में फसल उगाना अनिवार्य कर दिया गया। इससे किसानों का शोषण अधिक बढ़ गया और राजस्व प्राप्ति के लिए उन पर अत्याचार होने लगा। ग्रामीण अर्थव्यवस्था में मंदी आ गई और भूमि के विक्रय मूल्य भी गिर गए।

बंबई (बॉम्बे) प्रेसिडेंसी में गुजरात के क्षेत्र में देसाई (आनुवांशिक अधिकारी) तथा पटेल (ग्राम प्रधान) भू राजस्व इकट्ठा करते थे। इससे कंपनी को अपेक्षा के अनुरूप राजस्व प्राप्ति नहीं हुई। अतः 1818 में मराठा साम्राज्य को जीतने के बाद मुनरो के शिष्य एलफिंस्टन ने यहां रैयतवाड़ी बंदोबस्त लगाया। हालांकि राजस्व आकलन बहुत अधिक होने के कारण केवल पुणे जनपद में ही अधिकांश कृषक अपनी भूमि छोड़कर हैदराबाद के निजाम की क्षेत्रों में चले गए।

3.3 कृषि का व्यवसायीकरण

प्राचीन काल से ही बाजार (विपणन) व्यवस्था भारत में कृषि उत्पादों की क्रय– विक्रय में विशेष रूप से महत्वपूर्ण रही। मध्यकाल में भी लगभग 50 प्रतिशत कृषि उत्पाद बाजार में विक्रय होते थे। कर व्यवस्था नकद में होने के कारण बाजार व्यवस्था भी सुदृढ़ बनी रही। ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी ने पूर्वी भारत में बंगाल, बिहार और तटवर्ती उड़ीसा के धनी क्षेत्रों पर विजय प्राप्त की। ये क्षेत्र अच्छी कृषि आधारित होने के कारण हथकरघा तथा व्यापार में भी विकसित थे।

ब्रिटेन की एक व्यापारी कंपनी (ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी) के कर्मचारी बंगाल में नए शासक थे। उनके लक्ष्य किसी भी भारतीय शासक से बहुत अलग थे। ऐसा भी कहा जा सकता है कि वे महमूद गजनवी, मोहम्मद गौरी और नादिरशाह से भी अधिक खतरनाक थे क्योंकि ये लुटेरे तो लूट कर चले गए परंतु ब्रिटिश लुटेरे निरंतर यहां रहकर शोषण व अत्याचार कर रहे थे। प्रारंभ में कंपनी भारतीय उत्पादों को यूरोप के बाजार में बेचने के लिए सोना और चांदी भारत में आयात करती थी जिससे वह इन उत्पादों का मूल्य चुका सके। बंगाल की विजय के बाद राजस्व वसूली के द्वारा ही भारतीय उत्पाद खरीदे गए जिससे ब्रिटेन से सोना और चांदी आयात करने की आवश्यकता नहीं रही। इस प्रकार कंपनी ने राजनैतिक शक्ति का उपयोग राजस्व वसूली करने के लिए और अपने आर्थिक लाभ को बढ़ाने के लिए किया। अब कंपनी को यह सुनिश्चित करना था कि उसकी राजस्व कर वसूली न केवल प्रशासनिक और सैन्य खर्चों के लिए पर्याप्त हो बल्कि उसके यूरोप के बाजार में बेचने के लिए किए गए व्यापार के लिए भी पर्याप्त हो। इसके लिए भारतीय बाजार में कम मूल्य पर उत्पाद उपलब्ध होना आवश्यक था जिससे पश्चिम में इनकी मांग बनी रहे।

18वीं शताब्दी के अंत में ब्रिटेन में सूती कपड़ा मिल उद्योग तेजी से बढ़ा। ये भारतीय उत्पादों के साथ प्रतिस्पर्धा नहीं कर पाए इसलिए मिल मालिकों ने ब्रिटिश

ईस्ट इंडिया कंपनी के विरुद्ध विरोध प्रारंभ किया। अब कंपनी ने अन्य कृषि उत्पादों तथा ब्रिटिश उद्योगों के लिए भारतीय कच्चे माल का निर्यात प्रारंभ किया। कंपनी को भारी मात्रा में चाय आयात करनी पड़ती थी जिसके लिए चीनी लोग चांदी लेते थे क्योंकि उन्हें पश्चिमी समाज के उत्पादों में कोई रुचि नहीं थी। उनकी रुचि भारतीय हाथीदांत, कच्चे सूत तथा अफीम में थी। कंपनी ने चीन से चाय के बदले में भारतीय उत्पाद बेचने प्रारंभ की। यह व्यवस्था त्रिकोणीय व्यापार के नाम से प्रसिद्ध हुई जिसमें कलकत्ता, कैंटन और लंदन प्रमुख केंद्र थे। इस त्रिकोणीय व्यापार का धन पहले दो केंद्रों से एकत्रित करके तीसरे केंद्र में इकट्ठा किया जा रहा था।

कंपनी ने नील, कच्चा रेशम, अफीम, काली मिर्च, कपास, चाय और चीनी इत्यादि नकदी फसलों पर ध्यान दिया। इनमें से नील, कपास और कच्चे रेशम की यूरोप में मांग थी। कंपनी ने आसाम में चाय का उत्पादन इसलिए भी प्रारंभ किया ताकि उसे सदा चीन पर निर्भर ना रहना पड़े। कंपनी का उद्देश्य यूरोप में निर्यात के लिए भारत से वस्तुएं ले जाना था ताकि लंदन में कंपनी का खजाना बढ़े। व्यक्तिगत ब्रिटिश व्यापारी भी अपना धन वापस इंग्लैंड भेजते थे ताकि उनका अंतिम जीवन सुख में रहें। इस प्रकार एक तरफा निर्यात भारत को गरीब बना रहा था। साथ ही, हमें इसके बदले कोई आयात भी प्राप्त नहीं हो रहा था। नकदी फसलों को निर्यात करने से भारत की आर्थिक स्थिति अच्छी होने की बजाय कमजोर हुई। भारतीय कृषि प्राकृतिक कारणों जैसे बाढ़, सूखा इत्यादि पर अधिक निर्भर थी। नकदी फसलों के कारण बाजार विश्वव्यापी था। इसका प्रभाव वैश्विक मूल्यों के कारण भारतीय किसान पर पड़ने लगा। 1830 से 1833 के बीच नकदी फसलों से संबंधित सभी बड़े व्यापारी कंगाल हो गए। इसका कारण मूल्यों के लगातार गिरने के बावजूद उनके द्वारा विशेष रूप से नील लगातार ब्रिटेन भेजा जा रहा था, जिससे वे अपना धन भारत से बाहर भेज सकें। इससे बंगाल में मुद्रा की कमी हो गई। अंत में इसका सर्वाधिक खराब प्रभाव किसानों पर पड़ा जिनको फसल उगाने के बावजूद कोई धन प्राप्त नहीं हुआ। अतः हम कह सकते हैं कि कृषि व्यवसायीकरण से ग्रामीण अर्थव्यवस्था में असंतुलन आ गया। ब्याज पर ऋण बाजार में उपलब्ध था। नील के किसानों को अग्रिम ऋण दिया भी जाता था परंतु किसान यह जानते हुए कि एक बार ऋण लेने पर आजीवन प्याज के चक्र में फंस सकते थे, ऐसा अग्रिम ऋण नहीं लेना चाहते थे। अफीम की फसल के लिए किसानों ने ऐसा ऋण जमींदार और ब्रिटिश सरकार के भय से लिया।

कृषि के व्यवसायीकरण का मुख्य उद्देश्य भारत से ब्रिटेन को धन स्थानांतरित करना था। इसके लिए कच्चा माल कम से कम कीमत पर खरीदना आवश्यक था। कंपनी ने भारतीय किसानों के शोषण के लिए हिंसा का उपयोग किया। ग्रामीण अर्थव्यवस्था अत्यंत कमजोर हो गई। ग्रामीण परिवेश में पारिवारिक श्रम आधारित छोटे किसान इस काल की अर्थव्यवस्था का प्रमुख लक्षण था।

3.4 विऔद्योगीकरण

परंपरागत भारतीय हस्तकला उद्योगों को नष्ट करना विऔद्योगीकरण कहलाया। यह भारत में ब्रिटिश आर्थिक नियंत्रण का एक प्रमुख लक्षण था। उद्योगों द्वारा अर्जित आय और उन पर आश्रित जनसंख्या के द्वारा औद्योगिक विकास का पता चलता है। इनमें कमी औद्योगिक पतन की तरफ इंगित करती है। भारतीय इतिहासकारों जैसे आर. सी. दत्त ने अंग्रेजों द्वारा हस्तकला उद्योग नष्ट करने को ब्रिटिश शासन के अंतर्गत शोषण का एक तरीका बताया। कंपनी का प्रारंभिक व्यापार यूरोप में भारत से सूती कपड़ा आयात करना था। इसके लिए कंपनी को सोना और चांदी खर्च करना पड़ता था जिससे व्यापार संतुलन भारत के पक्ष में था। 19वीं शताब्दी में भारत का विदेशी व्यापार कृषि उत्पादों में बढ़ा तथा निर्मित उत्पादों में तेजी से घटा। इससे व्यापार संतुलन कंपनी के पक्ष में चला गया।

बंगाल के दीवानी अधिकार मिलने के बाद कर मुक्त आंतरिक व्यापार और दीवानी राजस्व से बढ़ी आय ने कंपनी के आर्थिक निवेश को संतुलित किया। कंपनी ने स्थानीय बाजार में स्वतंत्र प्रतिस्पर्धा को छोड़कर कच्चे माल के उत्पादकों को कंपनी के बताए हुए बहुत कम मूल्यों पर देने के लिए मजबूर किया। इससे कंपनी का लाभांश बढ़ता गया और भारतीय उद्योग धंधे लगातार कमजोर होते गए। इंग्लैंड में आयात प्रतिबंधों के कारण भारतीय कपड़ा उद्योग को भारी हानि उठानी पड़ी। बुनकरों और कताईकारों की आय तेजी से कम हुई और उनके पास कोई पूंजी औद्योगिक नवीनीकरण के लिए परंपरागत औद्योगिक क्षेत्र में नहीं बची।

इस काल में भारत का पारंपरिक विनिर्माण क्षेत्र निरंतर कमजोर होता जा रहा था तथा औद्योगिक क्रांति के कारण ब्रिटेन में तकनीकी और पूंजीवाद के नियमों के आधार पर उद्योग धंधों का तेजी से विकास हुआ। राजनैतिक सत्ता के कारण ब्रिटेन अपने प्रारम्भिक वर्षों में बढ़ते हुए कपड़ा उद्योग को किसी भी विदेशी प्रतिस्पर्धा से बचाने में सफल रहा। अंततः ब्रिटेन ने भारत को विनिर्माण देश से प्राथमिक कच्चा माल प्रदान करने वाला देश बना दिया।

3.5 ब्रिटिश साम्राज्य का प्रशासनिक ढांचा

कंपनी द्वारा बंगाल में प्रशासनिक ढांचा तैयार करने में एक लंबा समय लगा। 18वीं और 19वीं शताब्दियों में चल रहे बौद्धिक आंदोलनों का भी इस पर गहरा प्रभाव पड़ा। कार्नवालिस ने भारत को विकसित करने के लिए ब्रिटिश पद्धति पर आधारित एक अभिजात्य वर्ग बनाने का प्रयास किया। उसने जमींदारों के इस वर्ग को व्यापार और उत्पादन को बढ़ाने के लिए ब्रिटिश सरकार का स्वामीभक्त वर्ग माना। साथ ही प्रशासन में राजस्व और न्यायिक कार्यों को अलग अलग किया। मैकाले ने कानूनों को नियमबद्ध करने में विशेष रुचि दिखाई परंतु भारत को विकसित करने की उसकी कोई इच्छा नहीं थी।

भारतीय प्रशासन और न्यायिक व्यवस्था को प्रभावित करने वाला सबसे महत्वपूर्ण बौद्धिक वर्ग यूरोप में उपयोगितावादी था जिसमें जेम्स मिल, जेरेमी बेंथम, डेविड रिकार्डो, जॉन स्टुअर्ट मिल आदि शामिल थे। यह वर्ग ब्रिटिश व्यापारियों, उद्योग धंधों के मालिक, क्रिश्चियन मिशनरियों का सामूहिक रूप से प्रतिनिधित्व करता था। 1819 में जेम्स मिल को ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी की कार्यपालिका में शामिल किया गया। इससे भारत में उपयोगितावादी सिद्धांतों को लागू करना आसान हो गया। उनके अनुसार भारतीय समाज पिछड़ा, तानाशाह शासकों द्वारा शासित एवम् व्यक्तिगत स्वतंत्रता और अधिकारों से रहित था, इससे गरीबी में वृद्धि हुई। दासता तथा अंधविश्वास भारतीयों की विशेषता थी। उनकी अनुसार भारतीय समाज की इन कमियों को पूरा करने के लिए एक अच्छी सरकार, अच्छे कानून और कुशल प्रशासन की आवश्यकता थी। इससे व्यक्तिगत स्वतंत्रता को बल प्राप्त होता जिससे सामूहिक स्वामित्व तथा रीति रिवाजों से भारतीय निकल पाते और एक सभ्य समाज की रचना होती। साथी ही, पूंजी और श्रम का पूर्ण उपयोग व्यक्तिगत अधिकारों एवं स्वतंत्रता के साथ ही हो सकता था। न्यायिक रूप से व्यक्तिगत अधिकारों को परिभाषित करना तथा संरक्षित करना आवश्यक था। अतः कानून का राज्य स्थापित करने के लिए नियमों को वैज्ञानिक ढंग से लिखना आवश्यक था जिससे स्थानीय न्यायालयों के माध्यम से न्याय प्रत्येक व्यक्ति को उपलब्ध हो। इस प्रकार व्यक्तिगत प्रतिस्पर्धात्मक समाज की रचना की जा सकती थी।

3.5.1 न्यायिक व्यवस्था

1793 मे कॉर्नवॉलिस के आने के बाद प्रशासनिक स्तर पर महत्वपूर्ण सुधार किए गए। इनमें सबसे प्रमुख न्यायिक और राजस्व प्रशासन को अलग अलग करना था। नई व्यवस्था में कलेक्टर राजस्व वसूली के लिए उत्तरदायी था तथा मजिस्ट्रेट दीवानी और फौजदारी मामलों के लिए उत्तरदायी था। दीवानी न्यायालय में सदर दीवानी अदालत कलकत्ता में प्रादेशिक स्तर पर तथा प्रशासनिक सेवा में से मजिस्ट्रेट जिला अदालतों में होते थे। इसके अलावा रजिस्ट्रार का न्यायालय तथा उसके लिए नीचे भारतीय मुंसिफ और अमीन होते थे। फौजदारी न्यायालय में सदर निजामत अदालत कलकत्ता में प्रादेशिक स्तर पर तथा प्रशासनिक सेवा के अधिकारियों द्वारा चलाए जाने वाले सर्किट न्यायालय (कलकत्ता, ढाका, मुर्शिदाबाद, पटना) तथा स्थानीय स्तर पर भारतीय सदर अमीन होते थे।

तत्कालीन प्रचलित कानूनों में अंग्रेजों ने अधिक फेरबदल नहीं किया। सभी नियम एवं कानून लिखित रूप में उपलब्ध कराए गए। 1833 के चार्टर एक्ट द्वारा कानून निर्माण संबंधी विधायिका शक्ति गवर्नर जनरल को सौंप दी गई तथा मैकाले के नेतृत्व में एक कानून समिति का गठन किया गया जिसने भारतीय दंड विधान बनाया। इस न्यायिक व्यवस्था में कानून का राज्य तथा कानून के सम्मुख समानता

दो प्रमुख सैद्धांतिक आधार थे। व्यवहार में कंपनी के अधिकारियों, अंग्रेजों, पुलिस तथा सेना के द्वारा इन नियमों का भारतीयों के विरुद्ध उल्लंघन किया जाता था। समानता का अधिकार भारतीयों को कानून की दृष्टि में समान मानता था परंतु यूरोपीय लोगों के लिए अलग नियमों एवम् न्यायालयों की व्यवस्था थी। फौजदारी मामलों में केवल यूरोपीय जज ही उनका केस सुन सकते थे। स्टाम्प शुल्क के कारण सामान्य व्यक्ति के लिए न्याय बहुत महंगा हो गया था।

3.5.2 प्रशासनिक व्यवस्था

ब्रिटिश प्रशासन का मुख्य उद्देश्य न्याय व्यवस्था का रखरखाव तथा भारत में ब्रिटिश शासन को सदैव के लिए बनाए रखना था। यह प्रशासनिक सेवा, सेना तथा पुलिस से मिलकर बना था।

प्रशासनिक सेवा

प्रशासनिक सेवा को सेना से अलग रखते हुए कानून व्यवस्था को बनाए रखने के लिए तथा राजस्व वसूली के लिए गठित किया गया था। इसका मुख्य उद्देश्य प्रारंभ में आर्थिक था जो बाद में समाज सेवा में परिवर्तित हो गया। यह निम्न से उच्च पद के लिए एक क्रम श्रंखला थी जिन्हें ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी का कोर्ट ऑफ डायरेक्टर नामित करता था। ये प्रशासनिक सेवक घोटालों, रिश्वतखोरी और गैरकानूनी व्यक्तिगत व्यापार में लगे हुए थे। कॉर्नवालिस ने आवश्यक प्रतिबंध लगाकर इनको ठीक करने का प्रयास किया तथा इनका वेतन भी बढ़ाया।

1798 में वेलेजली ने आकर प्रशासनिक सेवा में प्रशिक्षण का आयाम जोड़ा। इसके लिए 1800 में फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना की गई जिसमें उन्हें भारतीय साहित्य, विज्ञान और भाषाओं का प्रशिक्षण दिया गया। पांच वर्ष बाद इंग्लैंड के हेलीबरी में एक ईस्ट इंडिया कॉलेज की स्थापना की गई जिसमें आने वाले समय के सभी भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकारियों का प्रशिक्षण होता था। 1833 के चार्टर एक्ट द्वारा नाम मात्र के लिए पहली बार भर्ती को प्रतिस्पर्धी बनाया गया। 1853 के चार्टर एक्ट द्वारा निदेशक मंडल द्वारा प्रशासनिक अधिकारियों को नामित किए जाने की शक्ति छीन ली गई तथा भर्ती में खुली प्रतिस्पर्धा का प्रावधान किया गया। मैकाले की अध्यक्षता वाली समिति ने हेलीबरी के प्रशिक्षण विद्यालय को 1858 में बंद कर दिया तथा प्रशासनिक सेवा आयोग का गठन किया गया जो प्रतिवर्ष इंग्लैंड में इसकी परीक्षा कराता था।

प्रशासनिक सेवा का अधिकारी जनपद में राजस्व वसूली के लिए उत्तरदायी था। इससे संबंधित सभी मामलों में वह निर्णय करता था। उसकी सहायता के लिए एक तहसीलदार होता था जो कि सामान्यतः भारतीय ही था। 1831 के सुधारों के बाद मजिस्ट्रेट और पुलिस अध्यक्ष का दायित्व भी उसे सौंप दिया गया। बड़े जनपदों में एक सहायक अधिकारी भी होता था जो कलेक्टर और तहसीलदार के बीच में

आता था। भारतीय प्रशासनिक सेवा आने वाले समय में संसार की सबसे दक्ष और शक्तिशाली प्रशासनिक सेवा थी। इसके अधिकारियों ने ब्रिटिश साम्राज्य की नीतियों को भारत में लागू करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई और ब्रिटिश साम्राज्य को लंबे समय तक भारत में बनाए रखा। 1947 के बाद यह सेवा भारतीय प्रशासनिक सेवा के रूप में आज भी महत्वपूर्ण योगदान दे रही है।

सेना तथा पुलिस

सेना में अधिकांश सिपाही भारतीय थे एक बड़ी सेना को निरंतर रखने के लिए भारतीयों को कम वेतन पर सैनिक के रूप में रखना कंपनी के लिए लाभकारी था। एक भारतीय केवल सूबेदार के उच्चतम पद तक पहुंच सकता था। ब्रिटिश साम्राज्य को बढ़ाने में सेना ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाइ। भारत की विजय पूर्ण हो जाने पर भारत को ब्रिटेन के अधीन रखना सेना का मुख्य कार्य था।

पुलिस सेवा का गठन कार्नवालिस ने किया था। इससे पहले पुलिस का कार्य जमीदारों द्वारा किया जाता था। प्रत्येक जनपद में कई थाने होते थे जिनका प्रमुख दारोगा होता था। प्रारंभ में थाने जिला जज के अन्तर्गत आते थे। बाद में जिला पुलिस अधीक्षक का पद बनाया गया।

3.6 बोध प्रश्न

1. ब्रिटिश सरकार ने 19वीं शताब्दी में न्यायिक और प्रशासनिक सुधार क्यों किये? कारण स्पष्ट कीजिये।
2. आप ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी के नियंत्रित कृषि व्यवसायीकरण से क्या समझते हैं? व्याख्या कीजिए।
3. सही अथवा गलत दर्शाइए।
   - क. 1772 से पंचवर्षीय कर व्यवस्था उच्चतम बोली लगाने वाली ठेकेदारों को दी गई।
   - ख. मुनरो ने रैयतवाड़ी बंदोबस्त को दक्षिण भारत में लगाया।
   - ग. कृषि व्यवसायीकरण से ग्रामीण अर्थव्यवस्था में असंतुलन आया।
   - घ. ब्रिटेन ने भारत को विनिर्माण देश से निर्यात करने वाला देश बनाया।

3.7 सारांश

जब कॉर्नवॉलिस ने स्थायी बंदोबस्त बंगाल में लगाया था तो उसने सोचा था की यह व्यवस्था अन्य क्षेत्रों में भी लगायी जाएगी परन्तु जल्दी ही इसकी कमियां उजागर हो गयी इसलिए अन्य स्थानों पर रैय्यतवाड़ी महालवाड़ी इत्यादि व्यवस्थाएं लगायी गयी। इसकी सबसे बड़ी कमी लम्बे समय में करों में वृद्धि न कर पाना थी

जबकि कंपनी का व्यय निरंतर बढ़ता जा रहा था। कंपनी की भू राजस्व नीतियों का मुख्य उद्देश्य अधिकतम राजस्व प्राप्ति था। न्यायिक और प्रशासनिक सुधार होने से ब्रिटिश हितों को अधिक मजबूती मिली। पूरे भारत में प्रशासनिक ढांचे में एकरूपता आयी।

3.8 शब्दावली

अधीनस्थ किराएदारी : जमींदारों द्वारा अपने अधीन भूमि को पुनः नए व्यक्तियों को अनुबंधित करना।

विऔद्योगीकरण : परंपरागत भारतीय हस्तकला उद्योगों को नष्ट करना।

त्रिकोणीय व्यापार : इंग्लैंड, भारत और चीन के मध्य होने वाला व्यापार जिसमें ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारत और चीन को लूटा। कलकत्ता, कैंटन और लंदन प्रमुख केंद्र थे।

3.9 बोध प्रश्नों के आदर्श उत्तर

1. भाग 3.5.2 को देखिये।
2. भाग 3.3 को देखिये।
3. क. सही ख. सही ग. सही घ. गलत

3.10 सन्दर्भ/उपयोगी पुस्तकें

बिपिन चन्द्र : राइज थ्रू ऑफ इकोनॉमिक नेशनालिज्म इन इण्डिया।

एन.के. सिन्हा (इडी.) : इकोनॉमिक हिस्ट्री ऑफ बंगाल, वॉल. 1, वॉल. 3।

आर.पी. दत्त : इण्डिया टूडे।

आर.सी. दत्त : इकोनॉमिक हिस्ट्री ऑफ इण्डिया. वॉल. 2।

दादा भाई नौरोजी : पूवर्टी एण्ड अन ब्रिटिश रूल इन इण्डिया।

इकाई–4

प्रारंभिक भारतीय प्रत्युत्तर–सुधार और क्रान्ति

इकाई की रुपरेखा :

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 समाज एवं धर्म सुधार आंदोलन

4.2.1 पूर्व भारत

4.2.2 पश्चिम भारत

4.2.3 उत्तर भारत

4.2.4 दक्षिण भारत

4.3 भारतीय प्रत्युत्तर : क्रान्ति

4.3.1 सन्यासी क्रान्ति 1763–1800

4.3.2 भील क्रान्ति 1818–1831

4.3.3 कोल क्रान्ति 1831–1832

4.3.4 मोपला क्रान्ति 1836–1854

4.3.5 संथाल क्रान्ति 1855–1856

4.4 बोध प्रश्न

4.5 सारांश

4.6 शब्दावली

4.7 बोध प्रश्नों के आदर्श उत्तर

4.8 सन्दर्भ/उपयोगी पुस्तकें

4.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप जान पाएंगेः

- 19वीं शताब्दी में भारतीय विचारकों के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन पर विचार।
- नए विचारों का सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक विश्वास ऊपर प्रभाव।
- आदिवासी और कृषक आंदोलनः कारण एवम् स्वरूप।

- 1857 से पहले हुए आंदोलनों में सहभागिता।

4.1 प्रस्तावना

आधुनिक भारत के इतिहास में 19वीं शताब्दी अत्यधिक महत्वपूर्ण थी। इसमें राष्ट्रीय पुनर्जागरण के लिए राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक क्षेत्रों में सुधार के बौद्धिक प्रयास किए गए। मुख्य रूप से सामाजिक और धार्मिक मामलों में विशेष सुधार की आवश्यकता पर बल दिया गया। 19वीं शताब्दी के अंत में रूढ़िवादिता के खिलाफ यह लड़ाई तेज हो गई। भारतीय बुद्धिजीवियों के विचार सामाजिक और धार्मिक सुधार के आंदोलनों की रीढ़ की हड्डी थे।

सुधार के साथ साथ ब्रिटिश सरकार द्वारा प्रशासन, न्याय व्यवस्था और अर्थव्यवस्था में किए गए परिवर्तनों के कारण आदिवासियों और किसानों ने क्रान्ति प्रारंभ कर दिए थे। 1857 का क्रान्ति एकमात्र घटना नहीं थी, इसके पीछे ब्रिटिश सरकार के शोषण के खिलाफ हुए अनेक छोटे–छोटे क्रान्ति जो छुपे हुए थे। इस इकाई में हम मुख्य कृषक और आदिवासी क्रान्तियों के कारणों एवं स्वरूपों का अध्ययन करेंगे।

4.2 समाज एवं धर्म सुधार आंदोलन

4.2.1 पूर्व भारत

राजा राममोहन रॉय

बंगाल में सामाजिक बुराइयों को दूर करने के लिए राम मोहन रॉय ने महत्वपूर्ण कदम उठाए। वह इस सुधार प्रक्रिया को हेनरी विवियन डेरोजियो, देवेंद्र नाथ टैगोर, ईश्वर चंद्र विद्यासागर, केशव चंद्र सेन तथा स्वामी विवेकानंद आदि ने आगे बढ़ाया। राम मोहन राय को आधुनिक भारत का जनक कहा जाता है। वह एक विविधतापूर्ण व्यक्तित्व थे जिनको विभिन्न भाषाएं आती थी। उन्होंने 1805 में तर्क के आधार पर विश्व के मुख्य धर्मों का अध्ययन तुहफात–उल–मुवाहिदीन में प्रकाशित कराया। उन्होंने आत्मीय सभा की स्थापना की और मूर्ति पूजा का विरोध किया। उन्होंने एकेश्वरवाद की धारणा को बल दिया। उन्होंने ब्राह्मण पुजारियों पर धार्मिक क्रियाकलापों में अंधविश्वास बढ़ाने का आरोप लगाया। उनके अनुसार ब्राह्मण धार्मिक ग्रंथों की वास्तविकता को आम जनता को नहीं बताते थे। उन्होंने संस्कृत के धार्मिक ग्रंथों का बंगाली भाषा में अनुवाद किया। 1828 में उन्होंने ब्रह्म समाज की स्थापना की जिसका मुख्य उद्देश्य हिंदू धर्म में व्याप्त बुराइयों को दूर करना था। समाज में महिलाओं की दयनीय अवस्था को देखकर वे बहुत दुखी होते थे। उन्होंने सती प्रथा के विरुद्ध आंदोलन चलाया। 1829 में जब विलियम बेंटिक ने सती प्रथा के विरुद्ध कानून बनाया तो उनके आंदोलन को सफलता मिली। उन्होंने बहु विवाह, बाल विवाह का घोर विरोध किया। उनके अनुसार महिलाओं की इस स्थिति के लिए

उनके पास संपत्ति का अधिकार ना होना था। उन्होंने महिला शिक्षा पर बहुत बल दिया। 1825 में उन्होंने कलकत्ता में वेदांत कॉलेज की स्थापना की जिसमें भारतीय तथा पाश्चात्य विद्या प्रदान की जाती थी। राम मोहन रॉय ने पाश्चात्य वैज्ञानिक शिक्षा पर बल दिया। उनके अनुसार गणित, प्राकृतिक दर्शन, रसायन विज्ञान और जीव विज्ञान महत्वपूर्ण विषय थे। उन्होंने पाश्चात्य विकास के कारणों का अध्ययन करके उन विचारों को भारतीय परिवेश में लाने का प्रयास किया। उन्होंने जमींदारी प्रथा का घोर विरोध किया। साथ ही, प्रशासनिक सेवाओं के भारतीयकरण, न्याय व्यवस्था सभी के लिए समान हो, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका की शक्तियों का बंटवारा, प्रेस की स्वतंत्रता इत्यादि पर विशेष बल दिया।

राम मोहन के सामाजिक तथा धार्मिक सुधारों का मुख्य उद्देश्य राष्ट्र निर्माण था। जाति प्रथा का उन्होंने विरोध किया। उनके अनुसार जाति प्रथा से समाज में असमानता पैदा हुई और इससे भारतीय अलग–अलग बंट गये तथा राष्ट्रीयता की भावना बलवती नहीं हो पाई। वे एक अंतरराष्ट्रीय सुधारवादी थे। 1833 में उनका देहांत हो गया।

हेनरी विवियन डेरोजियो

हिंदू कॉलेज के एक आंग्ल–भारतीय अध्यापक ने नव बंगाल आंदोलन का प्रारंभ किया। हेनरी विवियन डेरोजियो(1809–1831) स्वतंत्र चिंतक तथा तर्कवादी था। अपने विद्यार्थियों को आलोचनात्मक दृष्टिकोण अपनाने के लिए कहा। उसके अनुयाई डेरोजियन कहलाते थे, जिन्होंने सभी पुराने रीति–रिवाजों, परंपराओं और धार्मिक विश्वासों की आलोचना की। इन्होंने प्रत्येक विचार को तर्क के आधार पर देखा। 1831 में डेरोजियो के उग्र विचारों के कारण उसको हिंदू कॉलेज से निकाल दिया गया। इसके तुरंत बाद 22 वर्ष की युवावस्था में कॉलरा के कारण उसकी मृत्यु हो गई।

देवेंद्र नाथ टैगोर

राम मोहन रॉय के बाद बंगाल में सामाजिक सुधार आंदोलन धीमा पड़ गया। रवीन्द्र नाथ टैगोर के पिता देवेंद्र नाथ टैगोर ने इसमें दोबारा जान डाली। उन्होंने 1839 में तत्वबोधिनी सभा का निर्माण किया जिसका उद्देश्य राममोहन राय के विचारों को आगे बढ़ाना था। इस संस्था ने भारत में तेजी से बढ़ते ईसाई धर्म को भी रोकने का प्रयास किया। इन्होंने वेदांत मार्ग को आगे बढ़ाया। भारतीय भाषाओं और संस्कृति पर प्रमुख बल दिया गया। सभी विषयों की बंगाली पुस्तकें प्रकाशित कराई गई 1843 में तत्वबोधिनी प्रेस स्थापित की गई जिससे तत्वबोधिनी पत्रिका प्रकाशित की जाती थी। 1843 में देवेंद्र नाथ टैगोर ब्रह्म समाज में शामिल हो गए तथा उन्होंने इसका पुनर्गठन किया।

केशव चंद्र सेन

ब्रह्म समाज से संबंधित एक अन्य प्रमुख बौद्धिक विचारक केशव चंद्र सेन थे। उन्होंने महिलाओं की स्थिति में सुधार के लिए विशेष प्रयास किए। उन्होंने सार्वभौमिकता के सिद्धांत को बल दिया। राम मोहन के विचारों को आगे बढ़ाने का प्रयास भी किया। धार्मिक मामलों में उन्होंने पुजारियों की मध्यस्थता का विरोध किया। सेन के अनुयायी भी एकेश्वरवाद के समर्थक थे। उन्होंने विधवा विवाह, एक पत्नी विवाह और स्त्रियों की शिक्षा पर विशेष बल दिया।

ईश्वर चंद्र विद्यासागर

पंडित ईश्वर चंद्र विद्यासागर संस्कृत के बहुत बड़े विद्वान थे। वे 1851 में संस्कृत कॉलेज के प्राचार्य बने। उन्होंने महाविद्यालय में पश्चिमी विचारों का इतिहास पढ़ाना प्रारंभ किया। साथ ही कॉलेज के दरवाजे अन्य वर्गों के विद्यार्थियों के लिए भी खोल दिए। उन्होंने बंगाली व्याकरण पर कार्य किया तथा बंगाली गद्य की एक विशेष शैली विकसित की। महिलाओं के सुधार में उन्होंने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। विधवा विवाह के लिए आजीवन कार्य किया और अंततः इसके लिए एक कानून बनवाया। 1856 में पहला कानूनी हिंदू विधवा विवाह उनके निर्देशन में हुआ। 1855 से 1860 के बीच लगभग 25 विधवा पुनर्विवाह उन्होंने कराये। उग्र सामाजिक सुधार के इतिहास में यह बड़ा ही महत्वपूर्ण था। महिलाओं की उच्च शिक्षा पर उन्होंने विशेष बल दिया। बेथून स्कूल के सचिव के रूप में उन्होंने महिलाओं की शिक्षा पर कार्य किया। उन्होंने बाल विवाह और बहु विवाह के विरुद्ध भी आंदोलन चलाये।

स्वामी विवेकानंद

नरेंद्र नाथ दत्त ने हिंदू समाज में जागरूकता प्रदान की। अपने गुरु रामकृष्ण परमहंस से दीक्षा लेने के पश्चात वे स्वामी विवेकानंद कहलाए। रामकृष्ण परमहंस ने सभी धर्मों की सार्वभौमिकता पर बल दिया। उनके विचार भारत तथा भारत से बाहर स्वामी विवेकानंद (1863–1902) ने प्रसिद्ध किए। विवेकानंद ने जाति प्रथा, रीति–रिवाजों और अंधविश्वासों का विरोध किया। 1896 में उन्होंने सामाजिक एवं मानवीय कार्य करने के लिए रामकृष्ण मिशन की स्थापना की। इसका मुख्य उद्देश्य गरीबों को सामाजिक सहायता प्रदान करना था। विद्यालय, चिकित्सालय, अनाथ आश्रम और पुस्तकालय खोलना इनका प्रमुख कार्य था।

4.2.2 पश्चिम भारत

पश्चिमी भारत में सुधार का मुख्य केंद्र बिंदु सामाजिक विचार थे। महाराष्ट्र में बाल शास्त्री जांभेकर, दाडोबा पांडुरंग तरखड़कर, गोपाल हरी देशमुख लोकहितवादी, विष्णु भीकाजी गोखले, ज्योतिबा फुले तथा महागोविंद रानाडे ने समाज सुधार आंदोलन चलाएं। जांभेकर महाराष्ट्र में बौद्धिक आंदोलन के प्रणेता थे। दाडोबा ने

1840 में परमहंस सभा की स्थापना की। लोकहितवादी ने प्रभाकर नामक साप्ताहिक मराठी समाचार पत्र में अपने प्रसिद्ध शतपत्रों को लिखकर सामाजिक सुधार के आंदोलन को बल दिया। बंगाल में आंदोलनों का प्रमुख तत्व धार्मिक और दार्शनिक दोनों ही था परंतु महाराष्ट्र में विशेष रूप से सामाजिक समस्याएं इन आंदोलनों का प्रमुख तत्व था। ज्योतिबा फुले ने जाति प्रथा की समाप्ति के लिए महाराष्ट्र में विशेष प्रयास किए। रानाडे मुंबई हाई कोर्ट के जज थे। उन्होंने 1867 में परमहंस सभा का पुनर्गठन करके प्रार्थना समाज की स्थापना की। इसमें एकेश्वरवाद को प्रमुखता दी गई तथा जातिगत भेदभाव से मुक्ति का प्रयास किया गया। बॉम्बे के पारसियों जैसे नौरोजी फरदोंजी तथा दादा भाई नौरोजी ने 1851 में रहनुमाई मजदायसन सभा का गठन किया। इसके द्वारा उन्होंने पारसी धर्म तथा सामाजिक रिवाजों का आधुनिकीकरण किया। महिलाओं को संपत्ति तथा विवाह में समान अधिकार प्रदान किए गए।

4.2.3 उत्तर भारत

सामाजिक तथा धार्मिक सुधारों के प्रणेता उत्तर भारत में स्वामी दयानंद सरस्वती थे। उन्होंने 1875 में आर्य समाज की स्थापना की। उन्होंने मूर्ति पूजा, बहु ईश्वरवाद, ब्राह्मण आधारित धार्मिक रीति–रिवाज तथा अंधविश्वासों का घोर विरोध किया। उन्होंने अंर्तजाति विवाह और महिला शिक्षा को विशेष बल दिया। उन्होंने हिंदू समाज को पुनः वेदों की ओर लौटने का नारा दिया। आर्य समाज ने उत्तर भारत में समाज एवं धर्म सुधार में महत्वपूर्ण योगदान दिया। अस्पृश्यता तथा जाति प्रथा का इन्होंने घोर विरोध किया। आधुनिकतावादी विचारों के कारण इस आंदोलन को विशेष बल मिला। स्वामी दयानंद सरस्वती ने सत्यार्थ प्रकाश नामक ग्रंथ में चारों वेदों का सारांश लिखा।

सैयद अहमद खान

भारतीय मुसलमानों में सामाजिक सुधार काफी देर से प्रारंभ हुआ। सैयद अहमद खान ने मुसलमानों को मध्यकालीन विचारों से बाहर आने के लिए कहा। उन्होंने आधुनिक वैज्ञानिक शिक्षा पर बल दिया। साथ ही, बहु विवाह, पर्दा इत्यादि सामाजिक बुराइयों का विरोध किया। तर्कवाद और विचारों की स्वतंत्रता पर विशेष बल दिया। 1875 में आधुनिक शिक्षा के लिए उन्होंने मोहम्मडन एंग्लो ओरिएंटल कॉलेज की अलीगढ़ में स्थापना की। उनके कुछ अनुयायियों ने राष्ट्रीय आंदोलन में भाग नहीं लिया क्योंकि उनका विश्वास था कि हिंदू और मुसलमान दोनों एक साथ नहीं रह सकते।

4.2.4 दक्षिण भारत

खंडूकरी विरसालिंगम ;1848–1919द्ध ने दक्षिण भारत में सामाजिक सुधार आंदोलन चलाया। ये एक गरीब परिवार में पैदा हुए थे तथा एक स्कूल अध्यापक थे। तेलुगु भाषा में उन्होंने महत्वपूर्ण गद्य की रचना की इसीलिए उन्हें आधुनिक तेलुगू

गद्य साहित्य का जनक कहा जाता है। उन्होंने विधवा पुनर्विवाह, महिला शिक्षा और महिलाओं के संपूर्ण उत्थान के लिए आंध्र में महत्वपूर्ण योगदान दिया। मद्रास प्रेसिडेंसी में मैसूर लिंगायत संगठन एसएनडीपी योगम तथा कोंगू वेल्लाल संगम ने समाज सुधार में विशेष योगदान दिया।

4.3 भारतीय प्रत्युत्तर : क्रान्ति

कंपनी द्वारा भारतीय अर्थव्यवस्था में बड़े परिवर्तन के कारण विभिन्न क्षेत्रों में ग्रामीण अर्थव्यवस्था से जुड़े हुए क्रान्ति प्रारंभ हुए। वन संपदा पर अधिग्रहण के कारण आदिवासियों ने भी ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध अपने स्तर पर क्रान्ति किए। कंपनी द्वारा ब्रिटिश उत्पादों को भारतीय बाजार में बढ़ावा देने के कारण भारतीय हथकरघा और हस्तशिल्प उद्योग नष्ट हो गए। बहुत बड़ी मात्रा में भारत से इंग्लैंड को धन का हस्तांतरण हुआ। ब्रिटिश भू राजस्व प्रणालियों के कारण किसानों पर करों का अत्यधिक भार पड़ा। उनको उनकी भूमि से निकाल दिया गया। आदिवासी क्षेत्रों में संसाधनों के लिए कब्जा किया गया। मध्यस्थों की संख्या राजस्व वसूलने और ब्याज पर धन देने वाले महाजनों में भी बढ़ने के कारण ग्रामीण समाज का अत्यधिक शोषण हुआ। आदिवासी संसाधनों पर कब्जे के कारण उनकी कृषि तथा वन्य क्षेत्र प्रभावित हुआ।

इन सभी के परिणाम स्वरूप एक बहुत बड़ी कार्यशील जनसंख्या भारतीय उद्योग धंधों के नष्ट हो जाने के कारण कृषि में पहुंच गई। इससे भूमि पर दबाव बढ़ा तथा ब्रिटिश सरकार की कृषि नीतियों के कारण भारतीय कृषि में कोई भी सुधार नहीं हो पाया। प्रशासन ने भी किसानों की समस्याएं नहीं सुनी। कानून और न्यायालय भी ब्रिटिश सरकार तथा उसके सहयोगी जमींदार, व्यापारी और महाजनों के हितों की रक्षा कर रहे थे। इससे दुखी होकर किसानों ने अपने हाथों में शस्त्र उठा लिए और ब्रिटिश सरकार के साम्राज्यवादी शोषण के खिलाफ क्रान्ति किए। आदिवासियों ने अपने वन्य क्षेत्र की स्वतंत्रता को खतरे में देख अंग्रेज सरकार के विरुद्ध क्रान्ति किए।

4.3.1 सन्यासी क्रान्ति 1763–1800

सन्यासी और फकीर घूम–घूम कर अपने लिए भिक्षाटन करते थे। यह प्रचलन बंगाल के साथ साथ पूरे देश में था। अंग्रेजों की शोषणकारी आर्थिक नीतियों के कारण बहुत से किसानों को उनकी भूमि से निकाल दिया गया। किसानों की बढ़ती हुई समस्याओं के कारण बहुत सारे छोटे जमींदार निकाले गए। सिपाही तथा गरीब लोग इन सन्यासियों और फकीरों के साथ शामिल हो गए। बंगाल में 1770 के अकाल के कारण भी इनकी संख्या में वृद्धि हुई। इन्होंने बंगाल और बिहार में हजारों की संख्या में गुरिल्ला युद्ध नीति से धनी लोगों के अनाज भंडारण को निशाना बनाया। बाद में, उन्होंने ब्रिटिश सरकार के गोदामों, कर्मचारियों तथा खजाने को भी लूटा। कभी कभी

लूटा हुआ धन इन्होंने गरीबों में भी बांटा। इन्होंने बोगरा में अपनी स्वतंत्र सरकार बनाई। इनकी प्रमुख नेता भवानी पाठक, देवी चौधुरानी, मजनू शाह और मूसा शाह थे। ब्रिटिश सरकार ने इस क्रान्ति को दबाने के लिए अपनी पूरी शक्ति का प्रयोग किया और 18वीं शताब्दी के अंत में इसमें सफलता प्राप्त की।

4.3.2 भील क्रान्ति 1818–1831

भील खानदेश के पहाड़ी इलाकों में रहते थे। 1818 में अंग्रेजों ने खानदेश पर अधिकार कर लिया। भील इस आक्रमण से अत्यधिक सशंकित हुए। उन्होंने छोटे–छोटे समूह बनाकर मैदानी इलाकों को नष्ट करना प्रारंभ किया। अंग्रेजों ने सैन्य शक्ति के द्वारा क्रान्ति को दबाने का प्रयास किया। साथ ही, विभिन्न शांतिपूर्ण तरीकों से भी भीलों से समझौता करने का प्रयास किया परंतु ब्रिटिश सरकार के अत्यधिक प्रयासों के बाद भी भील अंग्रेजों के पक्ष में नहीं आए।

4.3.3 कोल क्रान्ति 1831–1832

कोल बिहार के सिंहभूम क्षेत्र में शताब्दियों से स्वतंत्र रूप से रहते आए थे। ब्रिटिश सरकार ने इस क्षेत्र में अंग्रेजी कानून व्यवस्था लागू करने का प्रयास किया। इससे उनका कोल नेतृत्व के साथ संघर्ष हुआ। आदिवासी क्षेत्रों में बहुत से लोग बाहर से आकर बस गए। आदिवासी नेताओं की आनुवांशिक स्वतंत्र शक्ति को इससे गहरा आघात लगा। आदिवासी भूमि को व्यापारियों, महाजन और अन्य वाह्य व्यक्तियों को प्रदान किया गया। इससे कोल क्रान्ति प्रारंभ हुआ और रांची, हजारीबाग, पलामू और मनभूम तक फैल गया। आदिवासियों ने वाह्य लोगों के घर जला दिए और उनकी संपत्ति छीन ली। इस क्रान्ति को ब्रिटिश सैन्य शक्ति ने निर्ममता से कुचल दिया।

4.3.4 मोपला क्रान्ति 1836–1854

मालाबार क्षेत्र में रहने वाले मोपला किसानों ने अंग्रेजो के खिलाफ क्रान्ति किया। ये अरब से आए हुए मुसलमानों द्वारा स्थानीय हिंदुओं का धर्म परिवर्तन करके मुसलमान बनाए गए थे। इनमें से अधिकांश खेतिहर मजदूर, छोटे व्यापारी और मछली पकड़ने वाले थे। ब्रिटिश सरकार द्वारा भू राजस्व व्यवस्था में लाए गए परिवर्तनों के कारण मोपला समूह का सामान्य जीवन अत्यधिक कठिन हो गया। ब्रिटिश सरकार ने मोपला के पारंपरिक भूमि अधिकार को ना मानते हुए उनको उनकी ही भूमि से निकाल दिया। अधिक राजस्व आकलन, गैरकानूनी कर, भूमि से निकालने तथा सरकारी अधिकारियों के अत्यंत खराब व्यवहार के कारण मोपला ब्रिटिश सरकार और जमींदारों के खिलाफ क्रान्ति में शामिल हुए। 1836 और 1854 के बीच में मालाबार क्षेत्र में 22 क्रान्ति हुए। ये क्रान्तिी सबसे अधिक निर्धन वर्ग से आते थे। सैन्य शक्ति के द्वारा ब्रिटिश सरकार ने क्रान्ति को दबाने का प्रयास किया परंतु यह क्रान्ति अनेक वर्षों तक चलता रहा।

4.3.5 संथाल क्रान्ति 1855–1856

संथाल बीरभूम, बंकोरा, मुर्शिदाबाद, पाकुर, दुमका, भागलपुर और पूर्णिया के क्षेत्रों में रहने वाले आदिवासी थे। आदिवासियों की अधिकतम जनसंख्या वाला क्षेत्र संथाल परगना कहलाता था। ये आदिवासी तरीकों से वनों में खेती करते थे। सरल जीवन जीने वाले संथाल आदिवासियों का जीवन वाह्य लोगों के आने के कारण प्रभावित हुआ। संथाल वाह्य व्यक्तियों को दीकू कहते थे। जमींदार, पुलिस राजस्व अधिकारी तथा अन्य अधिकारियों ने सरल जीवन जीने वाले संथालों का शोषण करना प्रारंभ किया। इनके द्वारा किए जाने वाले अन्याय व शोषण से दुखी होकर संथालों ने क्रान्ति कर दिया। प्रारंभ में इन्होंने जमीदारों और महाजनों के घर लूटना प्रारंभ किया। इनको हिंसात्मक तरीकों से दबाया गया जिसके कारण संथाल और भी अधिक हिंसक हो गए। सिद्धू और कानू नामक दो भाई इनका इनका नेतृत्व करने लगे। इन्हें विश्वास था कि इनके पास दैवीय शक्तियां थीं जिनसे संथाल बढ़ते शोषण को समाप्त करके अच्छे पुराने दिन लौटा सकते थे। पारंपरिक हथियारों जैसे तीर कमान और कुल्हाड़ी से युक्त संथाल सेना ने जमींदारों और सरकारी अधिकारियों को चुनौती दी। उन्होंने अपनी भूमि वापस लेने के लिए स्वयं एक स्थानीय सरकार का गठन किया। पूरे संथाल परगना में यह क्रान्ति बहुत तेजी से फैला। बहुत से अन्य निम्न जाति के लोग संथालों के समर्थन में खड़े हो गए। संथाल समाज का संघर्ष अतिक्रमण के विरुद्ध था जिसने उनकी पितृ भूमि पर कब्जा कर लिया था। यह क्रान्ति अंततः ब्रिटिश सैन्य शक्ति के अच्छे अस्त्र–शस्त्रों के कारण असफल हो गया।

अंग्रेजों द्वारा इन विद्रोहियों को मुख्यतः प्राचीन और असभ्य कहकर चित्रित किया जाता था जो ब्रिटिश सरकार द्वारा आधुनिक एवम् सभ्य बनाने के प्रयासों को विफल कर रहे थे। वास्तव में कृषक और आदिवासी क्रान्ति साम्राज्यवाद के विरुद्ध निचले स्तर पर छोटे–छोटे क्रान्ति थे। अंग्रेज अधिकारियों ने क्रान्ति की इस राजनैतिक चेतना को अपराध की श्रेणी में रखा। क्रान्ति की चेतना इनके गरिमामय भूतकाल से भी उत्पन्न हुई। अंग्रेजों के अतिक्रमण से पहले की परिस्थितियां प्राप्त करने के लिए विद्रोहियों को प्रेरित किया गया।

4.4 बोध प्रश्न

1. निम्न पर टिपण्णी लिखिएः

   क. राम मोहन रॉय ख. स्वामी विवेकानंद ग.ईश्वर चंद्र विद्यासागर घ. पश्चिम भारत में समाज सुधार

2. सही अथवा गलत दर्शाइए।

   क. विरसालिंगम ने दक्षिण भारत में सामाजिक सुधार आंदोलन चलाया।

   ख. डेरोजियो के ब्रिटिश समर्थक विचारों के कारण उसको हिंदू कॉलेज से

निकाल दिया गया।

ग. सिद्धू और कानू संथाल क्रान्ति के नेता थे।

घ. ब्रिटिश सरकार ने विद्रोहियों को अपराधियों की श्रेणी में रखा।

3. सरकार की आर्थिक नीतियों के कारण कृषक तथा आदिवासी क्रान्ति हुए। इस कथन की समीक्षा कीजिये।

4.5 सारांश

19वीं शताब्दी में सामाजिक पुनर्निर्माण के लिए सामाजिक तथा सांस्कृतिक बुराइयों को चिन्हित करना आवश्यक था। महिलाओं की अवनति, बाल विवाह, सती, बहुविवाह, विधवाओं की स्थिति, जाति प्रथा, अस्पृश्यता, मूर्ति पूजा, बहुईश्वरवाद, कर्मकांडों की प्रधानता तथा अंधविश्वासों ने भारतीय समाज को जकड़ रखा था। इन सभी बुराइयों को विभिन्न क्षेत्रों में समाज सुधार धीरे धीरे होने और अनेक कठिनाइयों के बावजूद दूर करने का प्रयास किया गया।

कृषक और आदिवासी क्रान्तिों के बारे में ऐसा कहा जाता है कि यह सभी क्षेत्रीय और असफल थे। इनका धार्मिक अथवा क्षेत्रीय होना, जहां इनको शक्ति प्रदान करता था वही इनको सीमित भी करता था। राष्ट्रीय स्तर पर इन लोगों का भले ही प्रभाव न पड़ा हो परंतु इन्होंने आगे आने वाले परिवर्तनों के लिए एक नींव की रचना की। ब्रिटिश सरकार की सफलता के पीछे उनकी सैन्य शक्ति, अच्छे अस्त्र–शस्त्र प्रमुख रूप से थे। 1857 का क्रान्ति भी प्रमुख रूप से कृषक और सैन्य असंतोष से उपजा था।

4.6 शब्दावली

एकेश्वरवाद : एक ईश्वर में विश्वास।

तर्कवाद : एक विचारधारा जो सभी धार्मिक विश्वासों और क्रियाओं को तर्कपूर्ण कारणों से समझने का प्रयास करती है।

दीकू : संथाल वाह्य व्यक्तियों को दीकू कहते थे।

4.7 बोध प्रश्नों के आदर्श उत्तर

1. भाग 4.2 को देखिये।

2. क. सही ख. गलत ग. सही घ. सही

3. भाग 4.3 को देखिये।

4.8 सन्दर्भ/उपयोगी पुस्तकें

केनेथ डब्ल्यू. जोन्स : द न्यू कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, वॉल. I, III,

सोशियो–रिलीजियस रिफॉर्म मूवमेन्ट्स इन ब्रिटिश इण्डिया।

शेखर बान्दयोपाध्याय : बंगाल : 1872–1937 कास्ट, पॉलिटिक्स एण्ड राज,

ए.आर. देसाई सोशल बैकग्राउण्ड ऑफ इण्डियन नेशनल मूवमेन्ट्स।

एल.एस.एस. ओ' माइली : इण्डिया इज द बेस्ट।

कुप्पा स्वामी : सोशल चेन्ज इन मॉर्डन इण्डिया।

इकाई–5

1857 ई. की क्रान्ति, कारण एवं स्वरूप

इकाई की रुपरेखा :

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 क्रान्ति की पृष्ठभूमि

5.2.1 सेना की समस्याएं

5.2.2 क्रान्ति का प्रारम्भ

5.3 क्रान्ति के कारण तथा प्रक्रिया

5.3.1 राज्य हड़प नीति

5.3.2 विद्रोहियों द्वारा संस्थाओं एवं संगठन का निर्माण

5.3.3 क्रान्ति का दमन

5.3.4 क्रान्ति का नेतृत्व

5.3.5 परिणाम

5.3.6 ब्रिटिश नीति में परिवर्तन

5.4 1857 के क्रान्ति की स्वरूपः सैनिक क्रान्ति अथवा राष्ट्रीय संघर्ष

5.4.1 सैनिक क्रान्ति

5.4.2 राष्ट्रीय संघर्ष

5.5 बोध प्रश्न

5.6 सारांश

5.7 शब्दावली

5.8 बोध प्रश्नों के आदर्श उत्तर

5.9 सन्दर्भ/उपयोगी पुस्तकें

5.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको 1857 के क्रान्ति की पृष्ठभूमि से अवगत

कराना है। क्रान्ति के मुख्य केंद्रों को और इसके कारणों को समझना आवश्यक है। इसकी विभिन्न व्याख्याओं के संदर्भ में विश्लेषण करना भी आवश्यक है। आप जान पाएंगेः

- सिपाहियों की कठिनाइयों के कारण।
- साम्राज्यवादी अर्थव्यवस्था के कारण भारतीयों को हुई समस्याएं।
- भू राजस्व प्रणालियों द्वारा किसानों का शोषण।
- राज्य हड़प नीति के कारण उत्पन्न समस्याएं।
- धार्मिक भावनाओं का प्रभाव।

5.1 प्रस्तावना

1857 के पूर्ववर्ती कृषक और आदिवासी क्रान्ति को हम समझ चुके हैं। 1857 के क्रान्ति में उत्तरी और मध्य भारत में भारतीय सैनिकों तथा आम जनता के मध्य संपर्क से ब्रिटिश साम्राज्य को कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इस क्रान्ति का आधार ग्रामीण अर्थव्यवस्था के नष्ट हो जाने में छुपा था।

5.2 क्रान्ति की पृष्ठभूमि

बंगाल सेना के सैनिकों की समस्याओं, साम्राज्यवादी शासन के प्रभाव तथा भू राजस्व व्यवस्था के शोषण से 1857 के क्रान्ति का उदय हुआ। जून 1857 तक क्रान्ति अवध, रोहिलखंड, बुंदेलखंड, बिहार और मध्य भारत तक फैल गया था। हम क्रान्ति के फैलने के तरीके, इसके प्रभाव और ब्रिटिश साम्राज्य के प्रतीकों को नष्ट करने के तरीकों को जानने का प्रयास करेंगे। 1858 के अंतिम महीनों में यह स्पष्ट हो गया कि ब्रिटिश इस क्रान्ति को दबाने में सफल रहे परंतु इस पूरे समय में भारतीयों ने उन्हें कड़ा संघर्ष दिया। इंग्लैंड से सभी प्रकार की सहायता तथा उच्च सैन्य शक्ति होने के कारण अंग्रेज इस क्रान्ति को दबाने में सफल रहे।

5.2.1 सेना की समस्याएं

भारतीय सैनिकों के धार्मिक विश्वास आहत होने के कारण 1857 से पहले भी सैनिक क्रान्ति विभिन्न सेना टुकड़ियों में हो चुके थे। 1806 में भारतीय पगड़ी की जगह चमड़े की पगड़ी के इस्तेमाल के कारण वेल्लोर में सैनिक क्रान्ति हुआ। 1824 में बैरकपुर के सिपाहियों ने बर्मा जाने से मना कर दिया क्योंकि वह अपने धार्मिक विश्वासों के कारण समुद्र यात्रा नहीं करना चाहते थे। 1844 में बंगाल से सिंध भेजे जाने के कारण क्रान्ति हुआ। अंततः 1857 में पुरानी बंदूकों की जगह नई एनफील्ड बंदूकें आई जिनमें कारतूस के ऊपर गाय और सुअर की चर्बी लगी थी जिसे काट कर बंदूक में भरना होता था। इससे भारतीय सैनिकों में अपने धर्म के प्रति असुरक्षा की भावना बढ़ने के कारण भारी असंतोष पैदा हुआ।

इसके अतिरिक्त एक पैदल सैनिक को मात्र 7 रुपये प्रतिमाह मिलते थे। एक घुड़सवार सैनिक को 27 रुपये प्रतिमाह मिलते थे जिसमें उसे अपने वेश, भोजन और घोड़े का भी ध्यान रखना होता था। प्रोन्नति, पेंशन और सेवा की शर्तों में भी भारतीयों से भेदभाव किया जाता था।

5.2.2 क्रान्ति का प्रारम्भ

इन परिस्थितियों में 29 मार्च 1857 को कलकत्ता के समीप बैरकपुर छावनी में मंगल पांडे नामक एक सिपाही ने अपने यूरोपियन अधिकारी को गोली मार दी। इस घटना का समाचार तेजी से भारतीय सैनिकों में फैला। विभिन्न कारणों से भारी असंतोष से अन्य स्थानों पर भी अंग्रेज अधिकारियों पर हमले किए गए। मेरठ में भारतीय सैनिकों ने यूरोपीय अधिकारियों को 10 मई 1857 को मार दिया और 11 मई को दिल्ली पहुंच कर बहादुर शाह जफर से उनके क्रान्ति का नेतृत्व करने के लिए कहा। ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी के लगभग आधे सिपाहियों ने क्रान्ति कर दिया। इनमें से अधिकांश सिपाही उत्तर पश्चिम सीमा प्रांत और अवध से थे।

5.3 क्रान्ति के कारण तथा प्रक्रिया

अंग्रेजों के साम्राज्यवादी शासन का भारतीयों पर अत्यंत नकारात्मक प्रभाव पड़ा। भारतीयों को उच्च पदों से दूर रखा जाता था। उनके साथ जातीय भेदभाव किया जाता था। यूरोपीय सामानों के सामने भारतीय हस्तशिल्पी प्रतिस्पर्धा में नहीं टिक पाए क्योंकि विभिन्न क्षेत्रीय राज्यों को भी अंग्रेजों ने जीत लिया था। ग्रामीण अर्थव्यवस्था भारी करों के कारण नष्ट हो गई थी। इससे किसान जमीदारों और महाजनों के दुष्चक्र में फंस गए थे। इस प्रकार ब्रिटिश राजस्व व्यवस्था और कानून व्यवस्था के प्रति भारतीयों में घृणा भर गई थी जिसको 1857 के क्रान्ति में बाहर निकलने का मौका मिला।

5.3.1 राज्य हड़प नीति

1818 में मराठों की पराजय के बाद सहायक संधि की सहायता से ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी भारत में सर्वोच्च शक्ति बन गई थी। डलहौजी ने राज्य हड़प नीति द्वारा सतारा (1848), नागपुर संबलपुर बरघाट (1850), झांसी (1853), उदयपुर (1858) इत्यादि राज्यों को ब्रिटिश साम्राज्य में जबरन मिला लिया। 1856 में जब वाजिद अली शाह ने अपना प्रशासन कंपनी को हस्तांतरित करने से मना कर दिया तो अवध को कुप्रशासन का आधार बनाकर ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया गया। कंपनी और यूरोपीय व्यापारियों ने अवध के आर्थिक संसाधनों का भरपूर दुरुपयोग किया। अवध को ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाने का मुख्य उद्देश्य नकदी फसलों जैसे नील और कपास के लिए संभावित बाजार खोजना था।

क्रान्ति से पहले हिंदुओं और मुसलमानों के बीच अंग्रेजों को लेकर एक गहरा

आशंका भी थी कि अंग्रेज उनका धार्मिक और सांस्कृतिक परिवर्तन ईसाई धर्म में करना चाहते थे। सती प्रथा का अंत, विधवा पुनर्विवाह और धर्म परिवर्तन करके ईसाई बने व्यक्ति के लिए पैतृक संपत्ति में हिस्सेदारी (1850) के कारण यह संदेश बढ़ता चला गया। दिल्ली में यह घोषणा की गई कि अंग्रेज सिपाहियों का धर्म परिवर्तन करा कर उन पर ईसाई धर्म जबरदस्ती थोपना चाहते थे। धार्मिक संरक्षण 1857 के क्रान्ति का प्रमुख कारण बना, जिसने भारतीयों को अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ने के लिए प्रेरित किया।

5.3.2 क्रान्तिकारियों द्वारा संस्थाओं एवं संगठन का निर्माण

दिल्ली पर कब्जे के तुरंत बाद राजस्थान के सभी शासकों को उनके समर्थन के लिए एक समर्थन पत्र भेजा गया। दिल्ली में दस व्यक्तियों का एक प्रशासनिक संगठन बनाया गया जिसमें बहुमत के आधार पर निर्णय लिए जाते थे। अवध में बिरजिस कद्र को नवाब घोषित कर, बेगम हजरत महल ने तुरंत आदेश दिए कि दिल्ली से आने वाले आदेशों का तुरंत पालन हो, वजीर सेना के द्वारा चुना जाए, सेना की अनुमति से ही सेना के अधिकारियों की नियुक्ति की जाए। सभी तालुकदारों और जमीदारों को भी भूमि अथवा राजस्व के वादों पर ब्रिटिश शासन के विरुद्ध क्रान्ति में शामिल होने के आदेश दिए गए थे।

5.3.3 क्रान्ति का दमन

मद्रास, कोल्हापुर, चित्तगोंग और पेशावर में विद्रोहियों को आसानी से दबा दिया गया। लंदन से 39000 अंग्रेज सिपाहियों को क्रान्ति का दमन करने के लिए तुरंत बुलाया गया। दिल्ली पर कब्जे के बाद अंग्रेजों ने अवध की ओर रुख किया। मार्च 1858 में अंग्रेजों ने अवध पर नियंत्रण कर लिया था। नवंबर 1858 तक ब्रिटिश सरकार क्रान्ति को पूर्णता से कुचलने में समर्थ हुई।

5.3.4 क्रान्ति का नेतृत्व

झांसी की रानी जून 1858 में अंग्रेजों से लड़ते हुए वीरगति को प्राप्त हुई। कानपुर में क्रान्ति का नेतृत्व कर रहे नानासाहेब 1859 में नेपाल चले गए। आजमगढ़ और गाजीपुर में नेतृत्व कर रहे कुंवर सिंह मई 1858 में युद्ध लड़ते हुए मारे गए। बेगम हजरत महल भी नेपाल चली गई। अवध और रूहेलखंड में नेतृत्व करने वाले मौलवी अहमदुल्ला जून 1858 में मारे गए। तांत्या टोपे काल्पी से जून 1858 में ग्वालियर पहुंचे, नर्मदा पार करके वे पकड़े गए और 1859 में उनको मृत्युदंड दिया गया। लगभग एक वर्ष तक विद्रोहियों के पास हथियारों और गोला–बारूद की कमी थी। वे संचार के साधनों में ब्रिटिश सरकार की अपेक्षा कमजोर थे।

5.3.5 परिणाम

1857 के क्रान्ति के पश्चात अंग्रेजों ने भारतीय राजाओं के आंतरिक मामलों

में हस्तक्षेप ना करने के वचन के साथ अपना नियंत्रण पुनः स्थापित किया। उत्तर–पश्चिमी सीमा प्रांत में अंग्रेजों ने भूमि का बड़े पैमाने पर अधिग्रहण और पुनर्विचार किया। अवध में तालुकदारों को सूचना प्रदान करने के बदले उन्हें उनके गांव वापस किए गए। तत्कालीन गवर्नर जनरल कैनिंग ने लिखा था कि यदि ग्वालियर, हैदराबाद, रामपुर, रेवा और पटियाला जैसे भारतीय राजाओं ने अंग्रेजों का साथ ना दिया होता तो ब्रिटिश सरकार भारत से समाप्त हो चुकी थी।

सेना में भारतीय एकता को तोड़ने के लिए अवध, बिहार और मध्य भारत से भारतीय सैनिकों को ब्रिटिश सेना में भर्ती करना कम किया गया। अब अंग्रेजों का मुख्य उद्देश्य सेना की टुकड़ियों को एक दूसरे से दूर रखना तथा जरूरत पड़ने पर एक दूसरे पर गोली चलाने के लिए भी तैयार रखना था। इसके लिए जातिगत और क्षेत्रीय भेदभाव को बढ़ाया गया जिससे भारतीय सैनिकों के बीच एकता स्थापित ना हो पाए। सिख, गोरखा और पठान टुकड़ियों को भारी मात्रा में सेना में भर्ती किया गया क्योंकि इन्होंने क्रान्ति को दबाने में अंग्रेजों की मदद की थी।

5.3.6 ब्रिटिश नीति में परिवर्तन

1857 के क्रान्ति के परिणाम स्वरूप भारत सरकार अधिनियम 1858 आया जिसमें भारत से ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी का शासन समाप्त करके सीधे इंग्लैंड के शासक के अंतर्गत भारत को रखा गया। 1858 के महारानी के घोषणा पत्र के द्वारा अंग्रेजों ने भारतीय राजाओं के प्रति यह सुनिश्चित किया कि उनके आंतरिक मामलों में अंग्रेज सरकार कोई हस्तक्षेप नहीं करेगी। कैनिंग ने राज्य हड़प नीति को समाप्त किया तथा सभी राजाओं को गोद लेने का अधिकार दिया। अंग्रेजों के प्रति स्वामीभक्त रहे ग्वालियर, रामपुर, पटियाला और जींद जैसे राजाओं को भूमि और आर्थिक पुरस्कार दिए गए। 1861 में एक विशेष पुरस्कार स्टार ऑफ इंडिया की स्थापना की गई जिसको बड़ौदा, भोपाल, ग्वालियर, पटियाला और रामपुर के शासकों को उनकी ब्रिटिश सरकार के प्रति स्वामीभक्ति के लिए दिया गया।

5.4 1857 के क्रान्ति की स्वरूप : सैनिक क्रान्ति अथवा राष्ट्रीय संघर्ष

इस क्रान्ति के स्वरूप को लेकर इतिहासकारों में मत विभिन्नता है। इसे सैनिक क्रान्ति, सामंतवादी विरोध से लेकर राष्ट्रीय संघर्ष तक बताया गया इस बारे में हम गहन विश्लेषण के पश्चात एक संतुलित विचार पर पहुंचने का प्रयास करेंगे।

5.4.1 सैनिक क्रान्ति

मुख्यतः ब्रिटिश इतिहासकारों में इस तर्क को बल प्रदान किया कि 1857 का क्रान्ति मात्र एक सैनिक क्रान्ति था। इसमें मुख्य रूप से गाय और सुअर की चर्बी

लगे कारतूस, सिपाहियों का क्रान्ति और ब्रिटिश सरकार द्वारा क्रान्ति का दमन इत्यादि विचार रखे गए। इस प्रकार अंग्रेजों ने क्रान्ति को एकपक्षीय दृष्टिकोण से देखने का प्रयास किया जिसमें आम जनता की कोई भागीदारी नहीं थी। इनके अनुसार, राजाओं और जमींदारों के स्वार्थों के कारण सैनिक क्रान्ति हुआ। इसमें साम्राज्यवादी ब्रिटिश सरकार द्वारा भारतीयों के शोषण को नकार कर ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी को बचाने का प्रयास किया गया। अतः 1857 के क्रान्ति की यह व्याख्या उचित नहीं है।

5.4.2 राष्ट्रीय संघर्ष

विनायक दामोदर सावरकर ने 1902 में भारत का प्रथम स्वाधीनता संघर्ष 1857 नामक पुस्तक लिखी जिसे अंग्रेजों ने प्रतिबंधित किया। राष्ट्रवादी विचारधारा के अनुसार 1857 के क्रान्ति का प्रमुख कारण अंग्रेजों द्वारा किया जाने वाला भारतीयों का भयंकर शोषण था। वास्तव में इस क्रान्ति के लिए निश्चित तिथि 31 मई 1857 थी जिसके लिए प्रचार संदेश माध्यमों में कमल और रोटी का प्रयोग किया गया था परंतु गाय और सुअर की चर्बी लगे कारतूसों के प्रकरण से मंगल पांडे ने ने निश्चित तिथि से पहले ही क्रान्ति प्रारम्भ कर दिया जिससे इसका प्रभाव कम हो गया।

5.5 बोध प्रश्न

1. ब्रिटिश सेना में भारतीय सैनिकों की क्या समस्याएं थीं ?
2. 1857 के क्रान्ति के स्वरूप की विवेचना कीजिये।
3. सही अथवा गलत दर्शाइए।

    क. पुरानी बंदूकों एनफील्ड की जगह नई बंदूकें आई जिनमें कारतूस के ऊपर गाय और सुअर की चर्बी लगी थी जिसे काट कर बंदूक में भरना होता था।

    ख. डलहौजी ने राज्य हड़प नीति द्वारा सतारा को 1858 में ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया।

    ग. नवंबर 1858 में अंग्रेजों ने अवध पर नियंत्रण कर लिया था।

    घ. अवध, बिहार और मध्य भारत की टुकड़ियों को भारी मात्रा में सेना में भर्ती किया गया क्योंकि इन्होंने क्रान्ति को दबाने में अंग्रेजों की मदद की थी।

5.6 सारांश

स्वतंत्रता के पश्चात 1857 के क्रान्ति के सामाजिक कारणों पर बहस होने लगी जिसमें इसे सामंतवादी विरोध के रूप में प्रस्तुत किया गया परंतु यह दृष्टिकोण

सही नहीं है। तालुकदारों और महाजनों ने भी इस क्रान्ति में पूर्णतया भाग नहीं लिया। 1857 के क्रान्ति के संदर्भ में यह बात स्पष्ट है कि यह मात्र सिपाहियों के क्रान्ति से कहीं अधिक था। इस संबंध में इतिहासकारों के विभिन्न मत हैं। क्रान्ति का क्षेत्र उत्तर भारत था जिसके दौरान भारतीय विद्रोहियों ने एक वैकल्पिक व्यवस्था बनाने की कोशिश की। ब्रिटिश सरकार को इस क्रान्ति को दबाने में लगभग एक वर्ष का समय लगा।

5.7 शब्दावली

तालुकदारः तालुक का स्वामी जिसमे अनेक भू राजस्व ग्राम होते थे।

5.8 बोध प्रश्नों के आदर्श उत्तर

1. भाग 5.2.1 को देखिये।
2. भाग 5.4 को देखिये।
3. क. गलत ख. गलत ग. गलत घ. गलत

5.9 सन्दर्भ / उपयोगी पुस्तकें

ए.आर. देसाई (इडी.) : पिसेन्ट स्ट्रगल्स इन इण्डिया।

बिपिन चन्द्र (इडी.) : इण्डियास स्ट्रगल फॉर इंडिपेंडेंस।

आर. मुखर्जी : अवध इन रिवॉल्ट 1857–1858 : ए स्टडी ऑफ पॉपुलर रेसिसटेन्स।

एस.बी. चौधरी : थियोरीस .....

वी.डी. सावरकर : इण्डियाज वार ऑफ इंडिपेंडेंस : 1857.

कार्ल मार्क्स : द फर्स्ट वार ऑफ इंण्डियन इंडिपेंडेंस।

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन
मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

MAHY-108

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम

खण्ड – 2

राष्ट्रीय जागरण तथा साम्राज्यवादी प्रतिक्रिया (1885 ई.–1919 ई.)

इकाई – 1 **50**

1857 ई. की क्रान्ति के पश्चात् संवैधानिक तथा प्रशासनिक परिवर्तन

इकाई – 2 **70**

राष्ट्रवाद का उदय एवं भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना

इकाई – 3 **86**

उदारवाद, राष्ट्रवाद का युग

इकाई – 4 **100**

क्रान्तिकारी राष्ट्रवाद का युग

इकाई – 5 **115**

साम्प्रदायिक राजनीति का विकास

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय
प्रयागराज

परामर्श समिति

प्रो0 सीमा सिंह — कुलपति, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन विश्वविद्यालय, प्रयागराज

कर्नल विनय कुमार — कुलसचिव, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन विश्वविद्यालय, प्रयागराज

पाठ्यक्रम निर्माण समिति (अध्ययन बोर्ड)

प्रो0 संतोषा कुमार आचार्य — इतिहास एवं प्रभारी निदेशक, समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

प्रो0 हेरम्ब चतुर्वेदी — आचार्य एवं पूर्व विभागाध्यक्ष, इतिहास विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

प्रो0 संजय श्रीवास्तव — आचार्य, इतिहास विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

डॉ0 सुनील कुमार — सहायक आचार्य, प्राचीन इतिहास, समाज विज्ञान विद्याशाखा उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

लेखक

प्रो0पंकज कुमार झा — आचार्य, इतिहास पं0 कमलापति त्रिपाठी, राजकीय पी.जी.कॉलेज, चन्दौली, उ0प्र0

सम्पादक

प्रो0 हेरम्ब चतुर्वेदी — आचार्य एवं पूर्व विभागाध्यक्ष, इतिहास विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज (इकाई 1–5)

पाठ्यक्रम समन्वयक

डॉ0 सुनील कुमार — सहायक आचार्य, प्राचीन इतिहास, समाज विज्ञान विद्याशाखा उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

2022 (मुद्रित)

© उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज 2021

ISBN : 978-93-94487-87-1

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस सामग्री के किसी भी अंश को उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में, मिमियोग्राफी (वक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

नोट : पाठय सामग्री में मुद्रित सामग्री के विचारों एवं आकड़ों आदि के प्रति विश्वविद्यालय, उत्तरदायी नहीं है।

इकाई–1

1857 ई0 की क्रान्ति के पश्चात् संवैधानिक तथा प्रशासनिक परिवर्तन

इकाई की रूपरेखा :

1. उद्देश्य
2. प्रस्तावना
3. पृष्ठभूमि
4. भारत सरकार को बेहतर बनाने के लिए 1858 ई0 का अधिनियम
5. 1861 ई0 का भारतीय परिषद् अधिनियम
6. 1892 ई0 का भारतीय परिषद् अधिनियम
7. 1909 ई0 का भारतीय परिषद् अधिनियम
8. 1919 ई0 का भारत सरकार अधिनियम
9. उपसंहार
10. बोध प्रश्न
11. संदर्भ ग्रन्थ

1. उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप–

- 1857 ई0 की क्रांति के पश्चात् संवैधानिक तथा प्रशासनिक परिवर्तन के विषय में जान सकेंगे;
- 1858 ई0 अधिनियम से लेकर 1919 ई0 के अधिनियम की स्पष्ट व्याख्या के बारे में समझ सकेंगे;
- उन परिस्थितियों से स्वयं को अवगत करा पायेंगे जिनके कारण संवैधानिक तथा प्रशासनिक परिवर्तन दृष्टिगोचर हुआ, तथा
- अधिनियम के दोषों तथा महत्व की चर्चा की गई है, इसकी जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

2. प्रस्तावना

1857 ई0 की क्रांति ने ब्रिटिश प्रशासनिक नीति में महत्वपूर्ण परिवर्तन किया तथा सरकार को संवैधानिक परिवर्तन तथा सुधारों के लिए बाध्य कर दिया। 1853

ई0 के एक्ट मे यह स्पष्ट कर दिया गया था कि कंपनी को भारतीय प्रदेश तथा राजस्व को क्राउन की ओर से प्रन्यास के रूप में रखना था और किसी निश्चित अवधि के लिए नहीं अपितु ''जब तक संसद न चाहे तब तक।'' 1857 ई0 के गदर ने ईस्ट इंडिया कंपनी का अंत कर दिया तथा ब्रिटिश क्राउन को वैधानिक तथा वास्तविक रूप से भारत का नियंत्रक बना दिया। इस इकाई में 1858 के अधिनियम, 1861 के अधिनियम, 1892 के अधिनियम, 1909 के सुधार अधिनियम तथा 1919 के भारत सरकार अधिनियम के अन्तर्गत भारत में प्रतिनिधि सरकार के विकास तथा उत्तरदायी सरकार की स्थापना पर विशेष टिप्पणी की गई है। कंपनी के अधीन संवैधानिक विकास (1858–1919 ई0) की तथ्यपरक समीक्षा की गई है। इस संवैधानिक विकास से केवल भारत पर नियंत्रण करने वाले ढांचे में परिवर्तन आया, भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की नीतियों पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। उनका मूल उद्देश्य ''भारत ब्रिटिश साम्राज्य का अभिन्न अंग है,'' सदैव बना रहा।

3. पृष्ठभूमि

1857 ई0 का विद्रोह यद्यपि पूर्णतया दमन हो गया फिर भी इसने भारत में अंग्रेजी साम्राज्य को मूल से हिला दिया। लार्ड क्रोमर ने कहा था, ''काश कि अंग्रेजों की युवा पीढ़ी भारतीय विद्रोह के इतिहास को पढ़े, ध्यान दे, सीखे और इसका मनन करे। इसमें बहुत से पाठ और चेतावनियाँ निहित हैं।'' भारत पर नियंत्रण की विधियां, यद्यपि परिपक्व हो चुकी थीं, उनको पुनः स्थापित किया गया। औपनिवेशिक व्यवस्था मे कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हुआ, फिर भी इसका प्रशासनिक नीतियों तथा ब्रिटिश और भारतीयों कें पारस्परिक संबंधों पर गहरा प्रभाव पड़ा। ब्रिटिश लोगों ने भारत के साथ अपने संबंधों तथा अपनी नीतियों का पुनः सिंहावलोकन किया। जिस आत्मविश्वास से वे पहले पाश्चात्य विचारधाराओं पर आधारित नीतियों को लागू कर रहे थे, वह अब डगमगा गया। अब अंग्रेजों ने भारत की पारंपरिक संस्थाओं तथा उच्च वर्गों को बनाए रखने की नीति अपनाई। यद्यपि विद्रोही साम्राज्य को समाप्त नहीं कर पाए फिर भी उन्होंने साम्राज्य के अस्तित्व के लिए खतरा अवश्य पैदा कर दिया। ईस्ट इंडिया कंपनी को समाप्त कर दिया गया तथा भारत की सरकार का कार्य सीधा ब्रिटिश सम्राट की सरकार द्वारा किया जाने लगा।

4. भारत शासन को बेहतर बनाने के लिए 1858 ई0 का अधिनियम

1857–58 ई0 की घटनाओं ने इस मांग को, कि व्यापारिक कंपनी को राजनैतिक शक्ति के रूप में जारी नहीं रखना चाहिए और भी शक्ति प्रदान की। अब इस मांग को ठुकराना संभव नहीं था और जब यह अवसर आया तो क्राउन को न केवल वास्तविक रूप अपितु वैधानिक रूप से भी भारत का नियंत्रण हाथ में लेना पड़ा। ब्रिटिश प्रधानमंत्री लार्ड पामर्स्टन ने फरवरी 1858 में भारत शासन को उत्तम

बनाने का विधेयक संसद के समक्ष रखा परन्तु इससे पूर्व कि वह कानून बने, पामर्स्टन का मंत्रिमंडल टूट गया। पामर्स्टन के पश्चात् लार्ड डरबी इंग्लैण्ड के प्रधानमंत्री बने तथा डिजरैली चांसलर ऑफ एक्सचेकर (Chancellor of Exchequer) बना। इस बार विधयेक पारित हो गया तथा 2 अगस्त, 1858 को इस पर ब्रिटिश साम्राज्ञी ने हस्ताक्षर कर दिये।

अधिनियम की विषेषताएँ या प्रमुख प्रावधान :–

1. 1858 ई0 के अधिनियम के द्वारा ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी का शासन समाप्त कर शासन की जिम्मेदारी ब्रिटिश क्राउन को सौंप दी गयी। भारत का गवर्नर जनरल अब भारत का 'वायसराय' कहा जाने लगा।

2. इस कानून के द्वारा बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल तथा कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्स को हटा दिया गया और उनको सभी अधिकार नवसृजित भारत मंत्री (Secretary of Sate of India) तथा उसकी काउंसिल (India Council) को दिये गये। शासन संबंधी सारी बातों की व्यवस्था और निर्देशन का भार भारत मंत्री को मिला। वह ब्रिटिश संसद का सदस्य होता था तथा कैबिनेट का सदस्य भी। अतः भारत मंत्री के अधिकार विस्तृत थे।

3. भारतीय परिषद (India Council) में 15 सदस्यों की रखने की व्यवस्था हुई जिसमें से 7 डायरेक्टरों द्वारा चुने जाते थे तथा 8 सम्राट द्वारा मनोनीत होते थे। भारतीय काउंसिल में आधे सदस्य वे ही होते थे जो कम से कम दस वर्ष भारत में रह चुके हों। प्रत्येक सदस्य को वार्षिक 1200 पौंड मिलता था।

4. काउंसिल की अध्यक्षता का भार भारत मंत्री का मिला। राजस्व विनियोग के अतिरिक्त उन मामलो में भारत मंत्री काउंसिल के बहुमत के निर्णय के विरुद्ध भी जा सकता था। अधिकांशतः भारत मंत्री काउंसिल के बहुमत के अनुसार ही काम करता था। भारत के स्थिती के सम्बंध में भारत मंत्री को प्रतिवर्ष ब्रिटिश संसद में विवरण देना होता था। भारत के लिए वह जो भी नियम बनाता उसकी मंजूरी ब्रिटिश संसद द्वारा आवश्यक थी। वायसरायों तथा गवर्नरों की नियुक्ती का अधिकार सम्राट को मिला लेकिन उसकी काउंसिल में सदस्य नियुक्त करने का अधिकार भारत मंत्री को मिला।

5. संश्रावित जानपद सेवा (Covenanted Civil Service) में नियुक्तियॉ खुली प्रतियोगिता द्वारा की जाने लगीं जिसके लिए राज्य सचिव ने जानपद सेवा आयुक्तों की सहायता से नियम बनाए।

6. इस ऐक्ट के अनुसार भारत राज्य सचिव एक निगम निकाय (Corporate Body) घोषित किया गया जिस पर भारत तथा इंग्लैंड में दावा किया जा सकता था अथवा जो दावा दायर कर सकता था।

दोष – यह ठीक ही कहा गया है कि क्राउन द्वारा 1858 में भारतीय प्रशासन को लेना एक औपचारिकता मात्र ही थी, यथार्थता नहीं। कनिंघम ने भी कहा है कि, ''यह परिवर्तन औपचारिक ही अधिक था।'' मुख्यतः वे नियम जिनके द्वारा भारत का प्रशासन 1858 ई0 के अधिनियम से पूर्व चलता था, ब्रिटिश संसद द्वारा ही बनाए जाते थे। गवर्नर जनरल इस बात को स्पष्ट रूप से जानता था कि यद्यपि कहने को वह कंपनी के नियंत्रक बोर्ड का सेवक है परन्तु वास्तव में वह ब्रिटिश मंत्रिमंडल और भारतीय मंत्री जो कि नियंत्रण बोर्ड का अध्यक्ष होता था, उसके प्रति उत्तरदायी है और उनके द्वारा अंग्रेजी संसद के प्रति। 1773 ई0 के रेगुलेटिंग ऐक्ट से आरंभ करके, कानूनों की एक लड़ी द्वारा (1784, 1793, 1813, 1833 और 1853) डाइरेक्टर्स की शक्ति कम होती चली गई और अब केवल नाम मात्र ही थी। महारानी की घोषणा के अनुसार, ''क्षेत्रों का सीमा विस्तार'' की नीति समाप्त कर दी गई फिर भी 1885 ई0 में बर्मा को ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया गया। निःसन्देह इस अधिनियम से कोई नीति परिवर्तन नहीं हुआ अपितु इस घोषणा में कंपनी की पुरानी नीतियों के अनुसरण का ही प्रस्ताव था।

महत्व – अनेक दोषों के होते हुए भी 1858 ई0 के अधिनियम का महत्वूर्ण स्थान है। इस अधिनियम के लागू होने के बाद 1784 ई0 के पिट्स इंडिया ऐक्ट द्वारा स्थापित वैध शासन व्यवस्था पूरी तरह खत्म हो गई, देशी राजाओं का क्राउन से प्रत्यक्ष संबंध स्थापित हो गया तथा डलहौजी की हड़पू नीति निष्प्रभावी हो गई। इसने कंपनी के हाथ से भारत का शासन ब्रिटिश सम्राट को दे दिया। कंपनी तथा बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल के बीच की पुरानी प्रतिद्वंदिता तथा ईर्ष्या लुप्त हो गयी, तथा पार्लियामेंट का एकात्मक नियंत्रण स्थापित हो गया। भारतीय अधिकारी अब राज्य सचिव के प्रति उत्तरदायी थे। भारत में एक सर्वशक्तिमान नौकरशाही का विकास हुआ। वायसराय अब क्राउन का सीधा प्रतिनिधि बन गया। यद्यपि उसका अधिकार क्षेत्र तो नहीं बढ़ा तथापि उसकी मर्यादा अवश्य बढ़ गई। अब स्थानीय राजाओं के अधिकार, गौरव तथा सम्मान के संरक्षण का विश्वास दिलाया गया। अंग्रेजी प्रजा की हत्या के दोषियों को छोड़कर शेष सभी को क्षमा कर दिया गया। जिन तालुकदारों ने बड़ी संख्या में विद्रोह में भाग लिया था, उनसे राजभक्ति के प्रण लेकर अपनी–अपनी जागीरों में पुनः स्थापित कर दिया गया। 1858 की घोषणा में विश्वास दिलाया गया कि, ''हमारी प्रजा किसी जाति अथवा धर्म की क्यों न हो, स्वतंत्र रूप से और बिना भेद–भाव के उन कार्यो के लिए जिनके लिए वह अपनी विद्या, योग्यता तथा ईमानदारी से करने के योग्य हो, हमारी सेवा तथा पदों पर नियुक्त की जाएगी।'' इस प्रतिज्ञा को पूर्ण करने के लिए 1861 में 'भारतीय जानपद सेवा अधिनियम' बनाया गया।

5. 1861 ई0 का भारतीय परिषद् अधिनियम

अधिनियम पारित होने की घटनाएँ (कारण)– ध्यान देने योग्य है कि 1858

ई0 के अधिनियम द्वारा केवल गृह सरकार में ही परिवर्तन हुए थे। भारतीय प्रशासन में कोई परिवर्तन नहीं किए गए थे। इस बात की बहुत तीव्र भावना थी कि 1857–58 ई0 के महान संकट के पश्चात् भारतीय संविधान में, विशेषकर भारतीय लोकमत से निकट का सम्पर्क स्थापित करने के संदर्भ में महान परिवर्तनों की आवश्यकता है। बंबई के गवर्नर बार्टल फ्रेयर ने कहा था, ''जब तक आपके पास कोई वायु दाब मापक यंत्र अथवा सुरक्षा कपाट के रूप में एक विचार विमर्श परिषद् नहीं होगी, मैं विश्वास करता हूँ कि आपको इसी प्रकार के अस्पष्ट तथा भयानक विस्फोटों से साक्षात्कार होना ही पड़ेगा।'' 1858 ई0 में भी यह विचार प्रकट किया गया था कि भारतीयों को विधान परिषद् में प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए।

कुछ अन्य कारण भी थे जिनसे भारतीय संविधान में परिवर्तन की आवश्यकता अनुभव हुई। 1853 ई0 के चार्टर ऐक्ट से कानून बनाने की व्यवस्था का केन्द्रीकरण कर दिया गया था जिसमें केवल केन्द्रीय विधान परिषद् को ही समस्त देश के लिए कानून बनाने का अधिकार था। परन्तु इस परिषद् के लिए देश के सभी स्थानों में क्या अवस्था तथा आवश्यकता है उसको जानना संभव नहीं था।

1853 ई0 के ऐक्ट से स्थापित व्यवस्था में बहुत सी त्रुटियॉ रह गई थीं। इसके द्वारा निर्मित परिषद् एक प्रकार की छोटी संसद तथा वाद–विवाद सभा बन गई थी। इसने एक प्रतिनिधि सभा की सभी शक्तियॉ तथा तौर–तरीके अपना लिए थे। एक स्वतंत्र विधान मंडल के रूप में कार्य करने के प्रयत्न में यह कई बार धन भी नहीं देती थी और सदैव गृह सरकार की इच्छा के अनुसार कार्य भी नहीं करती थी। इंग्लैण्ड में स्थित अधिकारियों ने इन सभी समस्याओं को हल करने की ठान ली। भारत सरकार तथा गृह सरकार में पत्र व्यवहार के पश्चात् 1861 ई0 में भारतीय परिषद् अधिनियम पारित किया गया।

अधिनियम की प्रमुख विषेषताएँ या प्रावधान–

1. 1861 ई0 के अधिनियम ने गवर्नर–जनरल की कार्यपालिका परिषद् में एक अन्य पॉचवें सदस्य को सम्मिलित किए जाने का प्रावधान रखा। इस सदस्य का कानूनी पेशे से संबंध होना अनिवार्य था, अर्थात वह कोई न्यायविद् अथवा वकील हो।

2. वायसराय की परिषद् में अधिक सुविधा से कार्य करने के लिए नियम बनाने की अनुमति दे दी गई। इस नियम द्वारा लार्ड कैनिंग ने विभागीय प्रणाली आरम्भ कर दी। उस समय तक यह माना जाता था कि भारत का शासन कार्यकारी परिषद् के सभी सदस्यों का सम्मिलित कार्य है, अतः सभी पत्र व्यवहार तथा सभी मामले सभी सदस्यों को दिखाने पड़ते थे। यह प्रणाली बहुत भद्दी तथा असुविधाजनक थी। कैनिंग ने अब भिन्न–भिन्न विभाग भिन्न–भिन्न सदस्यों को दे दिए। इस प्रकार भारत सरकार की मंत्रिमंडलीय

व्यवस्था की नींव रखी गई। इस व्यवस्था के अनुसार प्रशासन का प्रत्येक विभाग एक व्यक्ति के अधीन होता था। वह उस विभाग का प्रतिनिधि, प्रशासन के लिए उत्तरदायी और उसका संरक्षक होता था।

3. कानून बनाने के लिए वायसराय की कार्यकारी परिषद् में न्यूनतम 6 और अधिकतम 12 अतिरिक्त सदस्यों की नियुक्ति से उसका विस्तार किया गया। इन्हें वायसराय मनोनीत करेगा और वे दो वर्ष तक अपने पद पर बने रहेंगे। इनमें से न्यूनतम आधे सदस्य गैर सरकारी होंगे। यद्यपि भारतीयों के लिए कोई वैधानिक प्रावधान नहीं था परन्तु व्यवहार में कुछ गैर सरकारी सदस्य 'ऊँची श्रेणी के भारतीय' थे। इस विधान परिषद् का अर्थ केवल कानून बनाना था, इसको प्रशासन, वित्त अथवा प्रश्न इत्यादि पूछने का कोई अधिकार नहीं था।

4. इस अधिनियम के अनुसार बंबई तथा मद्रास प्रान्तों को अपने लिए कानून बनाने तथा संशोधन करने का अधिकार पुनः दे दिया गया। तथापि, इन प्रान्तीय परिषदों द्वारा बनाए गए कोई भी कानून उस समय तक वैध नहीं माने जाएँगें जब तक कि वह गर्वनर–जनरल की अनुमति न प्राप्त कर ले। परन्तु कुछ मामलों में विशेषकर टंकन संबंधी, डाकतार, समुद्री तथा सैनिक मामलों में, गवर्नर जनरल की पूर्व अनुमति प्राप्त करना आवश्यक था। ऐसी विधान परिषदें, बंगाल, उत्तर पश्चिमी प्रान्त (आधुनिक यू0पी0) तथा पंजाब में 1862, 1886 तथा 1897 ई0 में क्रमशः इसी ऐक्ट के अनुसार स्थापित की गई।

5. इस अधिनियम ने गर्वनर–जनरल को संकटकालीन अवस्था में विधान परिषद् की अनुमति के बिना ही अध्यादेश (व्तकपदंदबमे) जारी करने की अनुमति दे दी। ये अध्यादेश अधिकाधिक 6 मास तक लागू रह सकते थे।

दोष – 1861 ई0 के अधिनियम में कई दोष थे। इसका मूल उद्देश्य भारतीय जनता को विधान परिषदों में प्रतिनिधित्व प्रदान करने का नहीं था, अपितु ये परिषदें सामंत वर्गीय भारतीयों से ही कानून निर्माण के कार्य में सहयोग प्राप्त करना चाहती थीं। संवैधानिक मामलों के लेखक कूपलैंड ने लिखा है, ''ये परिषदें उन दरबारों के समान थीं जिन्हें भारतीय राजा परम्परागत रूप में अपनी प्रजा का मत जानने के लिए लगाया करते थे।'' केन्द्रीय परिषद् के भारतीय सदस्य बैठकों में प्रायः अनिच्छा से जाते थे तथा शीघ्र ही वहॉ से प्रस्थान करना चाहते थे। वस्तुतः इन्हें गठन कार्य प्रणाली अथवा अधिकार क्षेत्र किसी भी दृष्टि से विधान मंडल नहीं कहा जा सकता था। ये केवल कानून बनाने के लिए समितियॉ थी। इन्हें कोई और कार्य करने की लेशमात्र अनुमति नहीं थी। इन परिषद्ों में ऐसा प्रस्ताव जो कि किसी विधेयक के संबंध में न हो, नहीं रखा जा सकता था। परिषद् किसी शिकायत की

सुनवाई अथवा उसकी पूछताछ अथवा सूचना प्राप्त नहीं कर सकती थी, न ही किसी प्रशासनिक आदेश अथवा कार्य पर विरोध प्रकट किया जा सकता था।

इस ऐक्ट ने अंग्रेजी संसद अथवा श्वेत उपनिवेशों में स्थापित विधान मंडलों के नमूने पर भारत में कोई प्रतिनिधि सरकार स्थापित नहीं की।

महत्व – यद्यपि 1861 के कानून में कई दोष थे तथापि इसने भारतीयों को केन्द्रीय परिषद् में स्थान देकर सबसे पहले प्रतिनिधित्व प्रणाली की नींव डाली। इस कानून से शनैः शनैः सरकारी कार्य प्रणाली का गठन तथा एकीकरण हुआ। तीनों प्रेजिडेन्सियां एक समान पद्धति में आ गई। सपरिषद् गवर्नर–जनरल की सभी प्रान्तों पर और सभी लोगों के लिए कानून बनाने तथा प्रशासन स्थापित करने की शक्ति स्थापित हो गई। स्थानीय ज्ञान तथा आवश्यकताओं को स्वीकार करते हुए स्थानीय परिषदें स्थापित की गईं तथा कुछ गैर सरकारी तथा भारतीय सदस्यों को परामर्श देने के लिए इन परिषदों का सदस्य बनाया गया।

इस अधिनियिम ने विधान संबंधी शक्तियॉ बंबई तथा मद्रास सरकारों को देकर और इसी प्रकार की अन्य प्रान्तों में व्यवस्था बनाकर विधान विकेन्द्रीकरण की नींव डाली जिसके फलस्वरूप 1935 के अधिनियम द्वारा प्रान्तीय स्वशासन दे दिया गया। परन्तु यह स्मरण रहे कि 1861 ई0 के ऐक्ट द्वारा केन्द्र तथा प्रान्तों के कार्यक्षेत्र को पृथक करने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया, जैसा कि प्रायः संघीय व्यवस्था में होता है। केवल इतना था कि सपरिषद् गवर्नर–जनरल समस्त भारत के लिए और सपरिषद् गवर्नर अपने प्रान्त के लिए कानून बना सकता था। इसके अतिरिक्त कुछ मामलों में प्रान्तों को गवर्नन–जनरल की अनुमति कानून बनाने से पूर्व लेनी होती थी।

6. 1892 ई0 का भारतीय परिषद् अधिनियम

अधिनियम पारित होने की घटनाएँ (कारण)– 1861 ई0 में स्थापित विधान परिषदों में जो गैर सरकारी तत्व थे वे जनता का प्रतिनिधित्व नहीं करते थे। इनमें केवल बड़े–बड़े जमींदार, अवकाश प्राप्त अधिकारी अथवा भारतीय राजे होते थे जो कि जनता की समस्याओं को समझने का दावा नहीं कर सकते थे।

19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में भारत में राष्ट्रीयता की भावना उभरने लगी थी। 1857 के विद्रोह के पश्चात् अंग्रेजी सरकार द्वारा दमनकारी नीतियों के अनुसरण करने के कारण लोगों में उनके प्रति घृणा हो गई। लार्ड लिटन के प्रशासन से सरकार के प्रति भारतीयों में कटुता बढ़ गई। 1878 ई0 में पारित दमन के दो अधिनियमों–भारतीय भाषा समाचार पत्र अधिनियम तथा भारतीय शस्त्र अधिनियम ने जनता की भावनाओं को बहुत उत्तेजित कर दिया। भारतीय सरकार तथा अंग्रेजी सरकार के बीच कपास के कपड़े पर 5 प्रतिशत आयात कर को हटाने के लिए हुए विवाद के कारण लोगों की ऑखें खुल गई। इसके पश्चात् इलबर्ट बिल का विवाद

हो गया। इन सभी घटनाओं ने यह स्पष्ट कर दिया कि अंग्रेजों से जहॉ उनका अपने हितों का प्रश्न हो, न्याय की आशा नहीं करनी चाहिए। इन परिस्थितियों में 1885 ई0 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म हुआ। कांग्रेस का आरंभिक उद्देश्य यह था कि भारत में लोकमत को सक्रिय किया जाए ताकि जनता की कठिनाइयों की ओर ध्यान दिलाया जा सके और सुधारों के लिए संवैधानिक रूप से परन्तु जोर देकर दबाव डाला जाए।

यद्यपि गर्वनर–जनरल डफरिन ने कांग्रेस के महत्व तथा उसके प्रतिनिधि रूप के महत्व को कम करने का प्रयत्न किया परन्तु वह उससे कहीं अधिक समझदार था और उसने इस आंदालोन के महत्व को समझा तथा गुप्त रूप से परिषदों को उदार बनाने के सुझाव इंग्लैण्ड भेजे। उसने अपनी परिषद् की एक समिति की नियुक्ति भी की जो प्रान्तीय परिषदों के विस्तार के लिए, उनके पद को ऊँचा करने के लिए, उनके कार्य क्षेत्र को बढ़ाने के लिए, उनमें आंशिक प्रतिनिधित्व प्रणाली आरंभ करने के लिए और एक राजनीतिक संस्था के रूप में उनका प्रसार करने की योजना बनाए। लार्ड डफरिन ने इस समिति की रिपोर्ट को अपने निजी विचारों सहित लंदन भेज दिया जिसमें परिषद् की रचना तथा शक्तियों में परिवर्तन का सुझाव था। इनका मुख्य उद्देश्य था कि, ''ऐसे भारतीय भद्र पुरूषों को जो अपने प्रभाव तथा अपनी योग्यताओं से अपने देशवासियों में विश्वास उत्पन्न कर सकते हैं और जिनमें इतनी बुद्धि तथा क्षमता है कि वे देश के प्रशासकों की अपने सुझावों से सहायता कर सकें, उनको लोक कार्यो के प्रशासन में अधिक भाग लेने का अवसर दिया जाए।''

1890 ई0 में इंग्लैण्ड के रूढ़िवादी दल की सरकार ने भारत सचिव लार्ड क्रास (स्वतक ब्तवे) के सुझाव पर इन सुझावों के आधार पर लार्डस सभा में एक विधेयक रखा। धीमी गति से चलता हुआ यह विधेयक 1892 ई0 में ब्रिटिश संसद द्वारा पारित हुआ जिसे 1892 ई0 के भारतीय परिषद् अधिनियम की संज्ञा दी गई।

अधिनियम की प्रमुख विषेषताएँ या प्रावधान –

1. 1892 ई0 के अधिनियम में केवल भारतीय विधान परिषदों की शक्तियॉ, कार्य तथा रचना की ही बात कही गई थी। केन्द्रीय विधान मंडल के विषय में यह निश्चय हुआ कि अतिरिक्त सदस्यों की संख्या कम से कम 10 हो तथा अधिक से अधिक 16 हो, परन्तु इसमें सपरिषद् राज्य सचिव की आज्ञा लेनी आवश्यक होगी और उन्हें ही इन अतिरिक्त सदस्यों के मनोनीत करने के लिए नियम इत्यादि बनाने होंगें। इस अधिनियम में यह भी सुझाव था कि इस परिषद् में कम से कम 40 प्रतिशत लोग अशासनिक होने चाहिए। इन अशासनिक सदस्यों में कुछ चुने हुए तथा कुछ मनोनीत होते थे।
2. इन कानूनों में चुनाव का सिद्धान्त सीमित रूप से स्वीकार कर लिया गया। विधान मंडल के सदस्यों के अधिकार भी दो क्षेत्रों में बढ़ा दिए गए। भविष्य

में उन्हें वित्तीय विवरण जो कि सदन में दिया जाना था, उस पर अपने विचार प्रकट करने का अधिकार दिया गया। यद्यपि इस विषय पर कोई प्रस्ताव रखने अथवा सदन के मत विभाजन कराने का अधिकार उन्हें नहीं था। इसके अतिरिक्त, उन्हें सार्वजनिक हितों के मामलों में 6 दिन की सूचना देकर प्रश्न पूछने का भी अधिकार दिया गया।

3. इस अधिनियम द्वारा बंबई, मद्रास तथा बंगाल प्रान्तीय विधान मंडलों को न्यूनतम 8 और अधिकतम 20 अतिरिक्त सदस्यों द्वारा बढ़ा दिया गया। परन्तु उत्तर पश्चिमी प्रान्त (आधुनिक यू0पी0) में अधिकतम सीमा 15 निश्चित की गई। प्रान्तीय मंडलों में भी कार्यकारी परिषद् से प्रश्न पूछने की अनुमति दी गई।

1892 ई0 के अधिनियम के अन्तर्गत निर्वाचन पद्धति– केन्द्रीय विधान मंडल में अधिकारियों के अतिरिक्त 5 गैर सरकारी सदस्य होते थे, जिन्हें चारो प्रान्तों के प्रान्तीय विधान मंडलों के गैर सरकारी सदस्य तथा कलकत्ता के वाणिज्य मंडल के सदस्य निर्वाचित करते थे। अन्य पॉच गैर सरकारी सदस्यों को गवर्नन–जनरल मनोनीत करता था। प्रान्तीय विधान मंडलों के सदस्यों को नगरपालिकाएँ, जिला बोर्ड, विश्वविद्यालय तथा वाणिज्य मंडल निर्वाचित करते थे। परन्तु निर्वाचन की पद्धति अप्रत्यक्ष थी और इन निर्वाचित सदस्यों को 'मनोनीत' (छवउपदंजमक) की संज्ञा दी जाती थी। ये सभी इकाइयॉ एकत्रित होकर अपने चुने हुए व्यक्तियों की सिफारिशें गवर्नन–जनरल तथा गवर्नरों को भेजते थे। बहुमत द्वारा चुने हुए व्यक्ति निर्वाचित नहीं कहलाते थे अपितु यह कहा जाता था कि उनके नाम को 'मनोनीत करने के लिए सिफारिश की गई है।'

अधिनियम के दोष – 1892 ई0 के अधिनियम में बहुत सी त्रुटियॉ थी जिनके कारण राष्ट्रवादी इससे असन्तुष्ट रहे। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में इस ऐक्ट की बार–बार आलोचना की गई। आलोचकों ने टेढ़ी–मेढ़ी निर्वाचन पद्धति की बहुत आलोचना की। यह कहा गया था कि स्थानीय निकायों को चुनाव मंडल बनाना एक प्रकार का इनके द्वारा मनोनीत करना ही है और फिर यह सरकार की इच्छा पर ही है कि इनको स्वीकार करे अथवा अस्वीकार करे। विधान मंडलों की शक्तियॉ भी बहुत सीमित थीं। सदस्य अनुपूरक प्रश्न नहीं पूछ सकते थे। किसी प्रश्न का उत्तर देने से इन्कार किया जा सकता था और इसका कोई प्रतिकर नहीं था। परिषदों को बजट पर कोई विशेष अधिकार नहीं दिया गया। चुनाव के नियम बहुत असन्तोषजनक थे। कुछ वर्गों को कोई प्रतिनिधित्व नहीं मिला जबकि कुछ को अत्यधिक। दो स्थान सिंघ प्रान्त को दिया गया जबकि पूना तथा सतारा जैसे प्रान्तों को एक भी नहीं। बंबई में 2 स्थान यूरोपीय व्यापारियों को दिये गए, भारतीय व्यापारियों को एक भी नहीं।

महत्व– 1892 ई0 का अधिनियम यद्यपि कांग्रेस की मांगों से बहुत ही कम था, फिर भी पूर्व की व्यवस्था से बहुत अच्छा था। प्रतिनिधियों के चुनाव तथा विधान मंडल को कार्यकारिणी पर थोड़ा बहुत नियंत्रण देकर इस अधिनियम ने संसदीय उत्तरदायी सरकार के आरंभ करने के लिए मार्ग निर्माण किया।

1892 ई0 का अधिनियम 1861 ई0 के अधिनियम से उन्नति की ओर एक पग था। इस अधिनियम से विधान मंडलों के कार्य विस्तृत कर दिये गये। सदस्य प्रश्न पूछ सकते थे और इस प्रकार कार्यकारिणी से जो सूचना चाहें प्राप्त कर सकते थे। सदस्यों को बजट पर साधारण विचार व्यक्त करने तथा व्यय में कमी अथवा बढ़ोत्तरी करने के लिए सुझाव देने का अधिकार मिल गया। अब विधान मंडल के अधिकार क्षेत्र बढ़ गए। गोपाल कृष्ण गोखले, आशुतोष मुखर्जी, रास बिहारी घोष तथा सुरेन्द्र नाथ बनर्जी जैसे नेता विधान मंडलों में प्रवेश कर गये। केन्द्र में अतिरिक्त सदस्यों की न्यूनतम तथा अधिकतम संख्या 1861ई0 के ऐक्ट में दी गई संख्या से 4 बढ़ा दी गई। बंबई, मद्रास तथा कलकत्ता की परिषदों में अतिरिक्त सदस्यों की संख्या 20 अधिक हो गई। इनमें 9 सरकारी अधिकारी, 4 मनोनीत तथा 7 निर्वाचित लोग होते थे।

इस अधिनियम में चुनाव प्रणाली स्वीकार करना यद्यपि निहित था परन्तु स्पष्ट नहीं था, फिर भी यह एक अत्यधिक वैधानिक महत्व की बात थी। यद्यपि प्रतिनिधि सरकार बहुत दूर की बात थी, फिर भी इस दिशा में कुछ न कुछ आरंभ तो हो ही गया था।

7. 1909 ई0 का भारतीय परिषद् अधिनियम (मार्ले–मिन्टो सुधार)

अधिनियम पारित होने की घटनाऍस– यदि 1892 ई0 का अधिनियम इसलिए पारित किया गया कि कांग्रेस आंदोलन को हानि पहुॅचे तो 1909 ई0 का अधिनियम कांग्रेस में संयत्र मार्गियों तथा मुसलमानों को अपनी ओर मिलाने के लिए पारित किया गया।

1892 ई0 के सुधारों से कांग्रेस की मांगों की पूर्ति नहीं हुई। लार्ड कर्जन की साम्राज्यवादी तथा कठोर नीतियों ने आग में घी का काम किया तथा बुद्धिजीवी लोगों में विदेशी सरकार के प्रति अधिक विरोध उत्पन्न हुआ। कर्जन ने कलकत्ता नगर निगम को पूर्णरूपेण सरकारी प्रभाव के अधीन बना दिया और इसमें 1899 ई0 में एक तिहाई सदस्य कम करके यूरोपीयनों को बहुमत दे दिया। 5 वर्ष बाद उसने ऐसी ही नीति विश्वविद्यालयों में लागू की जिससे उनकी प्रभुसत्ता समाप्त हो गई। बंगाल विभाजन ने भारतीय राष्ट्रवाद को बेगवती बना दिया। समाचार पत्रों ने इन सभी घटनाओं पर उचित रूप से टीका–टिप्पणी की और अंग्रेजी प्रशासन की कटु आलोचना की। अंग्रेजी प्रशासन का विरोध करने के दृष्टिकोण से 1907 ई0 में

कांग्रेस संयतमार्गी तथा अतिमार्गी नामक दो दलों में बँट गया। इधर क्रांतिकारी आतंकवाद के बढ़ने से सरकार चिन्तित हो उठी। एक ओर कांग्रेस की लोकप्रियता तथा लोगों में स्वतंत्रता की भावना बढ़ती जा रही थी तो दूसरी ओर मुसलमान इस आंदोलन से दूर होते जा रहे थे। अंग्रेजों की ''बाँटों तथा राज्य करो'' की नीति ने मुस्लिम लीग का जन्म दिया जिससे भारत में मुस्लिम साम्प्रदायिकता का जन्म हो गया था।

लार्ड मार्ले जो ब्रिटिश प्रधानमंत्री ग्लैडस्टोन (Gladstone) का पक्का शिष्य था और उस समय उदारवादी सरकार में भारत राज्य सचिव था, के लिए उचित समय आ गया था कि वह कुछ और सुधार लाने का प्रयास करे। लार्ड मिन्टों का विचार था कि भारत में अंग्रेजी साम्राज्य का चलना इस बात पर निर्भर करेगा कि समकालीन तथा परिवर्तित स्थितियों को ठीक–ठाक समझा जाए तथा उसके अनुसार आचरण किया जाए। अन्त में मिन्टों ने भारत राज्य सचिव को पत्र लिखा, ''अब समय आ गया है कि हमें अपनी योजना कार्यान्वित करने का कार्यक्रम निश्चित करना चाहिए, न केवल कि हमारे सुधार क्या होंगे अपितु यह भी कि ये कब और इन्हें कैसे लागू करना होगा।'' मार्ले ने भारतीय जनता के विचारों को जानने के लिए इन योजनाओं को स्थानीय निकायों के पास भेजा। उन सभी आलोचनाओं के प्रकाश में नए सुधार प्रस्ताव बनाए गए और मंत्रिमंडल की स्वीकृति के पश्चात् संसद के सन्मुख रखे गये और फरवरी 1909 ई0 में ये भारतीय परिषद् अधिनियम 1909 के रूप में पारित किए गए।

अधिनियम की प्रमुख विषेषताएँ या प्रावधान–

केन्द्रीय विधानमंडल– इस अधिनियम द्वारा ''अतिरिक्त'' सदस्यों की अधिकतम संख्या 60 कर दी गई। अब विधान मंडल में 69 सदस्य थे जिनमें से 37 शासकीय सदस्य तथा 32 अशासकीय वर्ग के थे। शासकीय में से केवल 9 पदेन सदस्य थे अर्थात् गवर्नन–जनरल तथा उसके 7 कार्यकारी पार्षद और एक असाधारण सदस्य। 28 सदस्य गवर्नर–जनरल द्वारा मनोनीत किए जाते थे। 32 अशासकीय सदस्यों में से 5 गवर्नर–जनरल द्वारा मनोनीत किए जाते थे और शेष 27 निर्वाचित किए जाते थे। इन निर्वाचित सदस्यों के विषय में यह कहा गया कि भारत में प्रादेशिक अथवा क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व तो उपयुक्त नहीं है अतएव देश में वर्ग तथा विशेष हितों (Classes and interests) को प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए। अतः इन 27 में से 13 तो साधारण निर्वाचन मंडल से आने चाहिए जिनमें बंबई, बंगाल, मद्रास तथा संयुक्त प्रान्त से दो–दो (8), आसाम, बिहार, उड़ीसा, मध्य प्रान्त, पंजाब तथा बर्मा से एक–एक (5), सदस्य निर्वाचित होते थे। यह निर्वाचन मंडल इन प्रान्तीय विधान परिषदों के केवल निर्वाचित सदस्यों का ही होता था। शेष 14 मे से 12 विशेष वर्ग निर्वाचन मंडल से आते थे। इन वर्ग विशेष के प्रतिनिधियों में 6 को बंबई, मद्रास, बंगाल, बिहार, उड़ीसा, संयुक्त प्रान्त तथा मध्य प्रान्त से एक–एक भूमिपतियों के

निर्वाचन मंडल निर्वाचित करते थे। अन्य मद्रास, बंबई, संयुक्त प्रान्त और बिहार तथा उड़ीसा से एक–एक और बंगाल से दो पृथक मुस्लिम निर्वाचन क्षेत्रों से निर्वाचित होते थे। शेष दो स्थान बंबई तथा बंगाल के वाणिज्य मंडलों को दिये गये।

प्रान्तीय विधान मंडल– इस अधिनियम द्वारा प्रान्तों की विधान परिषदों की संख्या भी बढ़ा दी गई– बर्मा–16, पूर्वी बंगाल तथा आसाम–41, बंगाल–52, मद्रास, बंबई तथा संयुक्त प्रान्त–प्रत्येक के 47 और पंजाब–47। प्रान्तों में अशासकीय सदस्यों का बहुमत था। परन्तु इसका अर्थ चुने हुए सदस्यो का बहुमत नहीं था क्योंकि इनके कुछ अशासकीय सदस्यों को गवर्नर मनोनीत करता था। इस प्रकार इन प्रान्तीय विधान परिषदों में सरकारी नियंत्रण बना रहा। उदाहरण के रूप में– मद्रास के 47 सदस्यों में से 26 अशासकीय थे परन्तु इनमें से केवल 21 ही निर्वाचित होते थे और शेष 5 गवर्नर द्वारा मनोनीत होते थे। इन चुने हुए सदस्यों में भी भिन्न निकायों को प्रतिनिधित्व प्राप्त था। उदाहरण के लिए– बंबई के 21 निर्वाचित सदस्यों में से 6 सदस्य बंबई विश्वविद्यालय तथा बंबई नगर निगम द्वारा चुने जाते थे। 8 साधारण निर्वाचन मंडल द्वारा जिनमें नगर पालिकाओं तथा जिला बोर्डों के सदस्य होते थे। शेष 7 को वर्ग–विशेष के निर्वाचन मंडल चुनते थे जिनमें 4 केवल मुसलमानों द्वारा और तीन भूमिपतियों द्वारा चुने जाते थे। इस कानून द्वारा बंगाल, मद्रास तथा बंबई की कार्यकारिणी की संख्या बढ़ाकर 4 कर दी गयी। उपराज्यपालों को भी अपनी कार्यकारिणी नियुक्त करने की अनुमति दी गई।

विधान परिषदों के कार्य– केन्द्र तथा प्रान्तीय विधान परिषदों के कार्यों का विस्तार किया गया। अब सदस्यों को वाद–विवाद करने का अधिकार दिया गया और वे पूरक प्रश्न पूछ सकते थे। केन्द्रीय विधान मंडल में वजट की विवेचना के लिए विस्तार पूर्वक नियम बना दिए गये। सदस्यों को यद्यपि मत देने का अधिकार नहीं था परन्तु वे स्थानीय निकायों के लिए धन की मांग रख सकते थे। जनसाधारण के हितों से संबंधित मामलों पर सदस्य विवेचना कर सकते थे, उन पर मत दे सकते थे तथापि सरकार इन प्रस्तावों को मानने के लिए बाध्य नहीं थी, चाहे वे प्रस्ताव जनता के लिए हो अथवा वित्तीय विवरण के लिए। परन्तु कुछ ऐसे मामले भी थे जिनकी सदस्य विवेचना नहीं कर सकते थे। वे विदेशी संबंधों तथा देशीय राजाओं के संबंधों, कानूनों के सामने निर्णय के लिए आये प्रश्नों, राज्य रेलवे पर जॉच तथा ऋण पर ब्याज, इत्यादि प्रश्नों को नहीं उठा सकते थे।

मूल्यांकन– 1909 ई0 के सुधारों से जनता को केवल 'छाया मात्र' सुधार ही प्राप्त हुए, वास्तविक रूप से कुछ नहीं, इससे प्रभाव तो मिला परन्तु शक्ति नहीं। सीमित मताधिकार, अप्रत्यक्ष चुनाव, विधान परिषद् की सीमित शक्तियों ने प्रतिनिधि सरकार को खिचड़ी सा बना दिया। वास्तविक शक्ति सरकार के पास ही रही और परिषदों को आलोचना के अधिकार के अतिरिक्त कुछ नहीं मिला। इससे शासन का उत्तरदायित्व एक अन्य वर्ग के लोग पर आया, जबकि शक्ति एक अन्य वर्ग पर लाद

दी गई।

इन सुधारों से भारतीय राजनीति में समस्याएँ उत्पन्न हो गई। एक ऐसी समस्या मुसलामानों के लिए पृथक मताधिकार तथा निर्वाचन क्षेत्रों की थी। पंडित नेहरू ने कहा– ''इनसे उनके चारो ओर एक राजनीतिक प्रतिरोध बन गए जिन्होंने उन्हें शेष भारत से अलग कर दिया जिससे शताब्दियों से आरंभ हुए एकत्व तथा मिलने की ओर किए गए सभी प्रयत्नों को उलट दिया गया।'' के.एम. मुंशी के अनुसार– ''इस कानून ने उभरते हुए प्रजातंत्र को जान से मार डाला।'' लोग देश में उत्तरदायी सरकार की स्थापना की मांग कर रहे थे परन्तु मिला क्या? केवल 'हितैषी निरंकुशवाद'।'' संसदीय प्रणाली तो दे दी गई परन्तु उत्तरदायित्व नहीं दिया गया। इस अधिनियम के अन्तर्गत जो चुनाव पद्धति अपनाई गई वह इतनी अस्पष्ट थी कि जन प्रतिनिधित्व की प्रणाली एक प्रकार की बहुत सी छलनियों में से छानने की क्रिया बन गई। प्रथम बार मुसलमानों के लिए पृथक निर्वाचन की व्यवस्था कर सरकार ने हिन्दू–मुस्लिम एकता पर चोट करने का प्रयास किया। स्वयं लार्ड मार्ले ने मिन्टो को पत्र लिखा था, ''हम नाग के दांत बो रहे हैं और इसका फल भीषण होगा।'' संक्षेप में, 1909 ई0 के सुधारों से भारतीय राजनीतिक प्रश्न का न कोई हल हो सकता था तथा न ही वह इससे निकला।

8. 1919 ई0 का भारत सरकार अधिनियम; (मॉण्टेग्यु–चेम्सफोर्ड सुधार)

अधिनियम के पारित होने की परिस्थितियॉ– 1909 ई0 के सुधार राष्ट्रवादियों को संतुष्ट नहीं कर सका अपितु इससे असंतोष और बढ़ता गया। इधर कुछ आतंरिक और वाह्य कारणों से मुसलमानों में भी असंतोष बढ़ा। 1911 ई0 में बंगाल के विभाजन के रद्द होने पर भी मुसलमान अप्रसन्न हो गए तथा विदेश में इटली और तुर्की युद्ध (1911–12ई0) में अंग्रेजों के रूख से भी मुसलमान अप्रसन्न थे। इसी प्रकार बलकान युद्धों (1912–13ई0) से भी वे समझते थे कि यह सब ईसाई शक्तियों का तुर्की जो 'इस्लाम की तलवार है' के विरूद्ध षडयंत्र है। इस प्रकार मुसलमानों तथा अंग्रेजों के विरूद्ध वैमनस्य से हिन्दू तथा मुसलमान एक दूसरे के समीप आ गए। कांग्रेस–लीग सौहार्द का फल 1916 ई0 का 'लखनऊ समझौता' था। इधर अतिवादी जो मॉर्ले के शब्दों में अंग्रेजों को भारत से बाहर निकालना चाहते थे, भारत तथा विदेश में अपना कार्यक्षेत्र बढ़ाते रहे। पंजाब में 'गदर दल' और बंगाल में कामा गाटा मारू काण्ड, दिल्ली में हार्डिंग पर बम फेंकना, इत्यादि इनके कार्यो के कुछ उदाहरण थे। मार्ले मिन्टो सुधारों के प्रति भारत में इतना असंतोष था कि सरकार को इसे दबाने के लिए दमन नीति अपनानी पड़ी। 1910 ई0 का भारत समाचार अधिनियम, 1911 ई0 का विद्रोही सभा ऐक्ट तथा 1913 ई0 का फौजदारी कानून (सुधार) अधिनियम सब इसी दिशा में प्रयत्न थे।

अगस्त, 1914 ई0 में प्रथम महायुद्ध के प्रारंभ होते ही भातर को भी युद्ध में शामिल घोषित कर दिया गया। भारत ने सैनिक, बारूद तथा सामान ही नहीं दिया अपितु 10 करोड़ पाउण्ड के युद्ध का भार भी अपने उपर ले दिया। ज्यों–ज्यों युद्ध चलता गया, आत्म निर्णय का सिद्धान्त उपट कर सामने आया। भारतीय सोच रहे थे कि यदि युद्ध प्रजातंत्र की रक्षा के लिए है तो भारत कम से कम स्वशासन के मार्ग पर तो चलेगा ही; यदि आत्म निर्णय का सिद्धान्त अरबों तथा तुर्को पर लागू हो सकता है तो भारत पर क्यों नही। 1917 ई0 में मित्र राष्ट्रों की लगातार हार हो रही थी, दूसरी ओर भारत में गृह शासन आंदोलन ने जोर पकड़ लिया। अतः ब्रिटिश सरकार ने भारतीय समस्या की ओर गंभीरतापूर्वक ध्यान दिया। मेसोपोटामिया की घटना के कारण चेम्बरलेन ने त्याग पत्र दे दिया तथा उसके स्थान पर मॉण्टेग्यू भारत सचिव बना। उसने 20 अगस्त, 1917 ई0 में कामन्स सभा में अपनी प्रसिद्ध घोषणा की जिसे 'अगस्त घोषणा' कहते हैं। इस घोषणा में कहा गया– ''सम्राट सरकार की नीति, जिससे भारत सरकार पूर्णतः सहमत है, यह है कि भारतीय शासन के प्रत्येक विभाग में भारतीयों का सम्पर्क उत्तरोत्तर बढ़े और उत्तरदायी शासन प्रणाली का धीरे–धीरे विकास हो जिससे अधिकाधिक प्रगति करते हुए स्वशासन प्रणाली भारत में स्थापित हो और ब्रिटिश साम्राज्य के अंग के रूप में रहे।''

भारत सचिव स्वयं नवम्बर, 1917 में भारत आए तथा लार्ड चेम्सफोर्ड, कुछ प्रतिष्ठित असैनिक अधिकारियों तथा प्रमुख भारतीय नेताओं से बातचीत की। एक समिति गठित की गई जिसमें सर विलियम ड्यूक, भूपेन्द्रनाथ वसु तथा अंग्रेजी संसद के सदस्य चार्ल्स राबर्ट सम्मिलित थे। इन लोगों ने वायसराय चेम्सफोर्ड के साथ मिलकर मॉण्टेग्यू महोदय को सुधारों का एक मसविदा तैयार करने में सहायता दी। यह योजना जुलाई, 1918 ई0 में प्रकाशित की गई और इसको आधार मानकर 1919 ई0 का भारत सरकार अधिनियम बनाया गया।

अधिनियम के प्रस्तावना – इसकी प्रस्तावन 'अगस्त घोषणा' से प्रेरित थे। इसके अनुसार–

1. भारत को अंग्रेजी साम्राज्य का अंग रहना था,
2. भारत में उत्तरदायी सरकार की स्थापना क्रमशः होनी थी,
3. जिसके लिए भारतीयों का प्रशासन के विभिन्न भागों में साहचर्य बढ़ना चाहिए और धीरे–धीरे स्वायत्त शासन आना चाहिए,
4. प्रान्तों में स्वायत्त शासन के बढ़ने के साथ–साथ ही यह आवश्यक है कि प्रान्तों को भारत सरकार के नियंत्रण से जहॉ तक संभव हो अधिकाधिक मुक्त किया जाए।

प्रमुख विषेषताएँ या प्रावधान–

(i) सरकार में परिवर्तन – 1793 ई0 से भारत राज्य सचिव को भारतीय राजस्व से वेतन मिलता था। वह अब अंग्रेजी राजस्व से मिलना तय हुआ। उसके कुछ कार्य उससे लेकर एक नए पदाधिकारी भारतीय उच्च आयुक्त जिसको भारतीय राजस्व से वेतन मिलना था, को दे दिए गये। यह उच्च आयुक्त सपरिषद् गवर्नर जनरल का कार्यकर्ता (।हमदज) बन गया। उसे अब संग्रहालय विभाग तथा भारतीय विद्यार्थी विभाग का कार्यवाहक बना दिया गया। प्रान्तों में हस्तान्तरित विषयों पर भारत राज्य सचिव का नियंत्रण कम हो गया। यद्यपि केन्द्र पर उसका नियंत्रण बना रहा।

(ii) भारत सरकार के कार्यकारिणी में परिवर्तन – यद्यपि केन्द्र में उत्तरदायी सरकार लाने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया परन्तु भारतीयों को अधिक प्रभावशाली भूमिका दी गई। गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी में 8 सदस्यों में से 3 भारतीय नियुक्त किए गए तथा उन्हें विधि, शिक्षा, श्रम, स्वास्थ्य तथा उद्योग विभाग सौंप दिए गए।

इस नये सुधार के अनुसार विषयों को केन्द्र तथा प्रान्तों में बॉट दिया गया। केन्द्रीय सूची में सम्मिलित विषयों पर सपरिषद् गवर्नर–जनरल का अधिकार था जैसे–विदेशी मामले, रक्षा, राजनैतिक संबंध, डाक तथा तार, सार्वजनिक ऋण, संचार, दीवानी तथा फौजदारी कानून, आदि। प्रान्तीय महत्व के विषय के अन्तर्गत स्वास्थ्य, स्थानीय स्वशासन, शिक्षा, चिकित्सा, प्रशासन, भूमिकर प्रशासन, जल संभरण, अकाल सहायता, कृषि, इत्यादि शामिल किए गए। जो विषय स्पष्ट हस्तान्तरित नहीं किए गए वे सभी केन्द्रीय सूची के अंग माने गए।

(iii) विधान संबंधी परिवर्तन – इस ऐक्ट के अनुसार केन्द्र में द्विसदनीय व्यवस्था स्थापित हो गई। एक सदन राज्य परिषद् (Council of State) और दूसरा केन्द्रीय विधान सभा (Central Legislative Assembly) था।

राज्य परिषद् जो उपरी सदन था, में 60 सदस्य होते थे जिनमें से 26 गवर्नर जनरल द्वारा मनोनीत होते थे तथा 34 निर्वाचित होते थे। 26 मनोनीतों में 19 पदाधिकारी तथा 7 अशासनिक सदस्य होते थे। 34 निर्वाचितों में से 20 साधारण चुनाव क्षेत्रों से चुने जाते थे, 10 मुसलमानों द्वारा, 3 यूरोपीयों द्वारा और एक सिखों द्वारा चुने जाते थे। इस राज्य परिषद् का प्रतिवर्ष आंशिक रूप से नवीकरण होता था यद्यपि वे सदस्य 5 वर्ष के लिए बनते थे। इसका प्रधान वायसराय द्वारा नियुक्त होता था।

मताधिकार बहुत सीमित था। केवल वही लोग जिनकी आय 10,000 रू0 वार्षिक थी अथवा जो न्यूनतम 750 रू0 वार्षिक भूमि कर के रूप में देते थे, मत का अधिकार प्राप्त कर सकते थे। दूसरे, एक प्रत्याशी को किसी

विधानमंडल का अनुभव होना चाहिए था अथवा वह किसी विश्वविद्यालय की सीनेट का सदस्य होना चाहिए था। 1920 में भारत की 24 करोड़ जनसंख्या में से केवल 17,364 व्यक्ति ही मताधिकार प्राप्त कर सके।

निम्न सदन को विधान सभा कहते थे। इसमें 145 सदस्य थे जिनमें 104 निर्वाचित तथा 41 मनोनीत होते थे। मनोनीतों में 26 शासनिक तथा 15 अशासनिक सदस्य थे। 104 निर्वाचितों में 52 साधारण निर्वाचन क्षेत्रों से, 32 साम्प्रदायिक क्षेत्रों से (30 मुसलमान तथा 2 सिख) और 20 विशेष निर्वाचन क्षेत्रों से (7 भूमिपतियों द्वारा, 9 युरोपीयों द्वारा, 4 भारतीय व्यापार समुदायों द्वारा) निर्वाचित किए जाते थे।

सभा का कार्यकाल 3 वर्ष था परन्तु गवर्नर जनरल की इच्छा पर इसे बढ़ाया भी जा सकता था। प्रान्तों में स्थानों का बंटवारा जनसंख्या पर नहीं अपितु उनके महत्व पर था। उदाहरणस्वरूप– पंजाब (सैनिक महत्व के कारण) तथा बिहार और उड़ीसा को 12–12 स्थान मिले यद्यपि पंजाब की जनसंख्या बिहार तथा उड़ीसा से 2/3 थी।

(iv) केन्द्रीय विधान मंडल की शक्तियाँ – द्विसदनीय केन्द्रीय विधान मंडल को पर्याप्त शक्तियॉ दी गई। यह समस्त भारत के लिए, भारतीय प्रजा तथा सरकारी अधिकारियों के लिए भी चाहे वे भारत में हों अथवा विदेश में सभी के लिए कानून बना सकता था। यह किसी भी विद्यमान कानून को बदल अथवा रद्द कर सकता था। सदस्यों को प्रस्ताव अथवा स्थगन प्रस्ताव रखने, प्रश्न तथा पूरक प्रश्न पूछने, अल्पकालिक प्रश्न पूछने तथा बोलने का अधिकार था। निम्न विषयों पर विधेयक रखने से पूर्व गवर्नर–जनरल की अनुमति प्राप्त करनी आवश्यक थी–

1. विद्यमान कानून को अथवा गर्वनर जनरल के अध्यादेश को रद्द करना अथवा उसमें संशोधन करना।
2. विदेशी तथा देशी रियासतों से संबंध,
3. स्थल, नौ तथा वायु सेना का अनुशासन बनाए रखना,
4. सार्वजनिक ऋण तथा कर, तथा
5. जनता के धर्म तथा धार्मिक रीति–रिवाज।

यदि गवर्नर जनरल के आदेश पर विधान मंडल किसी विधेयक को पारित नहीं करता तो वायसराय क्राउन की अनुमति लेकर उसे पारित कर सकता था। वह अध्यादेश जारी कर सकता था जो 6 माह तक लागू रह सकता था।

(v) प्रान्तों में द्वेध शसन (Dyarchy in Provinces) – कार्यकारिणी पक्ष में परिवर्तन– 1919 ई0 के ऐक्ट में सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन प्रान्तीय प्रशासन में आया जिससे प्रान्तों में द्वैध प्रशासनिक प्रणाली आरंभ की गई। इससे प्रान्तीय विषयों को दो भागों में बॉट दिया गया– (1) आरक्षित विषय तथा (2) हस्तान्तरित विषय। आरक्षित विषय थे– वित्त, भूमिकर, अकाल सहायता, न्याय, पुलिस, पेंशन, आपराधिक जातियॉ, छापाखाने, समाचार–पत्र, सिंचाई, खानें, कारखाने, बिजली, गैस, व्यायलर, श्रमिक कल्याण, मोटरगाड़ियॉ, छोटी बन्दरगाहें और सार्वजनिक सेवाऍ, आदि। हस्तान्तरित सूची में सम्मिलित विषय थे– शिक्षा, पुस्तकालय, संग्रहालय, स्थानीय स्वायत्त शासन, चिकित्सा, सार्वजनिक स्वास्थ्य तथा स्वच्छता, कृषि, सहकारी समितियॉ, पशु चिकित्सा, मत्स्य पालन, आबकारी, उद्योग, तौल–माप, धार्मिक तथा अग्रहार दान, इत्यादि, जिन पर मंत्री लोग गवर्नर को परामर्श देते थे। आरक्षित विषयों का प्रशासन गवर्नर अपने उन पार्षदों की सहायता से करता था जिन्हें वह मनोनीत करता था और वे विधान मंडल के प्रति उत्तरदायी नहीं थे। हस्तान्तरित विषयों का प्रशासन गवर्नर उन मंत्रियों की सहायता से करता था जिन्हें वह निर्वाचित सदस्यों में से नियुक्त करता था। वे लोग सदन के प्रति उत्तरदायी थे, परन्तु वे गवर्नर की इच्छा पर ही पदों पर बने रह सकते थे। सपरिषद् राज्य सचिव तथा सपरिषद् गवर्नर जनरल को उन विषयों में हस्तक्षेप करने का अधिकार बहुत सीमित था। परन्तु आरक्षित विषयों में यह अधिकार पूर्णरूपेण बना रहा।

विधान संबंधी परिवर्तन– प्रान्तीय विधान परिषदों को अब विधान परिषदों की संज्ञा दी गई। इनका अधिकार क्षेत्र बढ़ा दिया गया जो सभी प्रान्तों में भिन्न–भिन्न था। इन प्रान्तीय परिषदों में कम से कम 70 प्रतिशत सदस्य निर्वाचित होते थे। 20 प्रतिशत से अधिक सदस्य शासकीय नहीं थे, शेष मनोनीत होते थे। प्रान्तों में सदस्यों की संख्या इस प्रकार थी–

क्रमांक	प्रान्त	निर्वाचित सदस्य	शासनिक	अशासनिक मनोनीत	कुल संख्या
1.	मद्रास	98	11	23	132
2.	बंबई	86	19	09	114
3.	बंगाल	114	16	10	140
4.	संयुक्त प्रान्त	100	17	06	123
		71	15	08	94
5.	पंजाब	76	15	12	103
	बिहार				

6.	तथा उड़ीसा	55	10	08	73
7.	मध्य प्रान्त	39	07	07	53
8.	आसाम	39	07	07	53
9.	उ0प्र0सीमा प्रान्त				

प्रान्तीय विधान परिषदों के चुनाव की विधि सीधी थी। प्राथमिक मतदाता सदस्यों को चुनते थे परन्तु मतदाताओं के लिए अधिक संपति की योग्यताएँ, साम्प्रदायिक तथा वर्गीय चुनाव मंडलों तथा कुछ सम्प्रदायों को विशेष महत्व देना इन चुनावों की विशेषता थी। सदस्यों को बोलने, प्रस्ताव प्रस्तुत करने, प्रश्न तथा पूरक प्रश्न पूछने का अधिकार था।

यह द्वैध शासन प्रणाली 1 अप्रैल 1921 को आरंभ की गई तथा 1 अप्रैल 1937 तक चलती रही। यद्यपि बंगाल में 1924 से 1927 ई0 तक और मध्य प्रान्त में 1924 से 1926 ई0 तक यह कार्य नहीं कर सकी।

समीक्षा – 1919 ई0 के ऐक्ट से केन्द्र में उत्तरदायी सरकार नहीं अपितु अनुक्रियात्मक सरकार बन गई। प्रशासन को दो स्वतंत्र भागों में बांटना, राजनीति के सिद्धान्तों तथा व्यवहार विरूद्ध था। विषयों का आरक्षित तथा हस्तान्तरित होना भी अव्यवहारिक था क्योंकि मंत्री अथवा कार्यकारी पार्षद् एक दूसरे से स्वतंत्र रहकर कार्य नहीं कर सकते थे। कई बार तो यह भी स्पष्ट नहीं था कि कौन सा विषय आरक्षित तथा कौन सा हस्तान्तरित है। सी0वाई0 चिन्तामणि जो संयुक्त प्रान्त के मंत्री थे, ने इस बात का उल्लेख किया है। 1921 ई0 में घृत क्षेत्र उपखण्डन के विषय में जॉच आरंभ की गई। जॉच कृषि विभाग (हस्तान्तरित) ने की। एक वर्ष बाद पता चला कि इसे भूमिकर विभाग (आरक्षित) को निपटाना चाहिए था। इसी प्रकार मंत्री की स्थिति भी बहुत गंभीर थी। उसे दो स्वामियों को प्रसन्न करना होता था– पहला गवर्नर जो उसे नियुक्त करता था तथा जिसकी इच्छा पर वह मंत्री बना रहता था और दूसरा विधान परिषद् जो उसे अपना प्रतिनिधि समझती थी तथा जिसकी इच्छा से ही प्रायः वह मंत्री बना रह सकता था।

वस्तुतः गवर्नरों ने स्वयं ही संयुक्त उत्तरदायित्व की भावना को पनपने नहीं दिया। कई बार मंत्री लोग आपस में एक दूसरे की आलोचना करते। मंत्री लोगों का अपने विभाग पर ही पूर्ण नियंत्रण नहीं होता था। विभागीय सचिव जो नौकरशाही से होता था, प्रायः उसी का सुझाव गर्वनर को मान्य होता था। अखिल भारतीय सेवाओं का वेतन, निलम्वन अथवा पदच्युति भारत सचिव के हाथों में था। वाह्य रुप से देश निर्माणकारी विभाग मंत्रियों को दिए गए थे परन्तु उसके लिए धन नहीं होता था। अतएव मंत्रियों को वित्त सदस्यों के तलवे चाटने पड़ते थे।

संक्षेप में, द्वैध शासन भद्दा, भ्रममय तथा जटिल था और इसका असफल होना निश्चित था। परन्तु इस प्रयोग को सर्वथा निष्फल नहीं कह सकते। लोकप्रिय मंत्रियों ने स्थानीय निकायों, शिक्षा तथा समाज सुधारों की ओर ध्यान दिया। इस संदर्भ में 1922 ई0 का बिहार और उड़ीसा ग्राम प्रशासन ऐक्ट, 1923ई0 का बंबई स्थानीय बोर्ड ऐक्ट, 1923ई0 का कलकत्ता नगर पालिका ऐक्ट तथा 1926ई0 का मद्रास धार्मिक संस्थान ऐक्ट, आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। अंग्रेजों का यह कथन कि भारतीय स्वशासन के योग्य नहीं, असत्य सिद्ध हो गया। 1919 का कानून इससे पूर्व की संवैधानिक सुधारों से निश्चय ही आगे बढ़ने वाला एक पत्र था। इसके द्वारा मताधिकार में कुछ उदारता आई तथा प्रत्यक्ष चुनाव आरंभ हुए।

9. उपसंहार

यद्यपि 1857 ई0 का विद्रोह असफल रहा तथापि इसने ब्रिटिश साम्राज्यवाद को जड़ से हिला दिया। सर्वप्रथम 1858 ई0 के अधिनियम द्वारा भारतीय प्रशासन का नियंत्रण कंपनी से छीनकर ब्रिटिश राजमुकुट को सौंप दिया गया। तत्पश्चात ब्रिटिश नीति में महत्वपूर्ण प्रशासनिक परिवर्तन दृष्टिगोचर हुआ। 1861 ई0 के भारतीय परिषद् अधिनियम के साथ 'सहयोग की नीति' का शुभारंभ हुआ; भारतीयों को प्रशासन में भाग लेने का अधिकार दिया जाने लगा। लार्ड कैनिंग ने विभागीय प्रणाली की शुरूआत की। इस प्रकार भारत सरकार की मंत्रिमंडलीय व्यवस्था की नींव रखी गई। 1892 ई0 के भारतीय परिषद् अधिनियम में चुनाव प्रणाली को स्वीकार करना एक अत्यधिक वैधानिक महत्व की बात थी। 1909 ई0 के भारतीय परिषदों में गैर सरकारी बहुमत की स्थापना की गई तथा साम्प्रदायिक तथा पृथक निर्वाचन पद्धति अपनाई गई। मुस्लिमों के लिए अलग निर्वाचन मंडल की व्यवस्था की गई जिसे 1919 ई0 के कानून द्वारा सिखों तक बढ़ा दिया गया। 1919 ई0 के अधिनियम द्वारा यद्यपि कि केन्द्र में उत्तरदायी सरकार की स्थापना नहीं की गई, पृथक मताधिकार को सुदृढ़ करना मात्र एक दिखावा था तथा प्रान्तों में द्वैध शासन का लागू होना बहुत ही कठिन था, फिर भी पहले के संवैधानिक सुधार की अपेक्षा 1919 के कानून आगे बढ़ने वाला एक उत्साहवर्धक कदम था। द्वैध शासन के अन्तर्गत 1920 ई0 में चुनाव हुए जिसमें कांग्रेस के स्वराज दल ने हिस्सा लिया। कुल मिलाकर 1919 के अधिनियम द्वारा आंशिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त को अपनाया गया जिसने अंग्रेजों के इस विश्वास कि भारतीय स्वशासन के योग्य नहीं हैं को असत्य सिद्ध कर दिया। इस अधिनियम ने 1935 ई0 के भारत सरकार अधिनियम के लिए पथ प्रशस्त कर दिया।

10. बोध प्रश्न

(1) 1858 ई0 के अधिनियम की समीक्षा करें।

(2) 1861 ई0 के अधिनियम के दोष तथा महत्व पर प्रकाश डालें।

(3) 1892 ई0 के अधिनियम के प्रमुख प्रावधानों की समीक्षा करें।

(4) 1909 ई0 के सुधार अधिनियम की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन करें।

(5) 1919 ई0 के अधिनियम के प्रमुख प्रावधान तथा दोषों की व्याख्या करें।

(6) द्वैध शासन से आप क्या समझते हैं? 1919 ई0 के अधिनियम के अन्तर्गत यह प्रान्तों में कैसे लागू हुआ?

11. संदर्भ ग्रन्थ

(i) R.C. Majumdar : The History and Culture of the Indian People, Vol IX

(ii) A.C.Banerjee : Indian Constitutional Development, Vol. II

(iii) राम लखन शुक्ल : आधुनिक भारत का इतिहास, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

(iv) ताराचन्द : भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास, खंड 1–4, दिल्ली;

(v) सर आइवर जेनिंग्स : ब्रिटिश संविधान

(vi) विपिन चन्द्र (सं0) : भारत का स्वतंत्रता संघर्ष

इकाई–2

राष्ट्रवाद का उदय एवम् भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना

इकाई की रूपरेखा :

1. उद्देश्य
2. प्रस्तावना
3. पृष्ठभूमि
4. राष्ट्रवाद की उत्पत्ति एवं विकास के कारण
   - 4.1 आर्थिक राष्ट्रवाद का जन्म
   - 4.2 नए सामाजिक वर्गों का उदय
   - 4.3 आधुनिक शिक्षा एवम् प्रेस की भूमिका
   - 4.4 सामाजिक और धर्म सुधार आंदोलन
   - 4.5 प्राक्–कांग्रेस संस्थाएँ
5. भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना
   - 5.1 कांग्रेस की स्थापना का मिथक (सुरक्षा बाल्ब का सिद्धान्त)
   - 5.2 कांग्रेस की स्थापना का सच
6. भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के लक्ष्य एवं उद्देश्य
7. उपसंहार
8. बोध प्रश्न
9. संदर्भ ग्रन्थ

1. उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप;

- भारतीय राष्ट्रवाद की पृष्ठिभूमि के बारे में जान सकेंगे,
- यह समझ सकेंगे कि राष्ट्रवाद की उत्पत्ति एवं विकास में किन प्रेरक तत्वों ने योगदान दिया,
- किन परिस्थितियों में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुई, उनको समझ सकेंगे और

- अपने प्रारंभिक दौर में कांग्रेस के लक्ष्य तथा उद्देश्य के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

2. प्रस्तावना

भारत के राष्ट्रीयता के विकास की प्रक्रिया बड़ी जटिल और बहुमुखी है। भारत में भारतीयता (राष्ट्रीयता) की भावना इसलिए पैदा नही हुई कि ब्रिटिश शासक इसे पैदा करना चाहते थे, बल्कि वह इसलिए बढ़ी क्योंकि भारतीय इसे बढ़ाना चाहते थे। राष्ट्रीयता की भावना इसलिए पैदा हुई और बढ़ी क्योंकि ब्रिटिश साम्राज्यवाद भारत को पूरी तरह से लूट रहे थे। भारत की गरीबी जो अपने चरम सीमा तक जा पहुची थी का मूल कारण वे ही थे। लोगों की गरीबी का स्वरूप हमें 19वीं सदी के उत्तरार्ध में होने वाले अकालों से पता चलता है, जिसने देश में तबाही मचाई। इस राष्ट्रवाद की चरम परिणति भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के रूप में दिखाई पड़ी। एक ऐसा दल जो न केवल राष्ट्रीय चेतना का प्रतीक था, बल्कि भारतीय राजनीति के लिए एक प्लेटफार्म भी बना। इसी के साथ भारतीय राष्ट्रवाद एक नया अध्याय प्रारंभ हुआ तथा कांग्रेस के नेतृत्व में राष्ट्रीय आंदोलन धीरे–धीरे पूर्णता की ओर प्रशस्त हुआ। इस इकाई में भारतीय राष्ट्रवाद की उत्पत्ति एवं विकास के प्रेरक तत्वों एवं भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की उत्पत्ति में सहायक प्रमुख कारकों तथा विभिन्न दृष्टिकोणों की सारगर्भित व्याख्या की गई है।

3. पृष्ठभूमि

जिस समय अंग्रेज भारत आए उस समय भारत एक राष्ट्र नहीं था, क्योंकि भारतीय संदर्भ में राष्ट्रवाद आधुनिक युग की चीज है। ब्रिटिश शासन और विश्व शक्तियों की वजह के साथ ही साथ भारतीय समाज में उत्पन्न एवं विकसित विभिन्न आत्मनिष्ठ तथा वस्तुनिष्ठ कारणों की क्रिया–प्रतिक्रिया के फलस्वरूप ब्रिटिश काल में भारतीय राष्ट्रवाद का जन्म हुआ। लेकिन हम अंग्रेजी आलोचकों के इस तथ्य को स्वीकार नहीं कर सकते कि भारत में उन सभी आधारभूत तत्वों का अभाव था जो एक राष्ट्रीयता के पनपने में सहयोगी होते हैं। यह तर्क भी सही नहीं है कि भारत के विस्तार तथा विविधता की वजह से यहॉ एक समन्वित राष्ट्र के उभरने की संभावना नहीं थी। वास्तव में अनुकूल परिस्थितियॉ उत्पन्न होने पर यह एक राष्ट्र बन सकता था और ये अनुकूल परिस्थितियॉ भारत में ब्रिटिश शासन के दौरान उत्पन्न हुई।

भारत में राष्ट्रीयता के विकास की प्रक्रिया बड़ी जटिल और बहुमुखी है। यहाँ की अर्थव्यवस्था का आधार यूरोपीय देशों के पूंजीवाद से पूर्ववर्ती काल के समाजों से भिन्न था। भारत विभिन्न भाषाओं, विभिन्न धर्मों तथा बहुत बड़ी आबादी वाला देश था। प्रारंभ से ही यह समाज खंडित तथा विभाजित था। भारतीय राष्ट्रवाद का एक दिलचस्प पहलू यह भी है कि इसका जन्म राजनैतिक पराधीनता के दिनों में हुआ। ब्रिटेन ने अपने हित में भारतीय समाज के आर्थिक ढॉचे में आमूल परिवर्तन किया,

केन्द्रीभूत राज्यव्यवस्था की स्थापना की, आधुनिक शिक्षा पद्धति की नींव डाली, आवागमन के नए साधन विकसित किए और इसी प्रकार की अनेक संस्थाओं का निर्माण किया। इसके फलस्वरूप नए सामाजिक वर्गो का जन्म हुआ और अपने आप में कई नई सामाजिक शक्तियों का उदय संभव हो सका। ये नये सामाजिक तत्व अपनी विशिष्ट प्रकृति के कारण ब्रिटिश साम्राज्यवाद से टकराए और भारतीय राष्ट्रीयता के विकास की आधारशिला ही नहीं, उसके लिए प्रेरणा के स्रोत भी सिद्ध हुए।

1885 में कांग्रेस की स्थापना भारत में बढ़ती चेतना की पराकाष्ठा थी। यही कांग्रेस भारतीय राष्ट्रवाद का 'प्लेटफार्म' बना। 1885–1905 के पहले चरण में इसका ध्येय धुंधला, अस्पष्ट तथा संदिग्ध सा था। यह केवल थोड़े से शिक्षित मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी वर्ग तक ही सीमित था, जो पाश्चात्य उदारवादी और अतिवादी विचारधारा से प्रेरणा लेता था। दूसरे दौर (1905–1919) में कांग्रेस प्रौढ़ हो गई और इसका उद्धेश्य तथा उसकी सीमाऐं विस्तृत हो गई। अब यह जनता के सर्वतोमुखी सामाजिक, आर्थिक, राजनितिक तथा सांस्कृतिक विकास के लिए प्रयत्नशील थी। राजनितिक क्षेत्र में उद्धेश्य पूर्ण स्वराज्य था। इस बीच कुछ उग्रवादी दल के लोगों ने पाश्चात्य साम्राज्यवाद को समाप्त करने के लिए पाश्चात्य क्रांतिकारी ढंग भी अपनाए। अंतिम चरण (1919–47) में कांग्रेस ने पूर्ण स्वराज्य की प्राप्ति के लिए महात्मा गांधी के नेतृत्व में एक विशेष भारतीय ढंग–अहिंसात्मक असहयोग की नीति अपनाकर आंदोलन किया और देश स्वतंत्र हुआ।

4. राष्ट्रवाद उत्पत्ति एवं विकास के कारण

भारतीय राष्ट्रवाद की उत्पत्ति एवम् विकास में अनेक तत्वों ने सहायता की जिनका सारगर्भित विवेचन अग्रलिखित है–

बदलता हुआ आर्थिक ढाँचा – जिस युग में ब्रिटिश, फ्रांसीसी और अन्य विदेशी कंपनियों ने भारत से अपने संबंध स्थापित किए और भारत में व्यापारिक आधार कायम करने तथा राजनैतिक प्रभुसत्ता स्थापित करने का सिलसिला शुरू किया, उस युग में और उससे पहले भी इस देश में एक देशी वणिक पूंजी वर्ग था, जो निरंतर शक्ति संचय करता रहा था। वस्तुतः 18वीं सदी के प्रारंभिक वर्षो में, जब मुगल साम्राज्य विघटित हो रहा था, एक नए मध्य वर्ग का उदय होने लगा। आत्मनिर्भर ग्राम उत्पादक इकाई बने रहे लेकिन धनोन्मुख मध्य वर्ग के द्वारा वस्तुओं के वितरण और विनियम के फलस्वरूप शहरों में व्यापारिक केन्द्रों का जन्म होने लगा। इससे पहले कि भारत का यह नवोदित वणिक वर्ग पर्याप्त आर्थिक एवं सामाजिक शक्ति एवं सामंती वर्गो से राजनैतिक सत्ता का अपहरण कर पूंजीवाद का प्रसार करता, अंग्रेजों ने, जो आर्थिक तौर पर अधिक शक्तिशाली थे, आर्थिक राजनीतिक प्रभुसत्ता के लिए भारत को अपना रणक्षेत्र बना लिया। इन नए विजेताओं

के भाप के इंजन तथा मुक्त व्यापार ने भारत के चरखे और करधे को तोड़ डाला जो ग्राम समाज व्यवस्था के मुख्य आधार थे।

भारतीय समाज के पुरातन आर्थिक आधार को नष्ट करके उसकी जगह पूंजीवादी व्यवस्था की स्थापना किए बिना ब्रिटेन अपनी पूंजीवादी आर्थिक आवश्यकताओं के लिए औपनिवेशिक भारत का समुचित उपयोग नहीं कर सकता था। भारत पर अंग्रेजों के राजनैतिक प्रभुत्व के विस्तार की दिशा में उठाया गया प्रत्येक कदम पुरानी अर्थव्यवस्था के विघटन और नए आर्थिक रूपों के उदय की दिशा में ही अगला कदम था। यह प्रक्रिया 1813 ई0 से और तेज हुई जब ब्रिटिश औद्योगिक पूंजी ने भारत को लूटना आरंभ किया। इसी वर्ष से ब्रिटिश कल–कारखानों में बने माल ने भारत पर अपना आक्रमण शुरू किया। यह आक्रमण जल्दी ही बहुत तेज हो गया और उसने भारत की पुरानी अर्थव्यवस्था को ध्वस्त कर दिया।

सर्वप्रथम यह परिवर्तन भूमि तथा कृषि व्यवस्था में देखने में आया। जिस ब्रिटिश पूंजीवाद ने अपने देश में सामंती व्यवस्था को नष्ट किया उसी ने भारत में उल्टा रास्ता अपनाया। उसने भारत पर ब्रिटेन के ढंग की सामंती व्यवस्था लाद दी। नई लगान व्यवस्था ने जमीन पर लोगों की जमाने से चली आ रही मिलकियत खत्म करके उसकी भूस्वामित्व के दो रूपों को जन्म दिया। उत्तरी भारत में जमींदारी प्रथा लागू की गई जिससे जमींदारों का एक नया वर्ग पैदा हुआ और उन्हें जमीन का मालिक बनाया गया। दक्षिण भारत में रैयतवारी प्रथा लागू करके किसान को जमीन का मालिक बनाया गया। इस तरह उन्होंने जमीन को व्यक्तिगत संपत्ति बनाया। जमीन अब एक बिकाऊ माल बन गई जिसे बाजार में खरीदा एवं बेचा जा सकता था। इस तरह नई भूमि–व्यवस्था ने गॉव को कृषि संबंधी आर्थिक एवं न्यायिक कार्यो से वंचित कर दिया। गॉवों की स्वाधीनता समाप्त हो गई और ग्राम समाज के सारे काम केन्द्रीय राज्य के हाथ में सौंप दिए गए। किसानों की दरिद्रता और ऋणग्रस्तता बढ़ती गई और उनके भूस्वामित्व का अपहरण होता रहा और अनेक किसान सर्वहारा (Proletariat) की श्रेणी में आ गए। संक्षेप में, बदलता हुआ आर्थिक ढॉचा भारतीय राष्ट्रवाद की उत्पत्ति में काफी सहायक हुआ।

अंग्रेजों द्वारा भारत का आर्थिक शोषण – ब्रिटिश शासकों ने राजसत्ता का दुरूपयोग करके मुख्यतः भारत के प्राचीन हस्तशिल्प और उद्योग–धन्धों को नष्ट कर दिया। ब्रिटिश अधिकारी ब्रिटेन के व्यापारियों और शिल्प उत्पादकों के हित में भारतीय उद्यागों को नष्ट करते चले गए। भारत में ब्रिटिश नीति का दोहरा उद्देश्य था– प्रथम, ब्रिटेन के औद्योगिक उत्पादनों की खपत के लिए भारत को एक मूल्यवार मंडी बनाना, भले ही इसके लिए भारतीय उद्योग–धंधों को कुचलने के लिए विभिन्न तरीके क्यों न अपनाने पड़े और द्वितीय ब्रिटेन के तेजी से बढ़ते हुए उद्योगों के लिए भारत को सस्ता तथा अधिक मात्रा में कच्चे माल के उत्पादक कृषि देश के रूप में

बदलना। इस दिशा में सरकार द्वारा किए मुख्य कार्यो की चर्चा बी0डी0 वसु ने की है। उनके अनुसार इंग्लैण्ड ने भारतीय उद्योगों के विनाश के लिए निम्न तरीको से काम किया :–

1. भारत में मुक्त ब्रिटिश व्यापार शुरू करना,
2. भारत में निर्मित वस्तुओं पर ब्रिटेन में बिक्री के लिए भारी कर लगाना,
3. भारत से कच्चे माल का निर्यात करना,
4. सीमा शुल्क तथा परिवहन कर लगाना,
5. भारत में रहने वाले अंग्रेजों को विशेष सुविधाएँ देना,
6. भारत में रेलवे का निर्माण करना,
7. भारतीय कारीगरों को अपने रोजगार की गुप्त बातें बताने के लिए मजबूर करना, तथा
8. प्रदर्शनियों का आयोजन करना।

इन सबके परिणामस्वरूप भारत का वस्त्र उद्योग नष्ट हुआ, रेशमी, ऊनी कपड़े, लोहे, कांच, चमड़े, चीनी, आदि उद्योग नष्ट हो गए। 19वीं सदी के मध्य तक भारतीय व्यापारियों को विश्व बाजार से निकाल दिया गया। उनके हाथ से भारत का विदेश व्यापार छीना गया, भारत के अंदर उनके उद्योग नष्ट किए गए तथा यहॉ का बाजार ब्रिटिश पूंजीपतियों ने हथिया लिया। अतः राष्ट्रवादियों ने देशी उद्योगों के पतन को भारत की दरिद्रता का मूल कारण माना तथा देश के आर्थिक पुनर्जागरण के लिए भारतीय हस्त उद्योगों की सुरक्षा, पुनः स्थापना, पुनर्नियोजन तथा आधुनिकीकरण को अपने कार्यक्रम का प्रमुख अंग बनाया। इन्हीं आर्थिक परिवर्तनों के कारण ऐसी सामाजिक शक्तियों का जन्म हुआ जिसने राष्ट्रीय आंदोलन तथा भारतीय राष्ट्रवाद को प्रेरित किया।

नए सामाजिक वर्गों का उदय – ब्रिटिश राज ने भारतीय समाज में नए वर्ग पैदा किए। जहॉ देहातों में (i) जमीन के मालिक जमींदार, जिनका एक हिस्सा शहरों में रहता था, (ii) उन जमींदारों से लगान पर जमीन लेकर काम करने वाले काश्तकार, (iii) जमीन के मालिक धनी, मध्य और गरीब किसान, (iv) खेतिहर मजदूर, तथा (v) आधुनिक व्यापारी तथा सूदखोर, इत्यादि वर्गों का उदय हुआ वहीं शहरों में (i) औद्योगिक, व्यवसायिक और वित्तीय पूंजीपति, (ii) कल–कारखानों में काम करने वाले मजदूर, (iii) छोटे व्यापारी और दूकानदार, (iv) कारीगर, डाक्टर, वकील, अध्यापक, मैनेजर, क्लर्क, आदि, बुद्धिजीवी और वृत्तिजीवी लोगों का मध्य वर्ग का उदय हुआ। इन सभी नए वर्गो की यह विशेषता थी कि वे राष्ट्रीय थे। प्रत्येक नए सामाजिक हितों का अखिल भारतीय एकीकरण हुआ। ये विभिन्न वर्ग यद्यपि कि

अपने अलग–अलग आर्थिक तथा राजनैतिक स्वार्थ लेकर राष्ट्रीय स्वाधीनता की लड़ाई में शामिल हुए लेकिन इन सबका लक्ष्य एक था–राष्ट्रीय आंदोलन की प्राप्ति।

यातायात के आधुनिक साधन – आधुनिक यातायात के साधनों का भारतीय राष्ट्र निर्माण में काफी जोरदार योगदान रहा। रेलवे, नई डाक व्यवस्था तथा प्रेस, जिनका जन्म ब्रिटिश शासन के परिणामस्वरूप हुआ था, ने देश को एक सूत्र में बॉधने में बहुत मदद की। रेलवे, मोटर, बस और आवागमन के अन्य साधन भारत में अंग्रेजी शासन को सुदृढ़ और सुरक्षित करने के माध्यम बने तो साथ ही इन्होंने इस शासन के विरूद्ध भारतीय जनता के राजनैतिक आंदोलन को संगठित करने का काम भी किया।

आधुनिक शिक्षा – भारतीय राष्ट्रवाद के उदय में अंग्रेजी शिक्षा का कहाँ तक योगदान है? भारत में अंग्रेजी शिक्षा का अस्तित्व न होता तो क्या भारतीय राष्ट्रवाद का जन्म हो सकता था? इस विषय में ब्रिटिश राजनेताओं तथा भारतीयों में गहरा मतभेद है। अनेक ब्रिटिश राजनेताओं का दावा है कि भारतीय राष्ट्रवाद अंग्रेजों द्वारा लाई गई आधुनिक शिक्षा का परिणाम है। यह सही है कि इस शिक्षा के परिणामस्वरूप भारतीय बर्क, मिल और मैकाले के विचारों से परिचित हुए तथा ग्लैंडस्टोन तथा ब्राइट जैसे लोगों की संसदीय बहस को सुना। पर ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने अंग्रेजी शिक्षा इसलिए नहीं लागू की कि भारतवासी राष्ट्रीयता सीखें और उन्हें भगाने के लिए राष्ट्रीय आंदोलन करें। ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने भारतीयों का अंग्रेजी शिक्षा इसलिए दी थी कि भारत में ब्रिटिश प्रशासन और व्यापारिक फर्मो की क्लर्कों की जरूरत पूरी हो सके। अंग्रेजी शिक्षा देने में उनका लक्ष्य भारतीय दलाल पैदा करना था। इसलिए अंग्रेजी कभी भी भारत की जनभाषा नहीं बन सकी। जब राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम ने जोर पकड़ा तो राष्ट्रीय नेताओं ने अनुभव किया कि जनता से उन्हीं की भाषा में बोलकर उनका दिल जीता जा सकता है। इस प्रकार ब्रिटिश शासकों के न चाहने पर भी अंग्रेजी शिक्षा से भारतीयों को कुछ लाभ अवश्य हुआ, लेकिन इनका यह मतलब नहीं है कि अंग्रेजी शिक्षा के बिना राष्ट्रीय आन्दोलन पनप नहीं सकता था।

प्रेस की भूमिका – भारतीय राष्ट्रवाद के विकास में प्रेस का बहुत बड़ा हाथ रहा। राजाराम मोहन राय ने राष्ट्रीय प्रेस की नींव डाली। उनके द्वारा प्रकाशित बंगला पत्र 'संवाद कौमुदी' तथा फारसी पत्र 'मिरास उल अखबार' ऐसे पहले पत्र थे जिन्होंने राजनैतिक जागरण की दिशा में कार्य किया। इसी समय बंबई में समाचार पत्र का प्रकाशन प्रारंभ हुआ। 1859 ई0 में 'सोम प्रकाश' का साप्ताहिक के रूप में जन्म ईश्वर चंद्र विद्यासागर द्वारा हुआ जिसका दृष्टिकोण राष्ट्रवादी था। इसके बाद दूसरा स्थान 'हिन्दू पैट्रियाट' को जाता है जिसके संपादक हरिश्चंद्र मुखर्जी थे। 'अमृत बाजार पत्रिका', 'बंगाली', 'ट्रिब्यून', 'हिन्दू' जैसे राष्ट्रवादी समाचार पत्रों का प्रकाशन देश के अलग–अलग स्थानों से आरंभ हुआ। प्रेस ने प्रादेशिक साहित्य और

संस्कृति के विकास में भी मदद की। प्रेस के माध्यम से जाति–प्रथा, बाल–विवाह, विधवा–विवाह तथा अन्य असमानताओं और कुरीतियों का विरोध किया गया।

सामाजिक और धर्म सुधार आंदोलन – अधिकांश इतिहासकारों ने भारत में राष्ट्रीय आंदोलन के उदय के लिए मुख्य श्रेय ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, रामकृष्ण मिशन और थियोसोफिकल सोसायटी को दिया है। उनका कहना कहॉ तक उचित है? इन धार्मिक आंदोलनों की वास्तविक भूमिका क्या थी? वास्तव में ये आंदोलन ईसाई धर्म प्रचारकों के आक्रमण की प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न हुए। राजाराम मोहन राय को भारतीय राष्ट्रवाद का जनक कहा जाता है। उन्होंने एक तरफ हिन्दू धर्म की कुरीतियों और दूसरी तरफ ईसाई धर्म प्रचारकों की धर्मान्धता के खिलाफ लड़ने के लिए 1828 ई0 में ब्रह्म समाज की स्थापना की। देवेन्द्रनाथ टैगोर, केशव चंद्र सेन, राणाडे, दयानंद सरस्वती, विवेकानंद आदि ने विभिन्न परिमाण में धर्म के क्षेत्र में राष्ट्रीयता के अलावा लोकतंत्र के सिद्धांत का भी प्रवेश कराया। वास्तव में, ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज और आर्य समाज तथा अन्य संस्थाएॅ पुराने धर्म को नए समाज की आवश्यकताओं के अनुकूल बनाने की कोशिश कर रहे थे। भारत के प्रारंभिक धर्म सुधार आंदोलनों ने ऐसे धार्मिक दृष्टिकोण को विकसित करने की कोशिश की जो हिन्दू, मुसलमान, पारसी आदि सभी सम्प्रदायों की एकता कायम कर सके। भारत के प्रथम राष्ट्रीय जागरण का स्वरूप सबसे पहले धार्मिक था और बाद में यह भावना गहरी होती गई और इसका स्वरूप धर्मनिरपेक्ष हो गया।

मुसलमानों में राष्ट्रीय जागरण हिन्दूओं की अपेक्षा धीरे–धीरे आया। 1889 ई0 में मिर्जा गुलाम अहमद द्वारा स्थापित अहमदिया आंदोलन उदारवादी सिद्धान्तों पर आधारित था। इस आंदोलन ने जेहाद अर्थात गैर–मुसलमानों के खिलाफ धर्म युद्ध के सिद्धान्त का विरोध किया। इस आंदोलन ने भारतीय मुसलमानों में पाश्चात्य शिक्षा का प्रसार किया। सर सैयद अहमद खॉ के नेतृत्व में अलीगढ़ आंदोलन ने मुसलमानों में काफी चेतना पैदा की। उन्होंने 1875 ई0 में अलीगढ़ में 'मोहम्मदन एंग्लो ओरिएंटल कॉलेज' की स्थापना की। अगर सैयद अहमद ने मुसलमानों को राष्ट्रीय आंदोलन से अलग करने और अंग्रेजों की तरफ खींच ले जाने की कोशिश न की होती तो राष्ट्रीय आंदोलन बहुत ही शक्तिशाली होता।

प्रशासनिक एकता की स्थापना – अंग्रेजों के कारण भारत में केन्द्रीय सत्ता की स्थापना हुई जिसके कारण भारतीय इतिहास में पहली बार वास्तविक और आधारभूत राजनैतिक एवं प्रशासनिक एकीकरण हुआ। इस राजनैतिक तथा प्रशासनिक एकीकरण ने राष्ट्रवाद की उत्पत्ति में महत्वपूर्ण योगदान दिया। राष्ट्रीय आंदोलन ने अंग्रेजों द्वारा स्थापित भारत के राजनैतिक और प्रशासनिक एकीकरण का कायम रखना चाहा क्योंकि ऐतिहासिक दृष्टि से यह आगे बढ़ा हुआ कदम था।

अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं का प्रभाव – भारतीय राष्ट्रवाद की उत्पत्ति में

अंतर्राष्ट्रीय घटनाएँ भी काफी सहायक सिद्ध हुई। अमरीका की स्वाधीनता की घोषणा (4 जुलाई 1776ई0) और 1789 ई0 की फ्रांसीसी क्रांति ने 19वीं सदी के जनतांत्रिक और राष्ट्रीय आंदोलनो को प्रभावित किया। स्पेन की बुर्जुआ जनतांत्रिक क्रांति (1820–23ई0) की सफलता की खुशी में राजा राम मोहन राय ने कलकत्ते के टाउन हाल में एक पार्टी दी। 1830 ई0 में दूसरी क्रांति का समाचार पाकर उनकी सफलता का अंत न रहा। मैजिनी और गैरीबाल्डी ने भारत के बुद्धिजीवियों और नौजवानों को बहुत प्रभावित किया। मेजिनी के 'कारबोनारी' और 'युवा इटली' के अनुकरण पर 1870 ई0 के बाद तत्कालीन बंगाल में खासकर कलकत्ते में कितने ही गुप्त संगठन कायम किए गए।

1857 ई0 का विद्रोह – 1857 ई0 के विद्रोह में भारत में राष्ट्रीय चेतना के प्रथम चिन्ह दिखाई पड़े जो कि भारतीयों की ओर से अंग्रेजों को निकाल भगाने का प्रयास था। भारत पर अंग्रेजों की विजय से उत्पन्न आर्थिक कारकों एवं नए शासन से भारतीय समाज के जो हिस्से प्रभावित हुए उनके असंतोष के कारण 1857 ई0 का विद्रोह हुआ। 1857 ई0 के विद्रोह को यद्यपि कि आधुनिक अर्थो में राष्ट्रीय नहीं कहा जा सकता, लेकिन 1857 ई0 में भारतीय इतिहास में पहली बार यह सिद्ध हुआ कि ब्रिटिश शासन के विरूद्ध हिन्दुओं और मुसलमानों की व्यापक एकता संभव है। इससे भारतीय जनता के संयुक्त राष्ट्रीय आंदोलन की परम्परा बनी। विद्रोह के बाद भारत और ब्रिटेन के संबंधों के इतिहास में एक नया दौर शुरू हुआ। सरकार ने यह नीति अपनाई कि जिन देशी रियासतों पर कब्जा नहीं हुआ उन्हें ज्यों का त्यों छोड़ दिया जाए। कालक्रम से देशी रियासतों के लोग दमनपूर्ण नीतियों के प्रति जागरूक हुए और रजवाड़ों के निरंकुश शासन के विरूद्ध प्रतिनिधि सरकार और अन्य जनतांत्रिक मांगों के लिए इकट्ठे होने लगे। इस तरह रियासतों की जनता का संघर्ष ब्रिटिश भारत की जनता के स्वतंत्रता संग्राम के साथ एक ही धारा में मिल गया तथा ब्रिटिश सरकार के विरूद्ध समस्त भारतीय जनता के संयुक्त अखिल भारतीय आंदोलन का जन्म हुआ।

प्रजातीय भेद – प्रजातीय भेद की भावना ने भारतीयों को राष्ट्रीय रूप में एक होने को प्रेरित किया। प्रजाति–भेद के आधार पर अंग्रेज भारतीयों से घृणा करते थे और उनके साथ बुरा व्यवहार करते थे। अंग्रेज केवल स्वयं को ही नहीं बल्कि समस्त यूरोपीय जाति को एशियाई जाति से ऊँचा मानते थे। भारत में एक साधारण अंग्रेज भी बहुत ज्यादा अभिमानी तथा उदंड था। 1868 ई0 में केशवचन्द सेन ने एशियाई लोगों को नीचा समझने वालों को याद दिलाया कि ईसा मसीह खुद एशियाई थे। 1867 ई0 में दादा भाई नौरोजी ने लंदन की ईस्ट इंडिया ऐसोसिएशन से मांग की कि भारतीयों को गाली–गलौज देना और अपमानित करना बंद किया जाए। अंग्रेजों और भारतीयों के बीच इस जातीय भेद ने लार्ड रिपन के काल में इलबर्ट बिल विवाद के रूप में एक तूफान खड़ा कर दिया। इस बिल के द्वारा न्याय के क्षेत्र में भारतीयों

और यूरोपीयों को एक स्तर पर लाने की कोशिश की गई किन्तु यूरोपीय समुदाय के सम्मिलित कट्टर विरोध तथा यूरोपीय डिफेंस ऐसोसिएशन की वजह से यह बिल पास नहीं हो सका। इस बिल के विरोध में किए गए यूरोपीयों के आंदोलन ने 'भारत की राष्ट्रीय विचारधारा' को जितनी एकता प्रदान की, उतनी वह बिल पारित होकर भी प्रदान नहीं कर सकता था।

लार्ड लिटन की नीति – इन परिस्थितियों में लार्ड लिटन की नीतियों ने जलते पर नमक छिड़कने का काम किया। दूसरे अफगान युद्ध के वित्तीय बोझ और 1877 ई0 के असंयत, अतिव्यापी और भव्य दिल्ली दरबार (जिसमें विक्टोरिया को साम्राज्ञी घोषित किया गया) के कारण लोगों का असंतोष बढ़ा क्योंकि यह अकाल और भुखमरी का जमाना था। फिर 1878 ई0 के वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट से भारतीय प्रेस की स्वतंत्रता पर रोक लगाई गई और 1879 ई0 के इंडियन प्रेस ऐक्ट और आर्म्स ऐक्ट के कारण लोगों में असंतोष की ज्वाला प्रकट हुई और स्थिति लगभग विस्फोटक हो गई।

सिविल सर्विस आंदोलन – 1874 ई0 में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को जिस तरह सिविल सर्विस से हटाया गया उससे भारतीयों को विश्वास हो गया कि अंग्रेज शासक भारतीयों को सिविल सेवा में घुसने नहीं देना चाहते। जब 1877 ई0 में इंग्लैण्ड में होने वाली सिविल सर्विस की परीक्षा के लिए आयु सीमा घटाकर 21 से 19 वर्ष कर दी गई तो सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने इसके विरूद्ध आंदोलन संगठित किया। इस आंदोलन ने भारतीय जनता में एकता की भावना को बढ़ाया तथा सरकार के प्रति तीव्र अंसतोष को जन्म दिया।

प्राक्–कांग्रेस संस्थाएँ – भारत में राष्ट्रीयता उत्पन्न करने में जिन संस्थाओं ने देश के अलग–अलग क्षेत्रों में राष्ट्रीय संगठन के आधार तैयार किए उन पर थोड़ा विचार करना अत्यन्त आवश्यक है। कलकत्ता में 1838 ई0 में जमींदारों ने अपने हितों की रक्षा के लिए 'लैण्डहोल्डर्स सोसाइटी' नामक संगठन बनाया। 1851 ई0 में इन्हीं जमींदारों ने राजनैतिक उद्देश्यों से 'ब्रिटिश इंडियन एसोसिएशन' नामक संस्था बनाई। 1852 ई0 में मद्रास तथा बंबई में भी ऐसी संस्थाएँ बनी। दादा भाई नौरोजी ने लंदन में 1866 ई0 में 'ईस्ट इंडिया एसोसिएशन' स्थापित करके भारत के प्रमुख नगरों में इसकी शाखाएँ संगठित की। 1870 ई0 में दूसरे राष्ट्रवादी नेता माधव गोविन्द राणाडे ने 'पूना सार्वजनिक सभा' बनाई जिसने महाराष्ट्र क्षेत्र में राजनैतिक जागृति में सक्रिय भूमिका निभाई। 1881 ई0 में मद्रास में 'महाजन सभा' और 1885 ई0 में बंबई में 'बंबई प्रेसीडेंसी एसोसिएशन' की भी स्थापना हुई। 1876 ई0 में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी तथा अन्य मध्यम वर्ग के व्यक्तियों ने 'इंडियन एसोसिएशन' की स्थापना की। लंबी अवधि तक इसने प्रमुख विषयों पर भारतीयों की आवाज को सरकार तक पहुँचाने का कार्य किया।

संक्षेप में, 1857 से लेकर 1885 ई0 के बीच कुछ प्रमुख घटनाएँ घटीं जिनसे भारतीय जनता का असंतोष स्पष्ट रूप से प्रकट हुआ और भारतीय जागरण के लक्षण स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगे। 1857 ई0 और 1870 ई0 के बीच दो ब्रिटेन विरोधी आंदोजन हुए जिनका उद्देश्य ब्रिटिश सरकार को सशस्त्र विद्रोह के द्वारा उखाड़ फेंकना था। इनमें से एक तो बहाबी लोगों का विद्रोह था तथा दूसरा विद्रोह मराठों के एक दल का था जो 1857 ई0 की हार के बाद भी निरूत्साहित नहीं हुए थे। 1871 ई0 तक बहाबी आंदोजन तथा 1863 में मराठों का प्रयास असफल हो गया। 1870 ई0 के बाद देश में राजनैतिक और आर्थिक असंतोष व्यापक रूप लेने लगा, जिसकी चरम सीमा 1885 ई0 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के रूप में प्रकट हुई।

5. भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना

कांग्रेस की स्थापना का मिथक (सुरक्षा बाल्ब का सिद्धान्त)– भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के संदर्भ में महत्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि आखिर कांग्रेस की स्थापना क्यों हुई? इस सवाल के साथ एक मिथक अरसे से जुड़ा रहा है और वह है 'सुरक्षा बाल्ब' का सिद्धांत'। 'सुरक्षा बाल्ब' सिद्धांत का यह मिथक पिछली कई पीढ़ियों से छात्रों और राजनीतिक कार्यकर्ताओं को बतलाया जा रहा है। लेकिन इतिहासकारों ने हाल फिलहाल में इतिहास के सच को टटोला तो पता चलता है कि यह सिद्धांत एक मिथक है जिसमें उतना ऐतिहासिकता नहीं है। मिथक है कि ए0ओ0 ह्यूम और उनके साथियों ने अंग्रेज सरकार के इशारे पर ही कांग्रेस की स्थापना की। तत्कालीन वाइसराय लार्ड डफरिन के निर्देश, मार्ग दर्शन और सलाह पर ही ह्यूम ने इस संगठन को जम्न दिया, ताकि उस समय भारतीय जनता में पनपते–बढ़ते असंतोष को हिंसा के ज्वालामुखी के रूप में बहलाने और फूटने से रोका जा सके और 'असंतोष की वाष्प' को बिना किसी खतरे के बाहर निकलने के लिए सुरक्षित, सौम्य, शान्तिपूर्ण और संवैधानिक निकास या 'सुरक्षा बाल्ब' उपलब्ध कराया जा सके। संक्षेप में इस मिथक का सार–संक्षेप यह है कि उस समय देश में एक हिंसक क्रांति दस्तक दे रही थी जो कांग्रेस की स्थापना के कारण टल गई। भारतीय इतिहास के ज्यादातर लेखकों ने इस सिद्धांत को स्वीकार किया है। इसी निष्कर्ष के कारण उदारवादी लेखक कांग्रेस की स्थापना को सही कदम बताते हैं, तो प्रगतिशील इसका इस्तेमाल यह साबित करने के लिए करते हैं कि कांग्रेस अगर साम्राज्यवाद के प्रति निष्ठावान नहीं रही तो कम से कम वह समझौतावादी तो रही है, जबकि घोर दक्षिणपंथियों द्वारा इस मिथक का इस्तेमाल यह सिद्ध करने के लिए किया जाता रहा कि कांग्रेस शुरू से ही गैर राष्ट्रवादी रही है।

'यंग इंडिया' (*Young India*) में 1916 ई0 में प्रकाशित अपने लेख में गरमपंथी नेता लाला लाजपत राय ने 'सुरक्षा बाल्ब' की इस परिकल्पना का इस्तेमाल कांग्रेस के नरमपंथी पक्ष पर प्रहार करने के लिए किया। उन्होंने कहा, ''कांग्रेस लार्ड

डफरिन के दिमाग की उपज है।'' इसके बाद अपनी बात बढ़ाते हुए उन्होंने लिखा, ''कांगेस की स्थापना का उद्देश्य राजनीतिक आजादी हासिल करने से कहीं ज्यादा यह था कि उस समय ब्रिटिश साम्राज्य पर आसान्न खतरों से उसे बचाया जा सके। कांग्रेस के लिए ब्रिटिश साम्राज्य के हित पहले स्थान पर थे और भारत के हित दूसरे स्थान पर।''

इसके करीब 25–30 वर्ष बाद इसी विषय पर रजनी पाम दत्त के प्रमाणिक अध्ययन 'इंडिया टुडे' (*India Today*) ने तो 'सुरक्षा बाल्ब' के मिथक को वामपंथी विचारधारा के 'कच्चे माल' के रूप में स्थापित कर दिया। इस मिथक को बड़े जोरदार ढंग से उठाते हुए उन्होंने लिखा कि सरकार की सीधी पहल और मार्गदर्शन के द्वारा कांग्रेस अस्तित्व में आई ताकि उस समय उठ रही ''ब्रिटिश विरोधी लहर और जनअसंतोष की ताकतों से ब्रिटिश शासन की रक्षा के लिए इसका (कांग्रेस) इस्तेमाल हथियार के तौर पर'' किया जाए।

उदारवादी सी0एफ0 एंड्रूज और गिरिजा मुखर्जी ने भी 1938 ई0 में प्रकाशित 'भारत में कांग्रेस का उदय और विकास' में सुरक्षा बाल्ब की बात पूरी तरह स्वीकार की। इसके अतिरिक्त 1939 ई0 में राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के सर संघचालक एम0एस0 गोलवलकर ने भी कांग्रेस की धर्मनिरपेक्षता के कारण उसे गैर राष्ट्रवादी ठहराने के लिए सुरक्षा बाल्ब की इस परिकल्पना का इस्तेमाल किया। उन्होंने कहा कि ''हमने अपने दुश्मनों को अपना दोस्त मान लिया और इस तरह हमने सच्ची राष्ट्रीयता की जड़े खुद अपने हाथों से खोद डाली तथा उबल रहे राष्ट्रवाद के खिलाफ सुरक्षा बाल्ब के तौर पर कांग्रेस की स्थापना की।'' उस समय जाग रहे विशाल देव को सुला देने के लिए यह एक खिलौना था।

ह्यूम और गोपनीय रिपोर्ट– 'सुरक्षा बाल्ब' की इस परिकल्पना को ऐतिहासिक साक्ष्य बना देने में सात खंडो वाली उस 'गोपनीय रिपोर्ट' की निर्णायक भूमिका रही है जिसके बारे में ह्यूम का कहना है कि 1878 ई0 की गर्मियों में शिमला में उन्होंने इसे पढ़ा था। उसे पढ़ने के बाद उन्हें इसका पक्का यकीन हो गया कि भारत में ''असंतोष उबल रहा है''और ''एक बड़ी साजिश रची जा रही है''। बेडरबर्न जिसने ह्यूम की जीवनी लिखी और जो 1913 ई0 में प्रकाशित हुई, ने सबसे पहले इसी जीवनी में 7 खण्डों की इस गोपनीय रिपोर्ट की चर्चा की। लाला लाजपत राय के अनुसार, इस तथ्य के बावजूद कि ह्यूम आजादी के प्रेमी थे वह सबसे पहले एक अंग्रेज देशभक्त थे। जब उन्होंने देखा कि ब्रिटिश शासन पर एक गंभीर विपत्ति आने वाली है तो उन्होंने असंतोष के सुरक्षित निकास के लिए एक सुरक्षा बाल्ब बनाने को फैसला किया। अपनी बात को साबित करने के लिए लाला लाजपत राय ने ह्यूम के दस्तावेज से एक लंबा अंश उद्धरित किया, जो बेडनबर्न की किताब के पृष्ठ 80–81 पर छपा था। ह्यूम के दस्तावेज के इस अंश के साथ बेडरबर्न ने अपनी टिप्पणियॉ भी दी थीं। चूंकि बाद के सभी लेखकों ने इस अंश को उद्धरित किया था इसका

हवाला दिया, इसलिए यह जरूरी है कि इस अंश के सार को यहॉ उद्धरित किया जाए। ह्यूम ने लिखा;

''इस रिपोर्ट के ये खंड सिर्फ एक हफ्ते तक उनके कब्जे में रहा... इनमें से ज्यादा प्रविष्टियॉ समाज के निचले तबके के बीच होने वाली बातचीत के आधार पर तैयार की गई, बताई जाती है। मौजूदा हालात में इन गरीब लोगों में निराशा छा गई है और उन्हें लगता है कि भूख उन्हें मार डालेगी। अब वे कुछ करना चाहते हैं, वह है हिंसक संघर्ष। पढ़े–लिखे लोगों का एक छोटा सा वर्ग भी इन लोगों के साथ है। यह शिक्षित तबका सरकार के विरूद्ध है और आंदोलन में शामिल हेागा, उसे नेतृत्व प्रदान करेगा और असंतोष के विस्फोट को राष्ट्रीय विद्रोह के रास्ते पर मोड़ देगा।'' ह्यूम के इस दस्तावेज को पक्के तौर पर सरकारी दस्तावेज माने जाने लगा। लाजपत राय, रजनी पाम दत्त और दूसरे अन्य लोगों ने इन्हीं अंशों को उद्धरित किया है।

ह्यूम और गुह्य विद्या– ह्यूम ने अपने दस्तावेज में इसका जिक्र करते हुए कहा था कि, ''इस गोपनीय धार्मिक समूह में लाखों लोग हैं और भारतीय समस्या को मद्देनजर रखते हुए उनकी भूमिका महत्वपूर्ण है।'' ब्रह्मविद्या पर कुछ किताबें मादाम स्लावात्सकी और वाइसराय रिपन तथा डफरिन के निजी कागजातों का अध्ययन करने के बाद हमें पता चलता है कि ये गुरू कोई सामान्य व्यक्ति नहीं हैं। अदृश्य रहकर भी ये किसी भी व्यक्ति के विचारों को प्रभावित कर सकते हैं। वस्तुतः सन् 1881 ई0 में ह्यूम मादाम ब्लावात्सकी के प्रभाव में आए। ब्लावात्सकी के एक अन्य शिष्य ए0पी0 सिनेट ने भी इन महात्माओं तथा गुह्य विद्या की चर्चा की। 1884 ई0 में ह्यूम ने रिपन को बताया कि वे इन महात्माओं के सम्पर्क मे हैं तथा इन्हीं के हस्तक्षेप के कारण 1848 ई0 की यूरोपीय क्रांति और 1857 ई0 में भारतीयों के विद्रोह को दबाया जा सका। ह्यूम ने डफरिन के साथ भी बात की तथा उन्हें बताया कि वे अलौकिक शक्ति के द्वारा खबरें प्राप्त करते हैं तथा भविष्य में होने वाली खूनी क्रांति को रोकने के लिए उत्सुक हैं। लेकिन वाइसराय बार–बार ह्यूम से कहते रहे कि उनके पास इन बातों का सबूत क्या है?

सुरक्षा बाल्ब के पक्ष में डब्लू0सी0 बनर्जी का बयान– डब्लू0सी0 बनर्जी साहब ने 1898 ई0 में एक बयान दिया जिसमें उन्होंने कहा कि कांग्रेस का गठन डफरिन की देन है। डफरिन ने ह्यूम से एक ऐसा संगठन बनाने को कहा, जो राजनीति पर चर्चा करे जिससे सरकार को भारतीय जनता के विचारों की जानकारी मिलती रहे। डफरिन का मानना था कि इस तरह का संगठन भारत में वही भूमिका निभा सकता है जो इंग्लैण्ड में विपक्ष निभा रहा है। लेकिन डब्लू0सी0 बनर्जी की बात तथ्यों से मेल नहीं खाती तथा समसामयिक तथ्य बनर्जी साहब के निष्कार्षो के ठीक विपरीत बात बताते हैं।

सुरक्षा बाल्ब की सच्चाई तथा ह्यूम की भूमिका– कुल मिलाकर 'सेफ्टी बाल्ब' का सिद्धान्त सच्चाई का बहुत छोटा अंश है और यह पूरी तरह अपर्याप्त और भ्रामक है। राष्ट्रीय कांग्रेस सबसे बढ़कर राजनीतिक चेतना प्राप्त भारतीयों की इस आशा का प्रतिनिधित्व करती थी कि उनकी आर्थिक और राजनीतिक प्रगति के लिए कार्यरत एक पूर्णकालिक राष्ट्रीय संगठन बनाया जाए। हम पहले ही देख चुके हैं कि कुछ जबर्दस्त शक्तियों के कार्यरत होने के परिणामस्वरूप देश में राष्ट्रीय आंदोलन पहले से ही फैल रहा था। इस आंदोलन के जन्म के लिए किसी एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों को श्रेय नहीं दिया जा सकता। ह्यूम के अपने उद्देश्य भी मिले जुले थे। वे 'सेफ्टी बाल्ब' बनाने के विचार से कहीं अधिक श्रेष्ठ विचारों से प्रेरित थे। वे भारत तथा उसके गरीब किसानों से सचमुच प्यार करते थे। कुछ भी हो, राष्ट्रीय कांग्रेस को जन्म देने में जिन भारतीय नेताओं ने ह्यूम से सहयोग किया वे ऊँचे चरित्र वाले देशभक्त लोग थे। दादा भाई नौरोजी, न्यायमूर्ति राणाडे, फिरोजशाह मेहता, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी जैसे उत्साही तथा प्रतिबद्ध नेताओं ने ह्यूम से सहयोग लिया क्योंकि वे शुरू–शुरू में सरकार से दुश्मनी नहीं मोल लेना चाहते थे। अगर ह्यूम जैसा अंग्रेज अधिकारी कांग्रेस का संगठनकर्ता है तो सरकारी हमले की गुजाइश कम होगी, ऐसा राष्ट्रवादी उदारवादी नेताओं की मंशा थी। दूसरे शब्दों में अगर ह्यूम और दूसरे अंग्रेज उदारवादियों ने कांग्रेस का इस्तेमाल 'सुरक्षा बाल्ब' के तौर पर करना चाहा हो तो कांग्रेस के नेताओं ने उनका साथ इस आशा में पकड़ा था कि ये लोग कांग्रेस के लए 'तड़ित चालक' जैसा काम करेगें और आंदोलन पर गिरने वाली सरकारी दमन की बिजली से उसे बचा सकेंगे। और जैसा कि बाद के हालात गवाह हैं, इस मामले में कांग्रेस के नेताओं का अंदाजा और उम्मीदें ही सही निकली।

कांग्रेस की स्थापना का सच– 1885 ई0 में कांगेस की स्थापना न तो अप्रत्याशित घटना थी और न ही कोई ऐतिहासिक दुर्घटना। 1860 और 1870 ई0 के दशक से ही भारतीयों में राजनीतिक चेतना पनपने लगी थी। कांग्रेस की स्थापना इस बढ़ती चेतना की पराकाष्ठा थी। 1870 ई0 के दशक के अंत में और 1880 ई0 के देश के शुरू में भारतीय जनता राजनीतिक तौर पर काफी जागरूक हो चुकी थी। 1885 ई0 में इस राजनीतिक चेतना ने करवट बदली। भारतीय राजनीति में सक्रिय बुद्धिजीवी राष्ट्रीय हितों के लिए राष्ट्रीय स्तर पर संघर्ष करने को छटपटाने लगे। उनके इस प्रयास को सफलता मिली। एक 'राष्ट्रीय दल' का गठन हुआ– एक ऐसा दल, जो राष्ट्रीय चेतना का प्रतीक था, भारतीय राजनीति के लिए एक प्लेटफार्म, एक संगठन, एक मुख्यालय।

1875 से 1885 ई0 के दौरान जो नई राजनीतिक चेतना पनपी, वह मुख्यतः युवा वर्ग की देन थी। ये युवा वर्ग ज्यादा लड़ाकू और राष्ट्रवादी थे। उन्हें लगता था कि पुराने संगठन दकियानूसी हो गये हैं, उनका जनाधार भी ठोस नहीं है। यही

कारण है कि बंगाल में 'इंडियन एसोसियेशन', मद्रास में 'मद्रास महाजन सभा' तो महाराष्ट्र में 'बाम्बे प्रेसिडेसी एसोसियेशन' का गठन हुआ। 1885 ई0 के आते–आते एक अखिल भारतीय संगठन का जन्म अवश्यमभावी हो गया। इस प्रकार स्पष्ट है कि कांग्रेस की स्थापना 1885 ई0 के पहले के कुछ वर्षो से देश में चल रहे राजनीतिक क्रियाकलाप और गतिविधियों की स्वाभाविक परिणति थी।

यह सच है कि कांग्रेस की स्थापना का श्रेय एक सेवानिवृत्त अंग्रेज प्रशासक ए0ओ0 ह्यूम को जाता है। 1 मार्च 1883 को ह्यूम ने कलकत्ता विश्वविद्यालय के स्नातकों के नाम एक पत्र लिखा जिसमें उन्होंने सबसे मिलजुलकर स्वाधीनता के लिए प्रयत्न करने की अपील की। उन्होंने प्रमुख भारतीय नेताओं से सम्पर्क किया और उनके सहयोग से दिसम्बर 1885 ई0 में बंबई में गोकुल दास तेजपाल संस्कृत कालेज भवन में भारतीय कांग्रेस के पहले अधिवेशन का आयोजन किया। इसकी अध्यक्षता डब्लू0सी0 बनर्जी ने की तथा उसमें 72 प्रतिनिधि शामिल थे। वास्तव में, कांग्रेस शब्द उत्तरी अमेरिका के इतिहास से लिया गया जिसका अर्थ है 'लोगों का समूह।'

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के लक्ष्य एवं उद्देष्य– 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में भारत ने राष्ट्र बनने की प्रक्रिया के रास्ते पर कदम बढ़ाना प्रारंभ कर दिया था। भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के प्रणेताओं के सामने पहला लक्ष्य यही था कि भारतीयों को एक राष्ट्र रूप में जोड़ने और भारतीय जनता के रूप में उनकी पहचान बनाने के यह प्रक्रिया आगे बढ़ाई जाए।

शुरूआती दौर में कांग्रेस का दूसरा महत्वपूर्ण लक्ष्य था कि एक ऐसा राजनीतिक मंच या राष्ट्रीय कार्यक्रम बनाया जाए जिसके तहत देश के विभिन्न भागों में काम कर रहे राजनीतिक कार्यकर्ता इकट्ठे होकर अखिल भारतीय स्तर पर अपनी राजनीतिक गतिविधियॉ चला सकें तथा लोगों को शिक्षित एवं संगठित कर सकें। इसी कारण कांग्रेस ने सामाजिक सुधार का सवाल नहीं उठाया। कांग्रेसी नेताओं के सामने सबसे बड़ा और पहला काम था जनता को राजनीतिक रूप से शिक्षित करना, प्रशिक्षित करना, संगठित करना और जनमत तैयार करना।

कांग्रेस का अगला लक्ष्य था– नेतृत्व की तलाश। कांग्रेस के संस्थापक समझ गए थे कि राष्ट्रीय नेतृत्व को जन्म देने की जरूरत है। शुरू में राष्ट्रीय नेताओं का मुख्य उद्देश्य राजनीतिक लोकतंत्र का अन्तर्राष्ट्रीयकरण तथा स्वदेशीकरण था जो जनता की प्रभुसत्ता पर आधारित था।

सारांश यह है कि अपने प्रारंभिक दौर में राष्ट्रवादी नेताओं के बुनियादी लक्ष्य ये थे कि सबसे पहले एक धर्म निरपेक्ष और लोकतांत्रिक राष्ट्रीय आंदोलन की नींव रखी जाए, जनता में राजनीतिक चेतना पैदा की जाए तथा उसे राजनीतिक रूप से शिक्षित किया जाए, आंदोलन का एक मुख्यलाय बनाया जाए तथा उपनिवेशवाद के

खिलाफ एक राष्ट्रीय विचारधारा का विकास किया जाए।

इस प्रकार 1885 ई0 में बंबई में कांग्रेस की स्थापना के साथ भारत का स्वतंत्रता आंदोलन लघु पैमाने पर तथा मंद गति से लेकिन एक संगठित रूप में शुरू हुआ तथा साल–दर–साल शक्ति ग्रहण करता गया एवं धीरे–धीरे उसने सभी भारतीयों को विदेशी सत्ता के विरूद्ध संघर्ष करने के लिए अपने दायरे में ले लिया।

6. उपसंहार

भारतीय राष्ट्रवाद आधुनिक भारतीय इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना है। अंग्रेजों के शासन की स्थापना के पूर्व सही अर्थ में भारत में राष्ट्रीय भावना का निर्माण नहीं हो पाया था। जिस समय अंग्रेज यहाँ आए उस समय भारत एक राष्ट्र भी नहीं था, क्योंकि भारतीय संदर्भ में राष्ट्रवाद आधुनिक युग की चीज है। 19वीं शताब्दी में भारत में जो धार्मिक, सामाजिक, बौद्धिक एवं वैज्ञानिक प्रगति हुई उसका प्रभाव राजनीतिक जीवन पर पड़ा तथा एक नये भारत का जन्म हुआ। जैसे–जैसे भारत में अंग्रेजी साम्राज्य का विस्तार होता गया वैसे–वैसे अंग्रेजों के विरूद्ध असंतोष की भावना बढ़ती गई। इसी के फलस्वरूप 1857 ई0 में सैनिक क्रांति का विस्फोट हुआ। परन्तु सामंतवादी व्यवस्था से नहीं उबर पाने के कारण उसे बुरी तरह कुचल दिया गया। फिर भी, असंतोष की ज्वाला जलती ही रही। निरंकुश विदेशी शासन के अनैतिक प्रभावों ने कुछ ऐसी परिस्थितियों को जन्म दिया जो भारत में राष्ट्रीय जागरण पैदा करने में सहायक सिद्ध हुई। 1870 ई0 के बाद राजनैतिक और आर्थिक असंतोष व्यापक रूप लेने लगा जिसकी चरम सीमा 1885 ई0 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के रूप में प्रकट हुई। अखिल भारतीय स्तर पर यह भारतीय राष्ट्रवाद की पहली सुनियोजित अभिव्यक्ति थी। एक अवकाश प्राप्त अंग्रेज आइ0सी0एस0 अधिकारी ए0ओ0 ह्यूम ने इसकी स्थापना में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। कांग्रेस के कुशल नेतृत्व में भारतीय राष्ट्रवाद धीरे–धीरे मुखरित होने लगा तथा स्वशासन, स्वराज तथा विभिन्न राष्ट्रीय आंदोलनों द्वारा ब्रिटिश हुकुमत की नींद उड़ा दी।

7. बोध प्रश्न

(1) भारतीय राष्ट्रवाद की उत्पत्ति के कारणों पर प्रकाश डालें।

(2) राष्ट्रवाद की पृष्ठिभूमि पर प्रकाश डालें। क्या भारत में राष्ट्रवाद ब्रिटिश शासन की देन है?

(3) कांगेस की स्थापना के कारणों पर प्रकाश डालें। इसके प्रारंभिक लक्ष्यों की व्याख्या करें।

(4) कांग्रेस की उत्पत्ति में सहायक प्रमुख तत्वों की व्याख्या करें तथा ह्यूम की भूमिका पर प्रकाश डालें।

(5) कांग्रेस की उत्पत्ति में 'सेफ्टी बाल्ब का सिद्धान्त' कहॉ तक उपयोगी है? समीक्षा करें।

8. संदर्भ ग्रन्थ

(i) सं0 सत्या, एम0राय : *भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद,* हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

(ii) विपिन चन्द्र : *भारत का स्वतंत्रता संघर्ष* Rise and Growth of Economic Nationalism in India

(iii) राम लखन शुक्ल : *आधुनिक भारत का इतिहास*

(iv) डॉ0 राजीव नयन प्रसाद : *आधुनिक भारत का इतिहास*

(v) Anil Seal : The Emergence of Indian Nationalism; Competition and Collaboration in the Latter 19th Century. (Cambridge, 1968)

(vi) डॉ0 राम विलाश शर्मा : *स्वाधीनता संग्राम के बदलते परिप्रेक्ष्य,* हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

इकाई–3

उदारवादी राष्ट्रवाद का युग

इकाई की रूपरेखा :

1. उद्देश्य
2. प्रस्तावना
3. पृष्ठभूमि
   - 3.1 कांग्रेस पर उदारवादी वुद्विजीवियों का प्रभुत्व
   - 3.2 क्रमिक और संवैधानिक नीतियों में विश्वास
4. उदारवादियों की नीति तथा कार्यक्रम
   - 4.1 साम्राज्यवाद की अर्थशास्त्रीय आलोचना
   - 4.2 संवैधानिक सुधारों की मांग
   - 4.3 प्रशासकीय सुधारों की मांग
   - 4.4 उदारवादियों का इंग्लैंड में प्रचार
   - 4.5 कल्याणकारी उपायों की मांग
5. कांग्रेस के प्रति विभिन्न वर्गों तथा सरकार की प्रतिक्रिया
   - 5.1 कांग्रेस का संकुचित सामाजिक आधार
   - 5.2 सरकार द्वारा ''सुक्ष्मदर्शी अल्प संख्या'' का प्रतिनिधित्व करने वाली संस्था बतलाना
6. उदारवादियों की उपलब्धियों का आलोचनात्मक मूल्यांकन
   - 6.1 'राजनीतिक भिक्षावृत्ति' की नीति का खंडन
   - 6.2 'धन निकास का सिद्धान्त' (Drain Theory) का महत्व
   - 6.3 'भारत सेवक मंडल' की स्थापना से राष्ट्रवाद का प्रचार
7. उपसंहार
8. बोध प्रश्न
9. संदर्भ ग्रन्थ

1. उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप–

- प्रारंभिक उदारवादी नेताओं के विषय में जान सकेंगे।
- भारतीय राष्ट्रवाद के प्रथम चरण के इतिहास, उदारवादियों की नीति तथा कार्यक्रम की समुचित व्याख्या की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- उदारवादियों की उपलब्धियों का आलोचनात्मक मूल्यांकन कर पाएँगे, तथा
- राष्ट्रीय आर्थिक सिद्धान्त या धन निकासी के सिद्धान्त की व्याख्या से स्वयं को अवगत करा पाऐंगे।

2. प्रस्तावना

19वीं सदी के उत्तरार्ध में भारतीय राष्ट्रवाद मुखरित होने लगा जिसकी चरम परिणति 1885ई0 में भारतीय राष्ट्रीय कांगेस की स्थापना में दिखाई पड़ी। 1885 से 1905 तक भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का इतिहास उदारवादियो का इतिहास है। निश्चय ही इस कालावधि में कांग्रेस के सदस्यों एवं गतिविधियो की पद्धतियों में मोटे तौर पर एकता देखी जा सकती है। प्रत्येक अधिवेशन के अन्त में प्रायः तीन शिकायतों से जुडे प्रस्ताव पास किए जाते थे – राजनीतिक, प्रशासनिक एवम् आर्थिक। लेकिन इसका तात्कालिक परिप्रेक्ष्य स्वायत्त शासन अथवा जनतंत्र की कल्पना से दूर था। 1892 तक कांग्रेस पर ह्यूम छाये रहे जिनकी उपस्थिति ने इस संगठन को एक गतिशीलता प्रदान की एवम् नरम पंथियों में नवजीवन का संचार किया। परन्तु इस काल के अंतिम वर्षों में कर्जन की भड़काने वाली नीतियों के साथ ही गोखले के रुप में एक ऐसे नेता के उदय भी हुआ जो आकर्षक व्यक्तित्व के धनी थे, युवा थे, और जिनमें आत्मत्याग की भावना तथा पूर्ण कालिक जन सेवा के प्रति निष्ठा थी। उनकी संसदीय अभिव्यक्ति पर लोगों को गर्व था। ब्रिटिश शासन के देशभक्त ये नेता संवैधानिक तरीको में विश्वास करते थे जिसके कारण उग्रवादियों ने इनकी नीति को 'राजनितिक भिक्षावृत्रि' का नाम दिया तथा इनके उपलब्धियों की निंदा की। तथापि ये महान देश भक्त थे जिन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन की नींव रखी, अंग्रेजी साम्राज्य के भारत पर आर्थिक प्रभाव का मूल्यांकन किया तथा भारत में एकता की भावना विकसित करने के हर संभव उपाय किए। कांग्रेस ने पहली बार राष्ट्रीय मांगो के समर्थन में प्रस्ताव पेश किये। वस्तुतः इस इकाई में आप 1885 से 1905 ई0 तक उदारवादी राष्ट्रवादियों की उपलब्धियों एवं नीतियों का आलोचनात्मक अध्ययन करेंगे।

3. पृष्ठभूमि

1885 ई0 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के साथ ही संगठित रुप में

विदेशी शासन से भारत की मुक्ति का संघर्ष आरम्भ हो गया। 1885 से 1905 ई0 तक भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस पर जिन उदारवादी वुद्विजीवियों का प्रभुत्व था वे भारतीय राष्ट्रवाद के प्रथम चरण के नेता थे। इनमें बंगाल के डब्लू0 सी0 बनर्जी, आनंद मोहन बोस, लाल मोहन घोष, ए0सी0 मजूमदार, रास बिहारी घोष, सुरेन्द्र नाथ बनर्जी, रमेश चन्द्र दत्त, बंबई के दादा भाई नौरोजी, फिरोजशाह मेहता, बदरुद्दीन तैयबजी, के0 टी0 तेलंग, माधव गोविन्द राणाडे, गोपाल कृष्ण गोखले, डी0ई0 वाचा और चंद्रावरकर, मद्रास के पी0आर0 नायडू, सुब्रह्मण्यम अय्यर, पी0 आंनद चारलू तथा केशव पिल्ले तथा उतर प्रदेश के पंडित मदन मोहन मालवीय जैसे लोग थे। कांग्रेस और इसके क्रियाकलाप के विकास में विदेशियों में हयूम, बेडरबर्न तथा हेनरी कांटन जैसे उदारवादी लोगों ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। भारतीय आन्दोलन के शुरुआती दौर के नेताओं को नरमपंथी भी कहा जाता है।

उदारवादियों को यह श्रेय भी है कि उन्होंने 19वीं सदी के अपने समकालीन अन्य आन्दोलन के मुकाबले सबसे पहले उपनिवेशवाद के आर्थिक पहलुओं को विश्लेषित किया जो संभवतः राष्ट्रीय आन्दोलन के विकास में इन नेताओं का सबसे महत्वपूर्ण योगदान था। राष्ट्रवादी आन्दोलन की नींव रखने में इस आर्थिक समीक्षा और उससे जुड़े दूसरे मुद्दों को बड़े पैमाने पर प्रचारित किया गया। भाषणों, परचों, अखबारों, नाटकों, गीतों तथा प्रभातफेरियों के जरिए जन–जन तक यह बात पहुॅचाई गई कि उपनिवेशवाद किस तरह से हर स्तर पर आर्थिक शोषण करता है। उदारवादी नेता अपनी राजनीति की व्याख्या उदारवाद और संयम के समन्वय से करते थे। ये लोग भारतीयों के लिए धर्म और जाति के पक्षपात का अभाव, मानव के समानता, कानून के सामने बराबरी, नागरिक स्वतंत्रताओं का प्रसार और प्रतिनिधि संस्थाओं के विकास की इच्छा करते थे। इस प्रकार उदारवादी दल क्रमिक (Gradualism) और संवैधानिक नीतियों (Constitutional methods) में विश्वास करता था। अतः नरमपंथियों की राजनीतिक पद्वति को संक्षेप में ''कानून की सीमा में रह कर संवैधानिक आन्दोलन तथा धीरे–धीरे व्यवस्थित दंग से राजनीतिक प्रगति'' जैसे शब्दों में रखा जा सकता है। इस दृष्टिकोण से उनके राजनितिक कार्य की दो दिशाएॅ थी– प्रथम भारत की जनता में राजनितिक चेतना तथा राष्ट्रीय भावना जगाने के लिए एक शक्तिशाली जनमत तैयार करना तथा द्वितीय जनता को राजनीतिक प्रश्नों पर शिक्षित तथा एकताबद्व करना। राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रस्ताव तथा प्रार्थना पत्र भी मूलतः इन्हीं लक्ष्यों द्वारा निर्देशित थे।

4. उदारवादियों की नीति तथा कार्यक्रम

उदारवादियों की नीति– जहाँ तक भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के उदारवादियों की नीति का प्रश्न था उन्हें नियमबद्व प्रगति में आस्था थी। वे विकास की धीमी गति में विश्वास करते थे और क्रांतिकारी परिवर्तन के विरुद्व थे। ब्रिटिश राष्ट्र के सहयोग

और सहायता से भारत के क्रमिक विकास में विश्वास करने वाले इन उदारवादियों ने क्रांतिकारी आकस्मिक परिवर्तन और उसकी कार्य प्रणाली को स्वीकार नहीं किया और अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए इन्होंने वैद्यानिक आन्दोलन का रास्ता अपनाया । इनका ख्याल था कि इसके जरिए वे एक तरफ तो जनजागरण और जन शिक्षा का विकास कर सकेंगे और दूसरी तरफ अंग्रजो को यह समझा सकेंगे कि भारतीय जनता की मांगें न्यायसंगत हैं और उनकी पूर्ति प्रशासन का जनतांत्रिक कर्तव्य है। संवैधानिक एकता जिनके हाथों में है उनके कार्य और सहयोग द्वारा वांछित परिवर्तन लाने के लिए वैद्यानिक संघर्ष करने का उन्हें अधिकार था। उन्हें केवल तीन बातों की मनाही थी– विद्रोह, विदेशी आक्रमण को सहायता या उसे प्रश्रय देना तथा अपराध का रास्ता अख्तियार करना। राजनीति के बारे में अपनी अनेक गलत धारणाओं के वावजूद भारतीय उदारवादी भारत में आधुनिक बुर्जुआ समाज के हितों का प्रतिनिधित्व कर रहे थे और इस तरह उनकी भूमिका प्रगतिशील थी।

उदारवादी दल क्रमिक और संवैधानिक नीतियों में विश्वास करता था। माधव गोविन्द राणाडे ने लिखा, ''संयम का अर्थ यह कि उस वस्तु की अथवा उन आदेशों की झूठी आशा ही मत करो जो मिलनी असंभव है, अपितु समीपतम वस्तु की ओर समझौते और न्यायसंगत भावना से प्रेरित होकर दिन प्रतिदिन आगे बढते जाओ।''

कांग्रेस के नेता अंग्रेजी, इतिहास और संस्कृत से बहुत प्रभावित थे और अंग्रेजी सम्पर्क को ईश्वर की अन्नय कृपा मानते थे। उन्हें पूर्ण विश्वास था कि अंग्रेजी शासन भारत के हित में है। अतएव वे लोग अंग्रेजी सरकार को शत्रु नहीं अपना मित्र समझते थे। वे आशा करते थे कि कालान्तर में अंग्रेज उन्हें अपनी परम्पराओं के अनुसार शासन के योग्य बना देंगे। 1886 ई0 में दादा भाई नौरोजी ने कांग्रेस के अध्यक्ष पद से भाषण देते हुए अंग्रेजी राज के लाभों का सविस्तार वर्णन किया और प्रतिनिधियों ने जोर–जोर से तालियॉ बजा कर उसका अनुमोदन किया। हयूम साहब के कहने पर सम्मेलन ने महारानी विक्टोरिया के लिए तीन बार जयध्वनि की और उनकी दिर्घायु के लिए प्रार्थना की। इसी प्रकार आनंद मोहन बोस ने कांग्रेस के अध्यक्ष के रुप 1898 ई0 में यह घोषणा की कि, ''शिक्षित वर्ग इंग्लैंड का शत्रु नहीं अपितु उसके सम्मुख बड़े कार्य में उसका प्राकृतिक और आवश्यक सहयोगी है।'' अतएव यह समझा जाता था कि भारत की उन्नति में बाधा अंग्रेजी उनिवेशवादी नीति नहीं अपितु भारतीयों का सामाजिक और आर्थिक पिछड़ापन था।

अपने इसी सोच के कारण यह उदारवादी दल अंग्रेजी साम्राज्य के बने रहने, अपितु उसको सुदृढ करने के पक्ष में था। उन्हें यह भी डर था कि अंग्रेज के जाने पर देश में अव्यवस्था फैल जाएगी। उनकी नजर में अंग्रेजी राज्य शासन और व्यवस्था का द्योतक था इसलिए भारत में लम्बे समय तक उसका बना रहना परम आवश्यक हैं। इसी भावना को व्यक्त करते हुए गोपाल कृष्ण गोखले ने कहा, ''अंग्रेज नौकरशाही कितनी ही बुरी क्यों न हो... परन्तु आज केवल अंग्रेज ही व्यवस्था बनाये

रखने में सफल हैं और व्यवस्था के विना कोई भी उन्नति सम्भव ही नहीं।''

भारतीय उदारवादियों को ब्रिटेन से यह उम्मीद थी कि देश के सामाजिक और सांस्कृतिक पिछड़ेपन को दूर करने और यहॉ प्रतिनिधि सरकार के कार्य में जनता को प्रशिक्षित करने में वह पथ प्रदर्शन करेगी। भारतीय उदारवादियों ने भारत और ब्रिटेन के हितों को विरोधी के बदले सहयोगी माना। इसलिए वे राजभक्त थे और ब्रिटेन से संबंध बनाए रखने की आवश्यक्ता पर जोर देते थे।

इन उदारवादियों ने यह भी माना कि कांग्रेस जनसाधारण का प्रतिनिधित्व नहीं कर रही थी, केवल उसकी शिकायतों की व्याख्या कर रही थी। कांग्रेस वस्तुतः जनसाधारण की आवाज नहीं बुलंद कर रही थी, लेकिन कांग्रेस के मतानुसार शिक्षित भारतीयों का यह कर्तव्य था कि वे जनसाधारण की तकलीफों की व्याख्या करे और उनको खत्म करने के लिए अपनी राय दें।

भारत जैसे विशाल देश में राष्ट्रीय आन्दोलन के विकास के लिए एकता का होना महत्वपूर्ण था और इस बात को समझते हुए भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नेताओं ने भारत में एकता की भावना को विकसित करने के हर संभव उपाय किए। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने इटली की एकता का उदाहरण देते हुए कहा कि, ''जब समूचा भारत प्रेम, सद्भाव और सम्मान के तीन बंधकों में जुड़ जायेगा तो भारतीय महत्ता का दिन दूर नहीं।''

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के उदारवादी इन्हीं नीतियों के आधर पर अपने कार्यक्रम को आगे बढ़ाने का कार्य किए।

उदारवादियों के कार्यक्रम या क्रियाकलाप– भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के आरंभ के राष्ट्रवादी नेताओं का विश्वास था कि देश की राजनीतिक मुक्ति के लिए सीधी लड़ाई लड़ना अभी व्यवहारिक नहीं है। व्यवहारिक यह था कि अभी राष्ट्रीय भावना को जगाया तथा मजबूत किया जाए, बड़ी संख्या में भारतीय जनता को राष्ट्रवादी राजनिति की धारा में लाया जाए और राजनीतिक आंदोलन के लिए उन्हें शिक्षित किया जाए। इस संबंध मे पहला महत्वपूर्ण कार्य राजनीतिक प्रश्नों में जनता की रुचि विकसित करना तथा देश में जनमत का संगठन करना था। दूसरा कार्य राष्ट्रीय स्तर पर लोकप्रिय मांगो का निरुपण किया जाना था ताकि उभरते हुए जनमत को एक अखिल भारतीय स्वरुप मिल सके। सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि पहले पहल राजनीतिक चेतना प्राप्त भारतीयों तथा राजनितिक कार्यकर्ताओं और नेताओं में राष्ट्रीय एकता पैदा की जाए।

कांग्रेस के पहले अधिवेशन में सभापति डब्लू सी0 बनर्जी के अनुसार कांग्रेस के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित थे–

1. देश के हितों की रक्षा करने वाले भारतीयों के बीच सम्पर्क और मित्रता

बढ़ाना।

2. देशप्रेमियों के बीच जाति, सम्प्रदाय तथा प्राचीन पक्षपातों की भावना को दूर करके उनमें राष्ट्रीय एकता की भावना को विकसित करना ।

3. शिक्षित वर्ग की पूर्ण सम्मति से महत्वपूर्ण और आवश्यक सामाजिक विषयों पर विचार प्रकट करना।

4. यह निर्धारित करना कि आगामी वर्षो में भारतीय लोकहित के लिए किस दिशा में और किस आधार पर कार्य करें।

इस प्रकार देखा जाय तो पहले अधिवेशन की मांग काफी संतुलित थी। इसके पहले अधिवेशन में बंबई में सिर्फ 72 सदस्य थे और उस समय कांग्रेस का न कोई अपना संविधान था और न ही कोई नियमावली थी। लेकिन आने वाले वर्षो में इस दिशा में विकास हुआ। 1894 ई0 तक मद्रास अधिवेशन में जिसकी अध्यक्षता अल्फ्रेड वेव ने की, कांग्रेस के सदस्यों की संख्या बढ़कर 1163 हो गई। संक्षेप में उदारवादियों की उपलब्धियों एवं कार्यक्रमों की विवेचना अग्रलिखित है–

4.1 साम्राज्यवाद की अर्थशास्त्रीय आलोचना

साम्राज्यवाद की अर्थशास्त्रीय आलोचना आरंभिक राष्ट्रवादियों का संभवतः सबसे महत्वपूर्ण राजनीतिक कार्य था। उन्होंने तत्कालीन औपनिवेशिक आर्थिक शोषण के तीनों रुपों– व्यापार, उद्योग तथा वित्त के द्वारा किए जा रहे शोषण की आलोचना की। उन्होंने अच्छी तरह समझा कि ब्रिटेन के आर्थिक साम्राज्यवाद का मूल तत्व भारतीय अर्थव्यवस्था को ब्रिटिश अर्थव्यवस्था के अधीन बनाना था। भारत में एक औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था के मूल तत्वों को विकसित करने के लिए ब्रिटिश प्रयासों का उन्होंने तीखा विरोध किया। ये तत्व थे– भारत को कच्चा माल पैदा करने वाले देश, ब्रिटिश उद्योगों में तैयार माल के लिए मंडी तथा विदेशी पूंजी के निवेश के क्षेत्र के रुप में भारत का रुपान्तरित करना। उन्होंने औपनिवेशिक ढाँचे पर आधारित सरकार की लगभग सभी महत्वपूर्ण आर्थिक नीतियों के खिलाफ एक शक्तिशाली आंदोलन खड़ा किया। आरंभिक राष्ट्रवादी भारत की बढ़ती गरीबी तथा आर्थिक पिछड़ेपन और यहाँ आधुनिक उद्योग धंधो तथा कृषि के विकास की असफलता को लेकर दुःखी थे। उन्होंने अंग्रेजो द्वारा भारत के शोषण को इसके लिए जिम्मेदार ठहराया। दादा भाई नौरोजी ने 1881 में कहा था कि ब्रिटिश शासन ''एक स्थायी तथा लगातार बढ़ता हुआ विदेशी आक्रमण है जो धीरे–धीरे ही सही मगर पूर्ण तरह देश को नष्ट कर रहा है।''

दादा भाई नौरोजी ने अपनी पुस्तक *'पावर्टी एण्ड अन–ब्रिटिश रुल इन इंडिया'* (Poverty and Un-British Rule in India, 1901) में ब्रिटिश शासन की आर्थिक कुरीतियों का वर्णन किया। उन्होंने इस पुस्तक में भारत के धन चूसने के

सिद्धांत अथवा धन वर्हिगमन का सिद्धांत (Drain of Wealth) की विस्तृत व्याख्या की है। उन्होंने एक सीधे–सपाट शब्दों में आवाज उठाई– 'पूजी निकास बंद हो।' दादा भाई नौरौजी इस मुद्दे को व्यापक आयाम देने में जुटे रहे। उन्होंने सरकार को लिखा, ''आज ब्रिटेन के शासन में कौन भारतीय सुरक्षित है, किसकी संपत्ति सुरक्षित है? अगर कोई सुरक्षित है तो वह है इंग्लैण्ड... हर साल भारत से 30 से 40 करोड़ पौंड मूल्य की संपत्ति वहॉ ले जाई जा रही है। भारत के लाखों लोग आधे पेट रह रहे हैं या अकाल या रोगों से मर रहे हैं।''

भारत के परम्परागत हस्त उद्योगों को नष्ट करने तथा आधुनिक उद्योगों के विकास में बाधा डालने के लिए सरकार की नीतियों की भी राष्ट्रवादियों ने खुली आलोचना की। उनमें अधिकांश ने भारतीय रेलवे, वागानों तथा उद्योगों में विदेशी पूंजी के भारी निवेश का विरोध किया। उन्हें विश्वास था कि विदेशी पूँजी के निवेश से मौजूदा पीढ़ी ही नहीं बल्कि भावी पीढ़ियों के लिए भी गंभीर आर्थिक और राजनीतिक खतरे पैदा होंगे। उन्होंने बताया की भारत की निर्धनता को दूर करने का उपाय आधुनिक उद्योगों का तीव्र विकास है। वे चाहते थे कि सरकार पूँजी द्वारा संरक्षण तथा प्रत्यक्ष आर्थिक सहायता देकर आधुनिक उद्योगों को सहायता दे। भारतीय उद्योगों को बढ़ावा देने के लिए उन्होंने स्वदेशी मालों के उपयोग तथा ब्रिटिश मालों के बहिष्कार के विचार को प्रोत्साहित किया। उदाहरण के लिए 1896 ई0 में एक व्यापक स्वदेशी कार्यक्रम के अंग के रुप में पूना तथा महाराष्ट्र में दूसरे नगरों में विदेशी वस्त्रों की खुलेआम होली जलाई गई।

उदार राष्ट्रवादियों की शिकायत थी कि भारत की दौलत इंग्लैण्ड ले जाई जा रही है और उन्होंने इस दोहन को रोकने की मांग की। किसानों पर करों का बोझ कम करने के लिए उन्होंने जमीन की मालगुजारी घटाने के सवाल पर निरंतर आंदोलन चलाया। बगान मजदूरों के काम की परिस्थितियों में सुधार के लिए राष्ट्रवादियों ने आंदोलन किए। उन्होंने भारी करों को भारत की गरीबी का एक कारण बताया और नमक कर खत्म करने तथा जमीन की मालगुजारी घटाने की मांग की।

आर्थिक प्रश्नों पर राष्ट्रवादी आंदोलन के कारण अखिल भारतीय स्तर पर यह विचार फैला कि ब्रिटिश शासन भारत के शोषण पर आधारित है, भारत को गरीब बना रहा है तथा आर्थिक पिछड़ापन तथा अंधविश्वास पैदा कर रहा है। इस प्रकार उदारवादियों ने साम्राज्यवाद के आर्थिक पहलू की कड़ी आलोचना करके लोगों में आर्थिक चेतना पैदा की। इन उदारवादियों के आर्थिक प्रवक्ता दादा भाई नौरोजी, माधव गोविन्द राणाडे, गोपाल कृष्ण गोखले तथा रमेशचन्द्र दत, इत्यादि ने अंग्रेजो द्वारा भारत के आर्थिक शोषण को भारत की गरीबी का कारण माना। इन लोगों ने देश में आर्थिक राष्ट्रवाद की भवना को विकसित किया। आर्थिक मुद्दों को लेकर चले आंदोलन ने भारतीय जनमानस पर हावी विदेशी शासकों की विचारधारा की जड़े

खोदने में महत्वपूर्ण योगदान किया तथा इससे औपनिवेशिक शासन की बुनियाद को गहरा धक्का लगा। 20वीं सदी के राष्ट्रवादियों ने उपनिवेशवादी अर्थतंत्र के सही विश्लेषण को अपने आंदोलन का आधार बनाया।

4.2 संवैधानिक सुधारों की मांग

राष्ट्रवादियों का आरम्भ से ही यह विश्वास था कि भारत में अंततः लोकतांत्रिक शासन लागू होना चाहिए, लेकिन उन्होंने इस लक्ष्य को तुरन्त प्राप्त किये जाने की मांग नहीं की। उनकी तत्काल मांगे अत्यन्त साधारण थीं। वे एक–एक कदम उठाकर स्वाधीनता की मंजिल तक पहुँचना चाहते थे। वे इस बात से सावधान थे कि कहीं सरकार उनकी गतिविधियों को कुचल न दे। उन्होंने 1885 से 1892 ई0 तक विधायी परिषदों के प्रसार और सुधार की मांगे उठाई। उन्हीं के आंदोलन के दबाव से सरकार को 1892 ई0 का भारतीय परिषद कानून पास करना पड़ा। इस कानून द्वारा शाही विधायी परिषद् तथा प्रान्तीय परिषद में सदस्यों की संख्या बढ़ा दी गई। इनमें से कुछ सदस्यों को भारतीय अप्रत्यक्ष चुनाव द्वारा चुन सकते थे, मगर बहुमत सरकारी सदस्यों का ही था। राष्ट्रवादी 1892 के सुधार से पूरी तरह असन्तुष्ट थे तथा उन्होंने इसे मजाक बताया।

अतः राष्ट्रवादियों ने परिषदों में भारतीय सदस्यों की संख्या बढ़ाने तथा उन्हें अधिक अधिकार दिए जाने की मांग उठाई। खास तौर पर उन्होंने सार्वजनिक धन पर भारतीयों के नियंत्रण की मांग की तथा वह नाम दिया जो इससे पहले अमरीकी जनता ने अपने स्वाधीनता संग्राम के दौरान लगाया था। वह नारा था ''प्रतिनिधित्व नहीं तो कर नहीं।'' परन्तु साथ ही साथ यह सत्य है कि वे अपने लोकतांत्रिक मांगों के आधार को व्यापक बनाने में असफल रहे क्योंकि उन्होंने जनता या स्त्रियों के लिए मताधिकार की मांग नहीं की। परन्तु बीसवीं सदी के आरंभ तक राष्ट्रवादी नेता और आगे बढ़ चुके थे और उन्होंने आस्ट्रेलिया तथा कनाडा जैसे स्वशासित उपनिवेशों की तर्ज पर ब्रिटिश साम्राज्य के अन्दर रहकर ही स्वशासन (स्वराज्य) का दावा पेश किया। कांग्रेस के मंच से कलकत्ता अधिवेशन (1906 ई0) में दादा भाई नौरोजी ने सर्वप्रथम स्वराज्य शब्द का प्रयोग करते हुए इसकी मांग की।

4.3 प्रशासकीय सुधारों की मांग

आरंभिक राष्ट्रवादी व्यक्तिवादी प्रशासकीय फैसलों के निर्भीक आलोचक थे। उन्होंने भ्रष्टाचार, निकम्मापन और दमन से ग्रस्त शासन प्रणाली के सुधार के लिए अथक प्रयास किए। वे जो सबसे महत्वपूर्ण प्रशासकीय सुधार चाहते थे उनमें प्रशासकीय सेवाओं के उच्चतर पदों का भारतीयकरण से संबंधित था। उन्होंने यह मांग आर्थिक, राजनैतिक तथा नैतिक आधार पर उठाई थी। आर्थिक दृष्टि से उच्चतर

पदों पर यूरोपीय एकाधिकार दो कारणों से हानिकारक था– (1) यूरोपीय लोगों को बहुत ऊँचे वेतन दिए जाते थे जिससे भारत का प्रशासन खर्चीला हो जाता था, जबकि सामान योग्यता वाले भारतीयों को कम वेतन पर रखा जा रहा था, एवम् (2) यूरोपीय लोग अपने वेतन का एक बड़ा भाग भारत के बाहर भेज देते थे और उनको पेंशन भी इंग्लैंड में दिया जाता था। इससे भारत की संपत्ति का दोहन और बढ़ता था। राजनीतिक दृष्टि से राष्ट्रवादियों का मत था कि इन सेवाओं का भारतीयकरण करने पर प्रशासन भारत की आवश्यकताओं के प्रति सजग होगा। उनका मानना था कि भारतीय प्रशासकों को भारतीय समस्याओं का अधिक ज्ञान होने के कारण वे बेहतर प्रशासक हो सकते थे। उदारवादी नेतृत्व प्रतिनिधि संस्थाओं और चुनाव के सिद्धान्त का समर्थक था इसने जनता द्वारा निर्धारित विधायिका सभाओं और कार्यकारिणी पर विधायिका सभाओं के नियंत्रण की मांग की।

4.4 वैद्यानिक संघर्ष में विश्वास

उदारवादी वैद्यानिक संघर्ष में विश्वास रखते थे लेकिन वे राष्ट्रीय पैमाने पर लगातार इस संघर्ष को संगठित नहीं कर सके। सिर्फ समाचार पत्रों के द्वारा सीमित आधार पर ही वे कुछ हद तक सफल हो सके। इस असफलता का एक मुख्य कारण धन की कमी थी। अभी तक अमीर भारतीय व्यापारी, उद्योगपति और जमींदार आर्थिक रुप से राष्ट्रीय आंदोलन की सहायता नहीं कर रहे थे। अधिकांश राजनैतिक नेताओं को अपनी ही कमाई पर निर्भर रहना पड़ता था जो बहुत कम होती थी।

4.5 न्यायिक सुधारों की माँग

राष्ट्रवादियों की मांग थी कि न्यायिक अधिकारों को कार्यकारी अधिकारों से अलग किया जाए ताकि पुलिस और नौकरशाही के मनमाने अत्याचारों से जनता को सुरक्षा मिले। उन्होंने जनता के साथ पुलिस और दूसरे सरकारी अमलों के दमनकारी और निरंकुश व्यवहार के खिलाफ आंदोलन किए। उन्होंने कानूनी प्रक्रिया में लगने वाली देरी तथा न्याय व्यवस्था में ऊँचे खर्च की भी आलोचना की।

4.6 सरकार की विदेश नीति की आलोचना

राजनीतिक चेतना प्राप्त भारतीय राष्ट्रवादियों ने भारत के पड़ोसी देशों के प्रति सरकार की आक्रामक विदेश नीति का विरोध किया। उन्होंने बर्मा के अधिग्रहण, अफगानिस्तान पर हमले तथा पश्चिमोत्तर भारत की आदिवासी जनता के दमन का विरोध किया। इस प्रकार उन्होंने आक्रामक साम्राज्यवादी नीति की आलोचना करते हुए विभिन्न देशों की स्वतंत्रता की वकालत की।

4.7 उदारवादियों का इंग्लैंड में प्रचार

ए0ओ0 ह्यूम, दादा भाई नौरोजी तथा वेडरवर्न आदि का मानना था कि

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का इंग्लैंड से अधिक से अधिक प्रचार किया जा सकता है। इसी उद्देश्य से 1887 ई0 में दादा भाई नौरोजी ने इंग्लैंड में 'भारतीय सुधार समिति' की स्थापना की। 1888 ई0 में नौरोजी ने विलियम डिग्वी की अध्यक्षता में 'इण्डियन एजेन्सी' की स्थापना की। 1889 ई0 में कांग्रेस की 'ब्रिटिश समिति' बनी जिसने *इण्डिया* नाम की मासिक पत्रिका का संचालन किया। इसके माध्यम से इंग्लैड के वरिष्ठ नागरिकों को भारत की यथास्थिति से परिचित कराया जाता था। कांग्रेस ने भारतीयों की समस्या के निवारण हेतु समय–समय पर अपने प्रतिनिधिमंडल को ब्रिटेन भेजा। 1890 में कांग्रेस की और से इंग्लैड भेजे गए प्रतिनिधिमंडल में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, डब्लू0सी0 बनर्जी, ए0ओ0 ह्यूम जैसे सदस्य थे। 1899ई0 में विपिन चन्द्र पाल इंग्लैंड गए। इन समस्त प्रयासों का प्रतिफल यह रहा कि ब्रिटेन में भारतीय जनमानस की समस्याओं के प्रति सहानुभूति रखने वाले एक गुट का निर्माण हुआ।

4.8 कल्याणकारी उपायों की माँग

राष्ट्रवादियों ने सरकार से आग्रह किया कि वह राज्य की ओर से कल्याणकारी गतिविधियॉ चलाएँ। उन्होंने जनता में प्राथमिक शिक्षा के प्रसार पर जोर दिया। उन्होंने तकनीकी और उच्च शिक्षा की सुविधएँ बढ़ाने की मांग की। सुदखोरों के चंगुल से किसानों को बचाने के लिए उन्होंने कृषि बैंको की स्थापना की मांग की। वे चाहते थे कि सरकार खेती का विकास तथा देश को अकाल से बचाने के लिए बड़े पैमाने पर सिंचाई योजनाए लागू करे। इसके साथ ही उन्होंने चिकित्सा तथा स्वास्थ्य सुविधाओं को बढ़ाने की भी मांग की। उदारवादियों ने उन भारतीय मजदूरों के पक्ष में आवाज उठाई जो गरीबी से मजबूर होकर रोजगार की तलाश में द0 अफ्रीका, मलाया, मारीशस, वेस्टइंडीज या ब्रिटिश गुयाना चले जाते थे। इनमें से अधिकांश देशों में उन्हें निर्मम दमन तथा जातीय भेद–भाव का सामना करना पड़ता था। उदारवादियों ने सामाजिक समानता तथा व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर जोर दिया तथा किसी भी वर्ग के विशेषाधिकार का विरोध किया। गोखले ने न सिर्फ 'सिविल मैरिज' जैसे सामाजिक सुधारों का स्वागत किया बल्कि उन्होंने इस दिशा में सरकार की भूमिका का स्वागत भी किया। 1897 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन में भाषण देते हुए इसके अध्यक्ष सी0 शंकरन ने कहा कि हम अपनी व्यवस्था में से वह सभी चीजें हटा देना चाहते हैं जो प्रगति के रास्ते में बाधक है। उदारवादियों ने एकता की भावना विकसित करने के हर संभव उपाय किए।

5. कांग्रेस के प्रति विभिन्न वर्गों तथा सरकार की प्रतिक्रिया

कांग्रेस के नरम रुख और राजभक्त होते हुए भी उसे सरकार की ओर से कोई प्रोत्साहन नहीं मिला। लार्ड डफरिन ने कांग्रेस कलकता अधिवेशन (1886) के प्रतिनिधियों को एक उद्यान भोज दिया था जिसमें स्पष्ट किया गया था कि यह निमन्त्रण कांग्रेस के प्रतिनिधियों को नहीं अपितु कलकत्ता आए हुए विशिष्ट दर्शकों

को है। 1887 में मद्रास के गवर्नर ने कांग्रेस के तीसरे अधिवेशन के लिए मद्रास में सुविधाएँ तो प्रदान की परन्तु 1887 के पश्चात सरकार का रुख कठोर होता गया। कांग्रेस का चौथा अधिवेशन इलाहाबाद में सरकार के रवैये के कारण कभी संभव नहीं होता अगर दरभंगा महाराज 'लॉथर किला' खरीदकर उसमें कांग्रेस का अधिवेशन आयोजित नहीं करवाते। कांग्रेस ने एक पुस्तिका प्रकाशित की जिसका शीर्षक था 'एक तमिल कांग्रेस प्रश्नोत्तर रुपी शिक्षा'। इसमें दो जातियों के बीच प्रश्नोतर के रुप में तानाशाही राजपद्धति और अन्यत्रवासी भूमिपतियों की आलोचना करने पर कांग्रेस का सरकार से खुला विरोध हो गया। अधिकारी वर्ग ने सर सैयद अहमद खॉ और बनारस के राजा शिव प्रसाद को प्रेरणा दी कि वे कांग्रेस के प्रचार का प्रतिरोध करने के लिए एक संगठित भारतीय देशभक्त मंडल का गठन करे। डफरिन ने कांग्रेस के राष्ट्रीय चरित्र को चुनौती दी और कहा कि यह तो केवल एक ''सुक्ष्मदर्शी अल्प संख्या'' का प्रतिनिधित्व करती है और कांग्रेस की मांगो को 'अज्ञात में छलांग' की संज्ञा दी। लार्ड कर्जन ने तो यहॉ तक कह दिया कि ''कांग्रेस अपने पतन की ओर लड़खड़ाती हुई जा रही है तथा मेरी इच्छा है कि मैं उसकी शान्तिमय मृत्यु में सहायता कर सकूँ।'' 1890 में सरकारी सेवकों को कांग्रेस में शामिल होने की आशा नहीं रही।

कांग्रेस के आदर्शों से भारत के विभिन्न वर्ग प्रभावित नहीं हुए। परम्परागत सामंतवादी वर्गो में बचे खुचे लोग तथा नए जमींदार इससे भयभीत हो गए। व्यापारी वर्ग कांग्रेस की ओर खिंचता गया क्योंकि वह देश के आर्थिक विकास के लिए इच्छुक थी। जनता कांग्रेस के महत्व को ठीक से समझ नहीं सकी। पर कांग्रेस ने उनकी शिकायतों को दूर करने के लिए लड़ना शुरु किया। इस प्रकार कांग्रेस धीरे–धीरे उनकी हितैषी तथा प्रतिनिधि संस्था के रुप में उभरने लगी। परन्तु आरंभिक राष्ट्रीय आंदोलन की सबसे आधारभूत कमी इसका संकुचित समाजिक आधार था। आंदोलन को अभी सबका समर्थन प्राप्त नहीं था। खास तौर पर इस समय नेतृत्व वकील, डाक्टर, पत्रकार, शिक्षक, कुछ व्यापारी तथा जमींदार जैसे– बुद्धिजीवी वर्गो के हाथ में था। यद्यपि कि कांग्रेस की नीतियों में भारतीय समाज के प्रत्येक वर्ग के हितों का कुछ–न–कुछ ध्यान रखा गया किन्तु उदारवादी नेता साम्राज्यवाद–विरोधी संघर्ष में सभी वर्गों को प्रेरित नहीं कर सके।

6. उदारवादियों की उपलब्धियों का आलोचनात्मक मूल्यांकन

बहुत से आलोचकों ने उदारवादी राष्ट्रीय नेताओं की उपलब्धियों की आलोचना की है। सच्चाई यह है कि उस समय इनके प्रयत्नों से कोई विशेष तात्कालिक राजनैतिक लाभ नहीं हुआ। उन्होंने बहुत से सुधारों के लिए संघर्ष किया तो था परन्तु इनमें से बहुत कम में उन्हें सफलता मिली। लाला लाजपत राय के शब्दों में ''बीस वर्ष तक रियायतों तथा दुःखों को दूर करने के असफल संघर्ष करने

के बाद इन्हें रोटी के बदले पत्थर प्राप्त हुए।'' सरकार उदार होने की वजाए और भी दमनकारी होती गई। आलोचकों ने उदारवादियों की आवेदन– निवेदन की नीति को 'राजनीतिक भिक्षावृत्ति' (Political mendicancy) की नीति कहकर खिल्ली उड़ाई। उनका कहना था कि इनका कार्यक्रम पूँजीवाद के संकुचित दायरे में ही सीमित था। आलोचकों के अनुसार कुछ लोगों को देशभक्ति के नाम पर व्यापार करने का अवसर मिला। इन उदारवादी दल वालों के विरुद्ध सबसे बड़ा दोषारोपण 'क्राउन के प्रति राजभक्ति' का था। आलोचकों ने उनके आंदोलन को असफल बताया।

इस बात में संदेह नहीं कि इनकी तात्कालिक उपलब्धियॉ नगण्य थी और 19 वीं सदी में बदलते हुए ब्रिटिश शासन की प्रकृति के कारण उनकी कई राजनैतिक धारणाएँ गलत भी साबित हुई। युवा वर्ग इनसे कतई सन्तुष्ट नहीं था। 1905 ई0 तक राष्ट्रीय आन्दोलन की धारा तीव्र हो रही थी तथा नेतृत्व अतिवादी लोगों के हाथ में आ रहा था। कांग्रेस उनके उम्मीदों पर खड़ा नहीं उतर पा रहा था।

परन्तु यहाँ यह ध्यान रखना जरुरी है कि जिन परिस्थितियों में उदारवादियों ने यह कठिन कार्य अपने हाथों में लिया था और कठिनाइयॉ उनके सम्मुख आईं, उसको देखते हुए इस युग के नेताओं की उपलब्धियों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। वे मध्य वर्ग तथा निम्न वर्ग में इस राष्ट्रीय भावना को जगाने में सफल रहे कि वे एक राष्ट्र से संबंधित हैं। उन्होंने भारतीयों को सामान्य राजनैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक हितों के प्रति जागरुक किया। उन्होंने उन्हें सामान्य शत्रु से परिचित करवाया और इस प्रकार एक सामान्य राष्ट्रीयता की भावना को सुदृढ़ बनाने में सहायता की । उन्होंने भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की सशक्त आर्थिक समीक्षा प्रस्तुत की जिसने यह सिद्ध कर दिया था कि भारत की गरीबी, बेकारी और आर्थिक पिछड़ापन अंग्रेजों के कारण है। इस समीक्षा से ब्रिटिश राज का नैतिक आधार कमजोर हुआ तथा राष्ट्रीय चेतना को बल मिला। उन्होंने जनता को अपनी आर्थिक दुर्दशा और अपमानित स्थिति से तथा उसमें सुधार की संभावना से परिचित कराया। उन्होंने अस्पष्ट आर्थिक आकांक्षाओं को एक सुस्पष्ट राष्ट्रवादी स्वरुप दिया तथा आर्थिक विकास के विचारों का प्रचार किया, मार्ग की आर्थिक और राजनैतिक बाधाओं और उन पर विजय पाने के उपायों का निर्देश दिया।

आरंभिक कांग्रेसी नेता भारतीय समाज के सबसे अधिक प्रगतिवादी तत्व तथा सच्चे देशभक्त थे। इन लोगों ने 1886 में एक लोक सेवा आयोग नियुक्त करवाया और 1892 में भारतीय परिषदों का अधिनियम पारित करवाया। उन्होंने जनपद सेवा (ICS) के लिए इंगलैंड तथा भारत में एक ही समय में परीक्षा लेने की मांग की। सरकार ने उदारवादियों के अनुरोध पर बैलबाई आयोग (Welby Commission) नियुक्त किया जिसका कार्य भारतीय व्यय की समीक्षा करना था। दादा भाई नौरोजी, आर0 सी0 दत तथा दीन शॉ वाचा द्वारा प्रतिपादित 'धन निकास का सिद्धान्त' (Drain Theory) अंग्रेजों की भारत में आर्थिक भूमिका पर दोषारोपण था। दादा भाई

नौरोजी ने '*पावर्टी एण्ड अन ब्रिटिश रूल इन इंडिया*' (1901) तथा आर0सी0 दत्त ने '*इकोनॉमिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया*'(1901–03) में राष्ट्रीय आर्थिक सिद्धान्त की विवेचना करते हुए ब्रिटिश आर्थिक नीति की आलोचना की और इसे रक्त चूसने के सिद्धान्त पर आधारित बतलाया। 1906 ई0 में दादा भाई नौरोजी ने कांग्रेस के मंच से सर्वप्रथम स्वराज्य की मांग की। 1905 में गोपाल कृष्ण गोखले ने 'भारत सेवक मंडल' (Servants of India Society) आरंभ की जिसका उदेश्य भारत की सेवा के लिए राष्ट्रीय प्रचार करना था संवैधानिक ढ़ंग से भारतीय जनता के सच्चे हितों को प्रोत्साहन देना था। इस मंडल ने वी0 श्रीनिवास शास्त्री, जी0 के0 देवघर, एन0 एम0 जोशी, पंडित हृदय नाथ कुंजरु जैसे महान समाज सेवक पैदा किए। गोखले ने नमक कानून पर प्रहार करते हुए बताया कि कैसे एक पैसे की नमक की टोकड़ी पॉच आने में (20 गुणा अधिक मूल्य पर) बिकती है।

संक्षेप में, अपनी कई असफलताओं के वावजूद उदारवादी या नरमपंथी राष्ट्रवादी नेताओं ने राष्ट्रीय आंदोलन के विकास के लिए सुदृढ़ नींव रखी । इन लोगों ने कठिन परिश्रम किया। उनके कार्य करने के ढ़ंगों– प्रार्थना, याचना और विरोध प्रकट करना, सभी से राजनीतिक प्रौढ़ता आई तथा भारत में राष्ट्रभावना तथा राष्ट्रीय एकता का संचार हुआ। अतः वे आधुनिक भारत के निर्माताओं में गौरवमय स्थान रखते हैं।

7. उपसंहार

1885 ई0 में कांग्रेस की स्थापना के साथ भारतीय राष्ट्रवाद के इतिहास का एक नया अध्याय प्रारंभ होता है। 1885 से 1905 तक भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का इतिहास वास्तव में उदारवादियों का इतिहास है। कांग्रेस की स्थापना के आरंभिक बीस वर्षो में उनकी नीति अत्यन्त उदार थी, इसलिए इस काल को कांग्रेस के इतिहास में उदारवादी राष्ट्रीयता का काल माना जाता है। दादा भाई नौरोजी (वयोवृद्ध नेता), माधव गोविन्द राणाडे, फिरोजशाह मेहता, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, दीन शॉ वाचा, वोमेश चन्द्र बनर्जी, गोपाल कृष्ण गोखले, मदन मोहन मालवीय आदि नेताओं की तूती कांग्रेस के कोने–कोने में बोल रही थी। कांग्रेस के संस्थापक सदस्य भारतीयों के लिए धर्म और जाति के पक्षपात का अभाव, मानव में समानता, कानून के समक्ष समानता, नागरिक स्वतंत्रताओं का प्रसार तथा प्रतिनिधि संस्थाओं के विकास की कामना करते थे। उदारवादी नेताओं को अंग्रेजों की न्यायप्रियता में पूर्ण निष्ठा थी और और ये अंग्रेजी राज को अपना शत्रु नहीं बल्कि मित्र मानते थे। ये नेता संवैधानिक तरीकों, प्रार्थना पत्रों, प्रतिवेदनों, स्मरण पत्रों तथा शिष्ट मंडलों के द्वारा सरकार के सामने अपनी मांगों को रखा। इस काल में कांग्रेस ने देश की स्वतंत्रता की मांग नहीं की अपितु कुछ रियायतें मांगी। प्रारंभिक दौर के राष्ट्रवादियों का सबसे महत्वपूर्ण राजनीतिक कार्य उनका साम्राज्यवाद का आर्थिक विवेचना था। उन्होंने उस

वक्त के आर्थिक शोषण के तीनों रुपों यानि व्यापार, उद्योग और वित्त पर नजर रखी। कांग्रेस की मांगों में– विधान परिषदों का विस्तार, परीक्षा की न्यूनतम आयु में वृद्धि, परीक्षा का भारत तथा इंगलैड में एक साथ आयोजन, अधिक भर्ती वायसराय तथा गवर्नर की कार्यकारिणी में भारतीयों को अधिक प्रतिनिधित्व, आदि शामिल थीं। इसलिए आलोचकों ने अनकी नीति को 'राजनीतिक भिक्षावृति' की संज्ञा दी तथा इनके आंदोलन को असफल बताया। अनेक आलोचनाओं के वावजूद हम प्रारंभिक नरम पंथियों की उपलब्धियों को नकार नहीं सकते। इन्होंने सर्वप्रथम भारतीय राष्ट्रवाद की आधारशिला रखी जिस पर स्वराज्य, स्वशासन, अहिंसात्मक सहयोग, सविनय अवज्ञा एवं भारत छोड़ो जैसे राष्ट्रीय आंदोलन रुपी भवन का निर्माण हो सका। इतिहासकार प्रो0 विपिन चन्द्र ने ठीक ही लिखा है, ''1885 से 1905 तक का काल भारतीय राष्ट्रवाद में बीज बोने का समय था और आरंभिक काल के राष्ट्रवादियों ने ये बीज गहरे और अच्छे ढ़ंग से बोए। फल यह हुआ कि एक साझा राजनीतिक और आर्थिक कार्यक्रम बना जिससे लोग बंटने के स्थान पर संयुक्त हो गए। ....अपनी असफलताओं के होते हुए भी आरंभिक राष्ट्रवादियों ने राष्ट्रीय आंदोलन की नींव बहुत सुदृढ़ रखी ताकि उस पर यह आंदोलन अग्रसर हो सके और इसलिए वे लोग आधुनिक भारत के निर्माताओं में उतम स्थान के अधिकारी हैं।''

8. बोध प्रश्न

(1) 1885 से 1905 तक भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का इतिहास लिखें।

(2) उदारवादियों की नीति तथा कार्यक्रमों पर प्रकाश डालें ।

(3) उदारवादियों की उपलब्धियों का आलोचनात्मक विवरण प्रस्तुत करें।

(4) उदारवादियों की आर्थिक राष्ट्रीयता की नीति पर एक संक्षिप्त नोट लिखें।

9. संदर्भ ग्रन्थ

1. ताराचन्द : भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास, खण्ड–1–4, दिल्ली,
2. सुमित सरकार : आधुनिक भारत, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005
3. राम लखन शुक्ल : आधुनिक भारत का इतिहास, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय
4. विपिन चन्द्र : भारत का स्वतंत्रता संघर्ष
5. डी. एन. वर्मा : आधुनिक भारत का इतिहास
6. B. L. Grover : A Documentry Study of the British Policy Towards Indian Nationalism.
7. C.Y. Chintamani : Social Reform
8. S.R. Mehrotra : Indian National Conference

इकाई–4

क्रांतिकारी राष्ट्रवाद का युग

इकाई की रूपरेखा :

1. उद्देश्य
2. प्रस्तावना
3. पृष्ठभूमि
   - 3.1 क्रांतिकारियों के उदय मे नरमपंथियों की भूमिका
   - 3.2 आयरलैंड राष्ट्रवादियों और रूसी निहिलिस्टों की भूमिका
4. क्रांतिकारियों की कार्यप्रणाली
   - 4.1 बम एवम् पिस्तौल की राजनीति
   - 4.2 छः सूत्री कार्यक्रम
5. भारत में क्रांतिकारी राष्ट्रवाद का उद्भव एवं विकास
   - 5.1 महाराष्ट्र में क्रांतिकारी आंदोलन
   - 5.2 बंगाल में क्रांतिकारी आंदोलन
   - 5.3 पंजाब, दिल्ली एवम् अन्य प्रांतों जैसे राजस्थान, पटना, अजमेर में क्रांतिकारी आंदोलन
6. विदेशों में क्रांतिकारी संगठन एवं कार्य
   - 6.1 श्रीकृष्ण बर्मा एवम् इण्डिया हाउस
   - 6.2 वीर सावरकर एवम् 1857 की 'स्वर्ण जंयती' समारोह
7. प्रथम विश्वयुद्ध एवं क्रांतिकारी राष्ट्रवाद
   - 7.1 कामाटागारु प्रकरण एवम् गदर आंदोलन
   - 7.2 गदर आंदोलन का मूल्यांकन
   - 7.3 काबुल में अंतरिम भारत सरकार का गठन
8. उपसंहार
9. बोध प्रश्न
10. संदर्भ ग्रन्थ

1. उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप–

- क्रांतिकारी राष्ट्रवाद का उदय किन परिस्थितियों में हुआ, को समझ सकेंगे।
- क्रांतिकारी राष्ट्रवादियों की कार्यप्रणाली को जान सकेंगे।
- क्रांतिकारी राष्ट्रवादी आंदोलन किस प्रकार महाराष्ट्र, बंगाल, पंजाब, दिल्ली में अपना प्रभाव छोड़ा, का सारगर्भित अध्ययन कर पायेंगे।
- यह जान पायेंगे कि देश के बाहर किस प्रकार गदर आंदोलन की योजना बनी और भारत में इसका क्या प्रभाव पड़ा।
- क्रांतिकारी राष्ट्रवादी आंदोलन में भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन को प्रभावित किया, को समझा सकेंगे।

2. प्रस्तावना

20वीं शताब्दी के पूर्वाह्न में अतिवादी राष्ट्रवाद के साथ–साथ क्रांतिकारी राष्ट्रवाद का भी विकास हुआ। क्रांतिकारी आंदोलन के उत्थान के मुख्यतः वही कारण थे जिनसे राष्ट्रीय आंदोलन मे अतिवादी राष्ट्रवादियों का उदय हुआ था। भेद केवल इतना था कि उग्र क्रांतिकारी अति शीघ्र परिणाम चाहते थे। यद्यपि भारत के भिन्न–भिन्न भागों में क्रांतिकारियों के राजनैतिक दर्शन को निश्चित रूप से वर्णन करना संभव नहीं है, परन्तु उन सबका एक ही उद्देश्य था–मातृभूमि को विदेशी शासन से मुक्त कराना। साधनों के विषय में उनका विश्वास था कि पाश्चात्य साम्राज्यवाद केवल पश्चिमी हिंसक साधनों से ही समाप्त किया जा सकता है। इसलिए इन लोगों ने बम तथा पिस्तौल का प्रयोग किया। उन्होंने आयरलैंड एवम् रुस से प्रेरणा प्राप्त की। यह आंदोलन दो चरणों में हुआ–प्रथम विश्व युद्ध के पूर्व और फिर उसके पश्चात्। क्रांतिकारियों ने अपने गुप्त संगठन बनाये, हथियार एकत्र किये तथा बम बनाने सीखे तथा सिखाए, सरकारी खजानों को लूटा तथा बदनाम अंग्रेज अफसरों एवम् यूरोपीय प्रशासकों की हत्या करके प्रशासन को ठप्प करने तथा स्वतंत्रता–विरोधी भारतीय अथवा यूरोपीययों को उखाड़ फेंकने का प्रयत्न किया। संक्षेप में, इस इकाई में आप क्रांतिकारी राष्ट्रवाद के उद्भव तथा विकास की सारगर्भित व्याख्या का अध्ययन करेंगे।

3. पृष्ठभूमि

1907 ई0 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस सूरत में विभाजित हो गई जिससे भारतीय राजनीति में एक नया मोड़ आया। लगभग इसी समय बंगाल में क्रांतिकारी राष्ट्रवाद का उदय हुआ। फिरंगी हुकूमत के कारनामों से विक्षुब्ध बंगाल के युवकों ने व्यक्तिगत वीरता और क्रांतिकारी आतंकवाद की राह पकड़ी। अपनी भावनाओं को

व्यक्त करने तथा आजादी के लिए संघर्ष करने के लिए उनके पास और कोई तरीका बचा भी नहीं था। नमरपंथी राजनीति अव्यावहारिक हो चुकी थी, सरकार दमन पर उतारू थी और गरमपंथी राजनीति भी असफल सिद्ध हो रही थी। अंग्रेजी हुकूमत शुरू से ही कांग्रेस को शक की नजरों से देखती थी और राष्ट्रवादी भावना को किसी भी तरह पनपने नहीं देना चाहती थी। राष्ट्रवादियों को 'गद्दार', 'देशद्रोही', 'ब्राह्मण', 'अहिंसक खलनायक' और न जाने क्या–क्या कहा जाने लगा। कांग्रेस को 'राजद्रोह का कारखाना' बताया गया। ये घटनाएँ क्रांतिकारी राष्ट्रवाद को पनपाने के लिए जिम्मेदार थी।

सरकारी अधिकारियों के दंभ और उनकी दमानात्मक कार्रवाइयों ने बंगाल के युवकों को विद्रोही बनाया। उन्हें लगा कि शान्तिपूर्ण प्रतिरोध के सारे रास्ते बंद हो चुके हैं। नरमपंथियों की राजनीति उन्हें भिखमंगी राजनीति लगी। 'बम की राजनीति' के लिए गरमपंथी भी जिम्मेदार थे। गरमपंथी जनता को सही नेतृत्व नहीं दे सके, हालॉकि आंदोलन के लिए जो नीतियॉ तथा कार्यक्रम इन्होंने निर्धारित किए वे सही थे। इन्होंने आंदोलन को महज प्रचार तथा प्रतिरोध तक सीमित न रखकर उसे जुझारू रूप देने की बात कही। बहिष्कार आंदोलन को महज 'विदेशी कपड़ों के बहिष्कार' तक सीमित न रखकर उसे विदेशी अदालतों, शिक्षा संस्थानों, इत्यादि के बहिष्कार तक ले जाने की घोषणा की। युवकों से बलिदान के लिए तैयार रहने की अपील की गई, सीधी कार्रवाई करने की भी घोषणाएँ हुई, लेकिन इनमें से किसी पर अमल नहीं किया जा सका। गरमपंथी ऐसा कोई संगठन भी नहीं बना पाए, जो आंदोलन को आगे ले जाता। यही नहीं, ये जनता को यह नहीं समझा सके कि उनकी नीतियॉ एवं कार्यक्रम, किस मामले में नरमपंथियों से अलग हैं। 1907 ई0 की समाप्त होते–होते गरमपंथी राजनीति पतन के कगार पर पहुँच गए। इसका एक प्रमुख कारण यह भी था कि ये अपनी ज्यादातर ऊर्जा नरमपंथियों की आलोचना करने और कांग्रेस पर अपना कब्जा जमाने में जाया करते रहे।

19वीं शताब्दी की समाप्ति के साथ ही युवा वर्ग का इनके प्रति मोह भंग हो चुका था तथा अब वे गरमपंथियों से भी निराश हो गए। फिरंगी हुकूमत से बेइंतहा नफरत करने वाले इन युवाओं ने तय किया कि किसी भी तरह फिरंगी हुकूमत को उखाड़ फेंकना है, इसके लिए चाहे जितना बल प्रयोग करना पड़े, करेंगे, जो भी तरीका अपनाना पड़े, अपनाएँगें। *'युगांतर'* ने अप्रैल 1906 में धारीसाल सम्मलेन में पुलिस लाठीचार्ज के बाद लिखा, ''अंग्रेजी हुकूमत के दमन को रोकने के लिए भारत की 30 करोड़ जनता अपने 60 करोड़ हाथ उठाए। ताकत का मुकाबला ताकत से किया जाए।''

पर मुख्य सवाल था कि बल प्रयोग का कौन सा तरीका अपनाया जाए। इसके लिए देशव्यापी जनमत तैयार करने की जरूरत थी, जो एक कठिन तथा दीर्घकालिक काम था। सेना को फिरंगी हुकूमत के खिलाफ विद्रोह के लिए तैयार

करना भी आसान काम नहीं था। क्रांतिकारी युवकों ने इन्हें दीर्घ कालीन उद्देश्य माना और तत्काल के लिए आयरलैंड राष्ट्रवादियों और रूसी 'निहिलिस्टों' एवं 'पापुलिस्टों' के संघर्ष के रास्ते को अपना लिया। बदनाम अंग्रेजी अफसरों की हत्या की योजना बनी। उनका मानना था कि इस हत्या से अंग्रेजी शासकों का दिल दहल जाएगा, भारतीय जनता को संघर्ष की प्रेरणा मिलेगी और उनके दिल से अंग्रेजी हुकूमत का डर खत्म हो जाएगा।

यहाँ एक बार फिर गरमपंथियों ने युवकों को सही दिशा नहीं दिखाई। साहस और बलिदान के लिए युवकों की तारीफ तो की, लेकिन खुद को उनसे अलग रखा और इस तरह के संघर्ष की व्यर्थता के प्रति उन्हें चेतवानी भी नहीं दी। जनांदोलन की भूमिका के प्रति सही समझ रखने के बावजूद गरमपंथी न तो अपनी क्रांतिकारी ऊर्जा को कोई सकारात्मक अभिव्यक्ति दे सके और न ही युवकों को यह समझा सके कि व्यापक जनांदोलन पर आधारित क्रांति और व्यक्तिगत वीरता पर आधारित क्रांतिकारी भावना में बहुत फर्क है। इस प्रकार क्रांतिकारी आतंकवाद का युग आरंभ हुआ तथा देखते ही देखते पूरे देश में क्रांतिकारियों के अनेक गुप्त संगठन बन गए जिनमें सबसे महत्वपूर्ण और ज्यादा दिनों तक चलने वाले दो संगठन थे– 'अनुशीलन समिति' और 'युगांतर'। क्रांतिकारी आतंकवादियों ने विदेश में भी अपने केन्द्र स्थापित कर लिए। 1908 से 1918 ई0 के बीच 186 क्रांतिकारी या तो मारे गए या फिर जेल में डाल दिए गए।

4. क्रांतिकारियों की कार्यप्रणाली

क्रांतिकारियों का मानना था कि 'अंग्रेजी शासन पाशविक बल पर स्थित है' और यदि हम अपने आपको स्वतंत्र करने के लिए पाशविक बल का प्रयोग करते हैं तो यह उचित ही है। उनका संदेश था; 'तलवार हाथ में लो तथा सरकार को मिटा दो।' इसलिए 'बम तथा पिस्तौल' की राजनीति इनकी कार्यप्रणाली का हिस्सा बनी। ब्रिटिश राज्य का तख्ता उलटने के लिए इन्होंने **छह–सूत्री कार्यकम** बनाया–

1. प्रेस के द्वारा जोरदार प्रचार के जरिए शिक्षित वर्ग में ब्रिटिश राज्य के प्रति घृणा की भावना उभारना।
2. देश के शहीदों की जीवनियों को संगीत और नाटक के द्वारा लोगों के सामने रखकर मातृभूमि के प्रति प्रेम जागृत करना।
3. जलसे, जुलूस, हड़तालें करके दुश्मन को व्यस्त रखना।
4. सैनिक शिक्षा, व्यायाम, धार्मिक कार्यक्रम, शक्ति पूजा, इत्यादि के लिए युवकों को भर्ती करना।
5. हथियार प्राप्त करना, जैसे बम बनाना, बंदूके, इत्यादि चोरी करना, विदेशों से शस्त्र खरीदकर चोरी–छिपे लाना।

6. चंदे तथा डकैती के जरिए पैसा इकट्ठा करना। रूस तथा इटली के तर्ज पर गुप्त संस्थाओं की स्थापना करना जिसका मुख्य उद्देश्य आतंकवादी कार्यक्रम को चलाना था।

5. भारत में क्रांतिकारी राष्ट्रवाद का उद्भव एवं विकास

भारत में क्रांतिकारी राष्ट्रवाद के उद्भव एवं विकास की रूपरेखा अग्रांकित है–

5.1 महाराष्ट्र में क्रांतिकारी आंदोलन

1918 ई0 की विद्रोह समिति में यह कहा गया कि भारत में क्रांतिकारी आंदोलन का प्रथम आभास महाराष्ट्र में विशेषकर पूना जिले के चितपावन ब्राह्मणों में मिलता है। ये ब्राह्मण महाराष्ट्र के शासकों शिवाजी तथा शाहू के पेशवाओं के वंशज थे। यूरोपीयों की प्रथम राजनैतिक हत्या 22 जून, 1897 ई0 को पूना में हुई जिसके लिए दो चितपावन ब्राह्मण दामोदर और बालकृष्ण चापेकर उत्तरदायी थे। इस हत्या का निशाना पूना में प्लेग समिति के प्रधान श्री रैंड थे परन्तु इस अभियान में लेफ्टिनेंट एयर्स्ट (स्जण ।लमतेज) भी अकस्मात मारे गए। चापेकर बन्धु पकड़े गए, षडयंत्र के दोषी पाए गए और उन्हें फॉसी पर लटका दिया गया। यद्यपि समकालीन राष्ट्रवादियों तथा उत्तरकालीन भारतीय इतिहासकारों ने तिलक पर लगे आरोपों के विरुद्ध दलीलें दी परन्तु यदि हम न्यायसंगत दृष्टि से देखें तो यह स्पष्ट है कि तिलक के लेखों तथा भाषणों ने चापेकर बंधुओं को हिंसा की प्रेरणा दी। जैसा कि 15 जून 1897 के *'केसरी'* में लिखे इन शब्दों से स्पष्ट है, ''श्री कृष्ण का गीता में यह उपदेश है कि अपने गुरूजनों तथा बंधुओं को भी हत्या कर दो। यदि कोई व्यक्ति, कर्म फल की इच्छा के बिना अथवा कर्म में लिप्त न होकर, कर्म करता है तो उसे कोई दोष नहीं लगता....ईश्वर ने विदेशियों को भारत का साम्राज्य तामपत्र पर लिखकर नहीं दिया है....अपनी दृष्टि को कूप–मण्डूक की तरह सीमित मत करो..... दण्ड संहिता की परिधि से बाहर आओ तथा श्रीमद् भगवद्गीता के उत्तम वातावरण में प्रवेश करो तथा महान आत्माओं के कार्यों का ध्यान करो।'' फलस्वरुप 24 जून 1908 को तिलक को दुबारा गिरफ्तार कर *केसरी* में प्रकाशित लेखों के आधार पर राजद्रोह का मुकदमा चलाया गया तथा फिर उन्हें 6 वर्षों की सजा दी गई।

महाराष्ट्र में 20वीं शताब्दी के प्रारंभ में विनायक दामोदर सावरकर ने 1904 ई0 में नासिक में 'मित्र मेला' नामक संस्था की स्थापना की जो कि मेजिनी के 'तरूण इटली' के नमूने पर 'अभिनव भारत' नामक गुप्त सभा में परिवर्तित हो गया। भारत में कई प्रान्तों में इसकी गुप्त शाखाएँ खोली गई। इस संस्था की गतिविधियों में बम बनाना, शस्त्र चलाने में प्रशिक्षण, इत्यादि कार्यक्रम शामिल थे। लंदन और फ्रांस में श्यामजी कृष्ण वर्मा तथा श्रीमती कामा ने भारत में गुप्त रूप से शस्त्र भिजवाने की जिम्मेदारी ली। इन्होंने पी0एन0 वापट को रूसी क्रांतिकारियों से बम बनाने का प्रशिक्षण पाने के लिए पेरिस भेजा। मिर्जा अब्बास तथा हेमचन्द्र दास की सहायता से

वापट ने एक रूसी पुस्तक *'बम मैनुअल'* की एक प्रति प्राप्त की तथा इसका अंग्रेजी में अनुवाद किया। 'अभिनव भारत' के मुख्य सदस्य अनन्त लक्ष्मण करकरे ने नासिक के लोगों की शह पर न्यायाधीश जैक्सन की हत्या का कार्यक्रम बनाया। 21 दिसम्बर, 1909 को जिला दण्डनायक जैक्सन की गोली मार कर हत्या कर दी गई। जिला मजिस्ट्रेट जैक्सन की हत्या के आरोप में दामोदर सावरकर तथा उनके भाई गणेश सावरकर सहित अनेक लोगों पर 'नासिक षडयंत्र केस' चालाया गया। दामोदर सावरकर को भारत से आजीवन निर्वासित कर 'कालापानी' की सजा दी गई। बाद में सरकार की दमनात्मक नीति एवं धन की कमी के कारण महाराष्ट्र में क्रांतिकारी राष्ट्रवादी आंदोलन ठंडा हो गया।

5.2 बंगाल में क्रांतिकारी आन्दोलन

बंगाल में क्रांतिकारी आंदोलन का सूत्रपात भद्रलोक समाज से हुआ। श्री पी0 मिश्रा ने एक गुप्त क्रांतिकारी सभा जिसे अनुशीलन समिति कहते थे, का गठन किया। बंगाल के विभाजन के पश्चात् विदेशी माल का बहिष्कार तथा स्वदेशी आंदोलन और जोड़ पकड़ लिया जिसके फलस्वरूप बंगाल में वह जागृति आई जो पहले कभी देखने को नहीं मिली थी। शीघ्र ही इस आंदोलन का उद्देश्य सिर्फ विभाजन को रद्द करना ही नहीं अपितु 'स्वराज्य की प्राप्ति' बन गया।

1905 ई0 में वारींद्र कुमार घोष ने *'भवनी मंदिर'* नाम की पुस्तिका लिखी जिसमें क्रान्तिकारी कार्यों को संगठित करने के लिए केन्द्र बनाने हेतु विस्तृत जानकारी दी गई थी। इसके पश्चात् *'वर्तमान रणनीति'* (*Rules of Modern Warfare*) प्रकाशित की गई। *'युगान्तर'* और *'संध्या'* नाम की पत्रिकाओं में भी अंग्रेज विरोधी विचार प्रकाशित किए जाने लगे। इसी प्रकार एक अन्य पुस्तिका *'मुक्ति कौन पाथे'* (*मुक्ति किस मार्ग से*) में भारतीय सैनिकों से भारतीय क्रांतिकारियों को हथियार देने का आग्रह किया गया। बंगाल के युवकों को शक्ति की द्योतक भवानी की पूजा करने को कहा गया ताकि वे मानसिक, शारीरिक, आत्मिक तथा नैतिक बल प्राप्त कर सकें। साथ ही साथ कर्म करने पर भी बल दिया गया। क्रांतिकारी गतिविधियॉ जिनके फलस्वरूप हिंसक घटनाएँ हुई 1906 ई0 से आरंभ हुई जब क्रांतिकारियों ने धन की व्यवस्था करने के लिए कुछ डकैतियों के षडयंत्र रचे। 1907 ई0 में पूर्व बंगाल तथा बंगाल के लेफ्टिनेंट गर्वनरों की हत्याओं के असफल प्रयत्न भी किए गये।

5.3 मुजफ्फरपुर की हत्यायें तथा अलीपुर षडयंत्र कांड

30 अप्रैल, 1908 को आधुनिक बिहार के मुजफ्फरपुर जिले के न्यायाधीश श्री किंग्सफोर्ड (Kingsford) की हत्या का प्रयास किया गया। उन्होंने मुख्य प्रेसिडेन्सी दण्डनायक के रूप में युवकों को छोट–छोटे अपराधों के लिए बड़ी सजाएँ दी थीं। प्रफुल्ल चाकी तथा खुदीराम बोस को इन पर बम मारने का भार दिया गया। गलती

से बम श्री केनेडी की गाड़ी पर गिरा जिसमें दो महिलाओं की मृत्यु हो गई। इन महिलाओं में एक श्री केनेडी की पत्नी तथा दूसरी पुत्री थी। जब क्रांतिकारी प्रफुल्ल चाकी को कैद करने का प्रयास किया गया तो उन्होंने खुद को गोली मार कर आत्महत्या कर ली। मगर, खुदीराम बोस पकड़े गये, उन पर मुकदमा चला तथा उन्हें फॉसी पर लटका दिया गया। खुदीराम बोस शहीद हुए मगर आज भी उनकी वीरता भारतीयों के लिए एक आदर्श है।

सरकार ने अवैध हथियारों की तलाशी के संबंध में मुजफ्फरपुर के मानिक टोला उद्यान में तथा कलकत्ता में तलाशियॉ लीं तथा 34 व्यक्तियों को बंदी बनाया गया जिसमें दो घोष बन्धु, अरविन्द तथा वारींद्र सम्मिलित थे। इन पर अलीपुर षडयन्त्र कांड का मुकदमा बना। मुकदमें के दिनों में सरकारी गवाह नरेन्द्र गोसाईं की जेल में हत्या कर दी गई। फरवरी 1909 ई0 में कलकत्ता में सरकारी वकील की हत्या कर दी गई तथा 24 फरवरी 1910 को उप पुलिस अधीक्षक की कलकत्ता उच्च न्यायालय से बाहर आते समय हत्या कर दी गई।

इन घटनाओं से देश में उत्तेजना फैल गई। तिलक ने इन बंगाली क्रांतिकारी राष्ट्रवादियों की मुक्त कंठ से प्रशंसा की। 22 जून, 1908 के '*केसरी*' में उन्होंने इस प्रकार टिप्पणी की, ''1897 ई0 में हुई हत्याओं तथा बंगाल के बम कांडो में बहुत भेद है। उनका (चापेकर बन्धुओं) उद्देश्य उस उत्पीड़न का विरोध करना था जो प्लेग के दिनों में किया गया अर्थात् एक कार्य विशेष का विरोध करना था परन्तु बंगाली बम दल का उद्देश्य विस्तृत तथा बहुत अलग है, जो बंगाल विभाजन के कारण हमारे सम्मुख आया है।'' रॉलेट कमिटि की रिपोर्ट ने 1906 तथा 1917 ई0 के मध्य बंगाल में 110 तथा 1917 के मध्य बंगाल में 110 डाके तथा हत्या के 60 प्रयत्नों का उल्लेख किया है।

इन क्रांतिकारी राष्ट्रवादी घटनाओं को रोकने के लिए सरकार ने विस्फोटक पदार्थ अधिनियम, सं0 VI 1908 तथा समाचार पत्र (अपराध–प्रेरक) अधिनियम, सं0 VII 1908 पास किए। इन अधिनियमों के जरिए सरकार ने समाचार पत्र छापने वाले प्रेस को जब्त करने और समाचार पत्रों के प्रकाशन पर प्रतिबंध लगाने का अधिकार प्राप्त कर लिया तथा इसे पूरे भारत में व्यापक रूप से लागू किया। 1908 ई0 में *केसरी, स्वराज्य, अरूणोदय, राष्ट्रमुख, कल, हिंद स्वराज्य, पंजाबी*, इत्यादि में से तीन समाचार पत्रों पर मुकदमा चलाया गया तथा विद्रोह के लिए उन्हें सजा दी गई। बहरहाल, सरकार इन क्रांतिकारी गतिविधियों को जड़ से समाप्त नहीं कर सकी। इन दमनपूर्ण कदमों से अधिकतर क्रांतिकारी राष्ट्रवादी समितियॉ भूमिगत हो गई और अधिक गुप्त तरीके से सार्थकता के साथ आंदोलन चलाने लगी। इसके अतिरिक्त, इन युवकों के वीरतापूर्ण तथा मौत को चुनौती देने वाले साहसपूर्ण कार्यो ने भारी संख्या में भारतीय युवाओं एवं युवतियों को ब्रिटिश विरोधी गतिविधियों में सक्रिय रूप से हिस्सा लेने की दिशा में प्रेरित किया।

5.4 पंजाब, दिल्ली तथा अन्य प्रान्तों में क्रांतिकारी आंदोलन

बंगाल की घटनाओं का प्रभाव लगभग समूचे देश पर पड़ा। पंजाब तथा दिल्ली भी क्रांतिकारी राष्ट्रवादी आंदोलन से बचे नहीं रहे। 1907 के आस–पास पंजाब के किसानों में 'औपनिवेशिक विधेयक' के कारण तीव्र असंतोष व्याप्त था। औपनिवेशिक बिल के जरिए पंजाब सरकार ने जमीन संबंधों का आधार बदलने की ठानी। अजीत सिंह, सूफी अंबा प्रसाद, लाला लाजपत राय के नेतृत्व में इस बिल के विरूद्ध क्रांतिकारी आंदोलन का जन्म हुआ जो अपने किस्म का पहला क्रांतिकारी आंदोलन था। इन नेताओं ने सभाओं और क्रांतिकारी साहित्य के द्वारा लोगों में क्रांतिकारी विचारधारा फेलाने का प्रयत्न किया। अजित सिंह ने 'महिब्बाने वतन' नामक क्रांतिकारी संस्था बनाई। लाला लाजपत राय तथा अजित सिंह को बन्दी बना लिया गया तथा रेगुलेशन III के अधीन देश से निर्वासित कर दिया गया। यद्यपि कि अजित सिंह 6 माह बाद जेल से छोड़ दिए गए परन्तु सरकार की कठोरता के कारण अजित सिंह तथा अम्बा प्रसाद देश छोड़कर अफगानिस्तान भाग गए तथा वहॉ से यूरोप।

दिल्ली में क्रांतिकारियों का नेतृत्व अमीर चंद ने किया। 1912 ई0 में दिल्ली में लार्ड हार्डिंग पर बम फेंका गया जिसमें वायसराय जख्मी हो गया तथा उसक एक सेवक मारा गया। सरकार ने संदिग्ध व्यक्तियों को गिरफ्तार कर मुकदमा चलाया। अमीर चन्द और बम फेंकने वाले बसंत विश्वास तथा बाल मुकुन्द को फॉसी दे दी गयी। रास बिहारी बोस का नाम भी इस षडयंत्र में था, फलतः वे भागकर जापान चले गए तथा वहीं से क्रांतिकारी गतिविधियॉ संचालित करते रहे। इस प्रकार 1915 ई0 तक **दिल्ली षडयंत्र कांड** के अन्तर्गत मास्टर अमीर चन्द, अवध बिहारी, बाल मुकुन्द तथा बसंत विश्वास जैसे कई देशभक्त आजादी के लए शहीद हो गए।

देश के अन्य भागों में भी क्रांतिकारी गतिविधियॉ चल रही थी। मद्रास में क्रांतिकारी गतिविधियों का संचालन विपिन चन्द्र पाल कर रहे थे। उनके विचारों से प्रभावित होकर अनेक लोग आंदोलन में कूद पड़े। 1911 में तिनेवेली के जिला मजिस्ट्रेट मि0 ऐश को रेलवे स्टेशन पर ही गोली मार दी गई। नीलकंठ अय्यर और वी0पी0एस0 अय्यर ने मद्रास में आन्दोलन को आगे बढ़ाया। जहॉ राजस्थान में आतंकवाद फेलाने में मुख्य भूमिका अर्जुन लाल सेठी, केसरी सिंह बारहट और राव गोपाल सिंह ने निभायी, वहीं प्रताप सिंह ने अजमेर में क्रांति को जीवित रखा। मध्य प्रदेश के प्रमुख क्रांतिकारी अमरौती के गणेश श्रीकृष्ण खापर्डे थे। संयुक्त प्रांत, आगरा एवं अवध के क्रांतिकारियों का प्रमुख केन्द्र बनारस था। बिहार में पटना तथा झारखंड में देवघर, दुमका आदि जगहों पर भी घटनाऍ हुई। पटना में कामाख्या नाथ मिश्र, सुधीर कुमार सिंह, पुनीतलाल, बाबू मंगला चरण आदि ने क्रांतिकारियों को अपना सक्रिय सहयोग दिया।

6. विदेशों में क्रांतिकारी संगठन एवं कार्य

विदेशों में क्रांतिकारी आंदोलन के प्रसार का श्रेय श्रीकृष्ण वर्मा को जाता है। उन्होंने कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय से शिक्षा प्राप्त की तथा बैरिस्टर बने। अंग्रेज पोलिटिकल रेजिडेंटों के आचरण से दुखी होकर उन्होंने भारत की स्वतंत्रता के लिए कार्य करने का दृढ़ निश्चय किया तथा अपने कार्य क्षेत्र के लिए लंदन को चुना। 1905 ई0 में कृष्ण वर्मा ने भारत स्वशासन समिति (India Home Rule Society) का गभ्न किया जिसे 'इंडिया हाऊस' की संज्ञा दी जाती थी। उन्होंने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक मासिक पत्रिका '*इण्डियन सोशियोलॉजिस्ट*' भी आरंभ की। उन्होंने विदेश आने वाले योग्यता प्राप्त भारतीयों के लिए एक–एक हजार रूपये की 6 फेलोशिप भी आरम्भ की। शीघ्र ही 'इण्डिया हाऊस' लंदन में रहने वाले भारतीयों के लिए आंदोलन का एक केन्द्र बन गया। बी0डी0 सावरकर, हरदयाल तथा मदनलाल ढींगरा जैसे क्रांतिकारी इसके सदस्य बन गए। वी0डी0 सारवकर भी जो पूना के फेरग्यूसन कालेज के एक तरूण स्नातक थे, कृष्ण वर्मा की फेलोशिप का लाभ उठाकर जून 1906 ई0 में लंदन चल पड़े। इससे पहले सावरकर ने 1904 में नासिक में 'मित्र मेला' नामक एक संस्था आरंभ की थी जो 'अभिनव भारत' नामक क्रांतिकारी संगठन में परिवर्तित हो चुका था। मई 1908 में इंडिया हाउस ने 1857 ई0 के विद्रोह की स्वर्ण जयन्ती मनाने का निश्चय किया। सावरकर ने इस विद्रोह को राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम की संज्ञा दी। यह विचार उन्होंने अपनी पुस्तक '*दी इंडियन वार ऑफ इंडिपेन्डेन्स*' में व्यक्त किए। इसी प्रकार '*दी ग्रेभ वार्निंग*' नाम की एक लघु पुस्तिका भी लंदन में बांटी गई तथा उसकी कुछ प्रतियॉ भारत भेजी गई। 1909 ई0 में क्रांतिकारी मदन लाल ढींगरा ने कर्नल विलियम कर्जन वाइली (Col. William Curzon Wyllie) की जो इण्डिया आफिस में राजनैतिक सहायक थे, गोली मारकर हत्या कर दी।

क्रांतिकारियों के इन कार्यों के विरुद्ध अंग्रेजी सरकार ने कड़ा रूख अपनाया। मदन लाल ढींगरा पकड़े गए और उन्हें फॉसी दी गई। सावरकर को बन्दी बना लिया गया तथा आजन्म निष्कासन का दण्ड सुनाया गया। श्याम जी कृष्ण वर्मा ने भी लंदन छोड़ दिया तथा पेरिस चले गये।

7. प्रथम विश्वयुद्ध, गदर आंदोलन एवं क्रांतिकारी राष्ट्रवाद

1914 ई0 में छिड़े प्रथम विश्वयुद्ध ने भारतीय राष्ट्रवाद के प्रहरियों को झकझोरा एवम् उन्हें उद्वेलित किया। उस समय यह धारणा प्रचलित हो गई थी कि ''ब्रिटेन पर किसी भी तरह का संकट भारत के हित में है, उसके लिए एक मौका है।'' इस मौके का कई जगहों पर कई तरह से फायदा उठाया गया। उत्तरी अमेरिका में गदर क्रांतिकारियों ने सशस्त्र संघर्ष के माध्यम से अंग्रेजी हुकूमत को उखाड़ फेकने का प्रयास किया।

गदर आंदोलन– उत्तरी अमरीका का पश्चिमी सागर तट 1914 के बाद से पंजाबी अप्रवासियों का स्थायी घर बनने लगा था। अंगेजी हुकूमत के तरफदार इन देशों के सौतेले व्यवहार से भारतीय बहुत क्षुब्ध हुए और उनके जेहन में राजनीतिक संघर्ष की चिंगारी सुलगने लगी। 1907 ई0 से ही पश्चिमी तट पर निर्वासित जिंदगी व्यतीत कर रहे रामनाथ पुरी ने 'सरकुलर–ए–आजादी' बॉटा जिसमें स्वदेशी आंदोलन का समर्थन किया गया। तारकनाथ दास ने बैंकोवर में 'फ्री हिन्दुस्तान' शुरू किया। जी0डी0 कुमार ने बैंकोवर में 'स्वदेश सेवक गृह' की स्थापना की तथा इस नाम से एक अखबार भी निकाला। इस समय तक तारकनाथ दास और जी0डी0 कुमार बैंकोवर छोड़ चुके थे और अमरीका में आ गए थे। यहॉ सिएटल में इन्होंने 'यूनाइटेड इंडिया हाउस' की स्थापना की। इसमें ज्यादातर लड़ाकू राष्ट्रवादी छात्र थे। धीरे–धीरे इनका सम्पर्क 'खालसा दीवान सोसायटी' से होने लगा और 1513 में इन दोनो संगठनों ने लंदन में ब्रिटेन के सचिव तथा भारत में वाइसराय एवं बड़े अंग्रेज अधिकारियों से बातचीत करने के लिए एक प्रतिनिधि मंडल भेजा, पर सचिव को इनसे मिलने की फुर्सत ही नहीं थी।

कनाडा तथा अमरीका में भारतीयों के इस लगातार आंदोलन ने प्रवासी भारतीयों में राष्ट्रीय चेतना जगाई और उन्हें एकताबद्ध किया। भगवान सिंह नामक सिख ने इस आंदोलन में प्राण फूॅका तथा जनता से अपील की कि वह 'वन्दे मातरम' को क्रांतिकारी सलाम माने। इसके बाद अमेरिका राजनीतिक गतिविधियों का केन्द्र बन गया। यहॉ सबसे महत्वपूर्ण भूमिका लाला हरदयाल ने निभाई जो अप्रैल 1911 में कैलिफार्निया पहुॅचे। वे कुछ दिन स्टैनफोर्ड यूनिवर्सिटी में अध्यापन भी किया। इधर 23 दिसम्बर को दिल्ली में हार्डिंग पर हुए हमले को इन्होंने उचित ठहराया तथा एक परचा *'युगान्तर'* जारी किया। मई 1913 में पोर्टलैंड में 'हिन्दी एसोसिएशन' का गठन हुआ। काशीराम के घर में इसकी पहली बैठक में भाई परमानन्द, सोहन सिंह भवना और हरनाम सिंह आदि ने भाग लिया। इस बैठक में हरदयाल ने कहा, ''अमरीकियों से मत लड़िए, यहॉ जो आजादी आपको मिली है, उसका इस्तेमाल अंग्रेजों से लड़ने के लिए तैयार कीजिए। आप सब लोग भारत जाइए और जनता का समर्थन प्राप्त कीजिए।''

लाला हरदयाल की यह अपील तुरन्त मान ली गई तथा एक समिति का गठन किया गया तथा एक साप्ताहिक अखबार *'गदर'* निकालने तथा इसे मुफ्त में बॉटने का निर्णय किया गया। सेनफ्रांसिस्को में 'युगान्तर' नाम से एक मुख्यालय खोलने का निर्णय किया गया। पोर्टलैंड की पहली बैठक के निर्णयों को मंजूरी देने के लिए अनेक नगरों और कस्बों में कई बैठकें आयोजित की गई और अंत में इन बैठकों के प्रतिनिधि ऐसटोरिया में मिले और पोर्टलैंड में किए गए सभी निर्णयों को अपनी मंजूरी दी। इस प्रकार गदर आंदोलन शुरू हो गया।

आंदोलनकारियों ने बड़े पैमाने पर प्रचार कार्य शुरू किया। युगांतर आश्रम

राजनीतिक कार्यकर्ताओं का मुख्यालय, उनका घर और शरणस्थली बन गया। पहली नवम्बर 1913 ई0 को '*गदर*' का पहला अंक प्रकाशित हुआ। यह उर्दू में था। 9 दिसम्बर 1913 ई0 से यह गुरूमुखी में भी छपने लगा। हिन्दी तथा गुजराती भाषा में भी इसके अंश निकलने शुरू हुए। गदर पार्टी के अध्यक्ष सोहन सिंह थे तथा लाला हरदयाल प्रचार विभाग के सचिव थे। इस दल के अन्य नेता थे– रामचन्द्र, बरकतुल्ला, रास बिहारी बोस, राजा महेन्द्र प्रताप एवं मैडम कामा।

गदर के हर अंक के पहले पृष्ठ पर छपता था–'अंग्रेजी राज का कच्चा चिट्ठा'। यह 14 सूत्रीय कच्चा चिट्ठा था, जो अंग्रेजों के कुशासन का उदाहरण देता था, जैसे अंग्रेजों द्वारा भारतीय संपदा की लूट, भारत में प्रति व्यक्ति औसत आय का कम होना, भूराजस्व बढ़ाते जाना, महामारी प्लेग से लाखों भारतीयों की मौत, स्वास्थ्य पर खर्च का बजट कम, सेना पर खर्च का बजट ज्यादा, फारस और चीन का अतिक्रमण, इसाई धर्म प्रचारकों को प्रोत्साहित करना तथा भारतीय महिलाओं को अपमानित करना, आदि। उत्तरी अमरीका में बसने वाले भारतीयों के बीच '*गदर*' बहुत लोकप्रिय हुआ और कुछ ही महीने के भीतर यह फीलीपीन, हांगकांग, चीन, मलय, सिंगापुर, त्रिनिदाद तथा होंडुरास में बसे भारतीयों के बीच पहुँच गया।

गदर आंदोलन को तीन घटनाओं ने काफी प्रभावित किया–

1. लाला हरदयाल की गिरफ्तारी
2. कामाटागारू कांड
3. प्रथम विश्वयुद्ध का आरंभ

सर्वप्रथम, लाला हरदयाल को अराजकतावादी गतिविधियों के कारण 25 मार्च 1914 को गिरफ्तार कर लिया गया। जमानत से छूटने के बाद वे देश से बाहर चले गए।

7.1 कामाटागारू प्रकरण

इसी बीच 1914 ई0 में कामाटागारू प्रकरण हुआ। कनाडा सरकार ने भारतीयों के अपने यहाँ प्रवेश पर लगभग प्रतिबंध लगा दिया था। एक ऐसा अप्रवासी कानून बना था जिसके तहत केवल वही भारतीय कनाडा जा सकता थे जो भारत से सीधे कनाडा आया हो। लेकिन नवम्बर 1913 ई0 में कनाडा की सुप्रीम कोर्ट ने 35 ऐसे भारतीयों को कनाडा में प्रवेश करने की इजाजत दे दी जो लगातार यात्रा करके वहीं आए थे। अदालत के इस फेसले से उत्साहित होकर सिंगापुर में ठेकेदारी का काम कर रहे एक भारतीय नागरिक गुरदीत सिंह ने किराए पर एक जहाज लेकर द0पू0 एशिया में रह रहे कुछ भारतीयों के साथ बैंकोवर जाने का फैसला किया। 376 यात्रियों से लदा कामागाटामारू जहाज बैंकोवर की ओर चल पड़ा। याकोहामा (जापान) में गदर क्रांतिकारियों ने इन जहाज यात्रियों से मुलाकात की, भाषण दिए

तथ परचे बांटे। जहाज जब बैंकोवर पहुॅचा तो इसे बंदरगाह से दूर ही रोक दिया गया तथा पुलिस ने घेराबंदी कर दी। कनाडा सरकार ने कामागाटामारू को कनाडा की जल सीमा से बाहर कर दिया। जब तक यह जहाज वापस याकोहामा पहुॅचता, प्रथम विश्व युद्ध छिड़ गया। अंग्रेजी हुकूमत के विरूद्ध जहाज के यात्रियों में जबरदस्त रोष था। जहाज किसी तरह जब कलकत्ते के पास बजबज पहुॅचा तो पुलिस को देखकर पहले से ही परेशान क्षुब्ध यात्रियों के क्रोध की सीमा न रही और पुलिस से जमकर उनका संघर्ष हुआ। 18 यात्री मारे गए 202 जेल भेज दिए गए तथा कुछ निकल भागने में कामयाब रहे।

इधर प्रथम महायुद्ध शुरू होते ही गदर पार्टी ने भारतीय सरकार के खिलाफ 'ऐलान–ए–जंग' युद्ध की घोषणा कर दी। जापान, फीलीपीन, चीन, हांगकांग, मलय, सिंगापुर, बर्मा में रहने वाले भारतीयों को भारत भेजने के लिए गदर नेता निकल पड़े। इधर गदर आंदोलनकारियों को कुचलने के ब्रिटिश हुकूमत ने कमर कस ली। जैसे ही प्रवासी भारतीय हिन्दुस्तान में दाखिल होते, उनकी पूरी जॉच पड़ताल होती। लगभग 8000 से उपर प्रवासी भारतीय स्वदेश लौटे जिनमें 1500 पर कड़ी निगाह रखी गई। इधर पंजाब में गदर क्रांतिकारियों को ज्यादा मदद नहीं मिली। फलतः अब नेता की तलाश होने लगी, बंगाली क्रांतिकारियों से संपर्क किया जाने लगा और अंततः शचीन्द्र शान्याल और विष्णु पिंगले के प्रयासों से सफलता मिली। रास बिहारी बोस ने भी मदद का पूरा आश्वासन दिया तथा जनवरी 1915 ई0 तक ये सारे नेता पंजाब पहुॅच गए।

रास बिहारी बोस ने एक संगठन का प्रारूप तैयार किया। 21 फरवरी 1915 को सैनिक विद्रोह की तारीख निश्चित की गई जो बाद में 19 फरवरी कर दी गई। लेकिन सी0आई0डी0 को सब कुछ पता चल गया। ज्यादातर नेता गिरफ्तार कर लिए गए लेकिन बोस किसी तरह बच निकलने में कामयाब हो गए। इस तरह व्यवहारिक रूप से गदर आंदोलन समाप्त हो गया। पंजाब तथा मंडालय में चले षडयंत्र के मुकदमों में 42 क्रांतिकारियों को फॉसी दी गई और लगभग 200 क्रांतिकारियों को लंबी सजा दी गई।

7.2 गदर आंदोलन का मूल्यांकन

गदर आंदोलन की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि इसने उपनिवेशवाद के खिलाफ वैचारिक संघर्ष छेड़ा। शुरूआती दौर के राष्ट्रवादी नेताओं ने अंग्रेजी हुकूमत के औपनिवेशिक चरित्र का जो विश्लेषण और पर्दाफाश किया, शायद उनकी पीढ़ी का सबसे महत्वपूर्ण तथा स्थायी योगदान था। गदर आंदोलन के ज्यादातर नेता सिख थे, लेकिन *गदर* अखबार तथा 'गदर की गूंज' कविता संग्रह ने जिस विचारधारा का प्रचार किया, उसका चरित्र धर्मनिरपेक्ष था। क्रांतिकारियों को धार्मिक भावना में बहने से मना किया गया। 'बंदे मातरम' को ही आजादी का सलाम माना

गया तथा 'सत श्री अकाल' जैसे धार्मिक नारों को आजादी से नहीं जोड़ा गया। गदर आंदोलन की दूसरी विशेषता थी– इसका लोकतांत्रिक तथा समतावादी चरित्र। गदर नेताओं ने स्पष्ट रूप से घोषणा की कि उनका उद्देश्य एक आजाद भारतीय गणतंत्र की स्थापना करना है। लाला हरदयाल अराजकतावादी, श्रमिक संघवादी और समाजवादी विचारधारा से प्रभावित थे, लेकिन उन्होंने समतावादी विचारधारा को गदर आंदोलन से जोड़ा। लाला हरदयाल का महत्वपूर्ण योगदान यह था कि उन्होंने गदर क्रांतिकारियों को अंतर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण अपनाने को प्रेरित किया।

दोष– लेकिन गदर आंदोलन की अपनी खामियॉ थीं। किसी सशस्त्र विद्रोह के लिए कितनी तैयारी, कितना पैसा, कैसा संगठन चाहिए और कब कैसी रणनीति अपनाई जानी चाहिए, इसका ठीक–ठाक अनुमान गदर क्रांतिकारी नहीं लगा सके। गदर आंदोलन ने किसी ऐसे नेतृत्व को जन्म नहीं दिया जो निरंतरता प्रदान करता, विभिन्न पहलूओं में साम्य स्थापित करता। हरदयाल में कुशल नेतृत्व तथा संगठन की क्षमता नहीं थी। वे मूलतः एक प्रचारक तथा विचारक थे। इस प्रकार सही समझ, प्रभावी नेतृत्व और मजबूत संगठन के अभाव में यह आंदोलन तो खत्म हुआ ही, साथ ही हिन्दुस्तान के क्रांतिकारियों की एक पीढ़ी भी खत्म हो गई। हिन्दुस्तान के लिए एक अपूरणीय क्षति थी। 40 क्रांतिकारियों को फॉसी दी गई और 200 क्रांतिकारी लंबे समय के लिए जेल के सींखजों में डाल दिए गए।

7.3 काबुल में अंतरिम भारत सरकार का गठन

बर्लिन में बसे कुछ भारतीय आंदालेनकारी, जिनका संपर्क अमरीका में गदर क्रांतिकारियों के नेता रामचंद्र से था, जर्मनी की मदद से विदेशों में तैनात भारतीय सैनिकों से संपर्क करने और उन्हें विद्रोह के लिए तैयार करने की कोशिश करने लगे। राजा महेन्द्र प्रताप तथा बरकतुल्ला ने अफगानिस्तान के अमीर से मदद लेने की कोशिश की और काबुल में एक अंतरिम सरकार गठित कर ली। इसके मंत्रिमंडल के अन्य सदस्य थे–मौलाना अब्दुला, मौलाना बशीर, सी0 पिल्लै, शमशेर सिंह, डॉ0 मथुरा सिंह, खुदाबख्श तथा मुहम्मद अली। बरकतुल्ला प्रधानमंत्री चुने गए। अंतरिम सरकार की सहायता के लिए कई देशों से सम्पर्क किया गया तथा राजा महेन्द्र प्रताप लेनिन से भी मिलने गए। लेकिन इन तमाम कोशिशों का कोई नतीजा न निकला तथा अंग्रेजी हुकूमत को उखाड़ फेकने का लक्ष्य पूरा न हो सका।

1919 ई0 तक अंतर्राष्ट्रीय तथा भारतीय राजनीति में तेजी से बदलाव आ रहा था। प्रथम विश्व युद्ध में इंग्लैण्ड की विजय से आतंकवादी आंदोलन को गहरी ठेस लगी। भारत सरकार ने स्थिति से निबटने के लिए समय–समय पर कई कानून बनाए जिनमें निम्नलिखित महत्वपूर्ण थे–

1. राजद्रोह सभाओं को रोकने का अधिनिमय–1908

2. विस्फोटक पदार्थ कानून–1908

3. समाचार पत्र (अपराध प्रोत्साहन) अधिनियम–1910

4. भारत रक्षा अधिनियम–1915

सरकार की कठोर नीति के तहत अनेक क्रांतिकारी नेता जेल में डाल दिए गए तथा बाकी भूमिगत होकर इधर–उधर बिखर गए। लेकिन मांटेग्यू–चेम्सफोर्ड सुधारों को लागू करने के लिए सद्भावपूर्ण माहौल बनाने के उद्देश्य से सरकार ने 1920 ई0 के शुरू में क्रांतिकारी राष्ट्रवादियों को आम माफी के तहत जेल से रिहा कर दिया। इसके कुछ समय बाद ही कांग्रेस ने असहयोग आंदोलन छेड़ दिया और महात्मा गांधी, सी0आर0 दास तथा अन्य नेताओं की अपील पर जेल से रिहा क्रांतिकारी राष्ट्रवादियों ने आतंक का रास्ता छोड़ असहयोग आंदोलन में शामिल हो गए। लेकिन असहयोग आंदोलन के एकाएक वापिस ले लिए जाने से इन उत्साही युवकों की उम्मीदों पर पुनः पानी फिर गया। उनमें से बहुतों ने राष्ट्रीय नेतृत्व की राजनीति पर प्रश्नचिन्ह लगाना शुरू किया तथा यह कहा कि, ''उनके साथ विश्वासघात हुआ है।'' इस प्रकार क्रांतिकारी राष्ट्रवाद का दूसरा चरण प्रारंभ हुआ जिसकी दो धाराएँ विकसित हुई– एक पंजाब, उत्तर प्रदेश और बिहार में तथा दूसरी बंगाल में। राम प्रसाद बिस्मिल, योगेश चटर्जी, शचीन्द्र शान्याल, भगत सिंह, बी0के0 दत्त, सुखदेव, राजगुरू, चन्द्रशेखर आजाद जैसे क्रांतिकारियों के नेतृत्व में क्रांतिकारी राष्ट्रवाद पुनः मुखरित हुआ।

8. उपसंहार

पहले चरण के कांतिकारी राष्ट्रवाद का यदि हम सिंहावलोकन करें तो यह साफ जाहिर है कि इनकी तकनीक और तरीके एक जैसे थे। इनका यह विश्वास था कि अंहिसा और शान्तिमय ढंग से आजादी नहीं मिल सकती। ये ब्रिटिश सरकार के अफसरों और उनकी सहायता करने वालों के मन में आतंक पैदा करना चाहते थे ताकि वे महसूस करें कि उनका जीवन यहॉ सुरक्षित नहीं है और वे इस दबाव में आकर देश छोड़ जाएँ। 1913–1918 ई0 के दौरान कांतिकारियों विशेषकर गदर पार्टी ने महसूस किया कि सिर्फ आतंक से अंग्रेजों को नहीं निकाला जा सकता और उन्होंने कुछ गुरिल्ला युद्ध के आधार पर योजना बनाई और सेना को भी अपने साथ लेना चाहा, मगर जैसा हमने देखा उनके नेता अनुभवी नहीं थे और उनमें नेतृत्व तथा संगठन की क्षमता का अभाव था। ये लोग देश को आजाद तो करवाना चाहते थे मगर स्वतंत्रता के पश्चात् कैसा समाज बनना चाहिए इस पर कोई ध्यान नहीं दिया। ये मतवाले देशभक्त थे मगर आजादी के बाद जनजीवन को बदलने तथा सामाजिक परिवर्तन लाने के बारे में चिंतित नहीं थे जिसके कारण वे भारत की जनता को अपने साथ नहीं ले पाए, विशेषकर उस समय जब देश की सभी मुख्य पार्टियॉ भारत सरकार के साथ थीं। इसी कारण से इस समय के कई क्रांतिकारी, जैसे वीर

हरदयाल और भाई परमानंद, हिन्दू राष्ट्रवादी बने, मगर गदर पार्टी के कई नेता, जो बाद में रूसी क्रांति से प्रभावित हुए, साम्यवादी बने तथा उन्होंनें दूसरे चरण की क्रांति और साम्यवादी आंदोलन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

अपनी असफलता के वावजूद भी इन वीरों की स्वतंत्रता संग्राम में महत्वपूर्ण भूमिका है। इन्होंने बलिदान और मौत से जूझने का जो साहस किया और जिस तरह से देश की खातिर हॅसते–हॅसते फॉसी के तख्ते पर लटके उससे देश के युवकों पर बहुत प्रभाव पड़ा और आने वाले वर्षो में उन्होंने आगे बढ़कर स्वतंत्रता आंदोलन में भाग लिया। प्रो0 विपिन चन्द्र ने क्रांतिकारियों की भूमिका पर टिप्पणी करते हुए लिखा है, ''राष्ट्रवाद के उद्देश्य की वजह से क्रांतिकारियों को देश को जागृत करने और अपने देशवासियों का प्यार एवं आदर प्राप्त करने में सफलता मिली। यह कोई मामूली सफलता नहीं थी, पर इस सफलता का लाभ परंपरागत कांग्रेसी नेताओं ने बटोर लिया जबकि क्रांतिकारियों ने उन्हें बुर्जुआ और मध्य वर्ग कहकर उनकी निंदा की थी और यह आशा की थी उनका स्थान कोई नई शक्ति लेगा।''

इस प्रकार क्रांतिकारी आदर्शवादियों ने भारत में एक नई चेतना तो जगाई मगर वे एक नए समाज और समाजवाद की रचना के उद्देश्य की तरफ उतना ध्यान नहीं दे पाए क्योंकि स्वराज उनका पहला लक्ष्य था। इसी कारण वे आज राष्ट्रवादियों के साथ याद किए जाते हैं।

9. बोध प्रष्न

(1) 1905 से 1919 ई0 तक भारत में क्रांतिकारी राष्ट्रवाद के उद्भव एवं विकास पर प्रकाश डालें।

(2) गदर आंदोलन पर एक संक्षिप्त लेख लिखें।

(3) क्रांतिकारियों (1900–1919ई0) की कार्य प्रणाली, संगठन तथा कार्यों पर प्रकाश डालें।

(4) क्रांतिकारियों की उपलब्धियों (1900–1919ई0) का आलोचनात्मक मूल्यांकन करें।

10. संदर्भ ग्रंथ

1. सुमित सरकार : आधुनिक भारत
2. आर0एल0 शुक्ल : आधुनिक भारत का इतिहास
3. विपिन चन्द्र : भारत का स्वतंत्रता संघर्ष
4. बी0एल0 ग्रोवर : आधुनिक भारत का इतिहास
5. Bipan Chandra : Nationalism and Colonialism in Northern India.

इकाई–5

साम्प्रदायिक राजनीति का विकास

इकाई की रूपरेखा :

1. उद्देश्य
2. प्रस्तावना
3. पृष्ठभूमि
4. साम्प्रदायिकता की परिभाषा
5. साम्प्रदायिकता के उदय के कारण
6. सर सैय्यद अहमद खान; नरमपंथी साम्प्रदायिकता का दौर
7. मुस्लिम लीग और मुस्लिम साम्प्रदायिकता का उदय
8. हिन्दू महासभा तथा हिन्दू साम्प्रदायिकता का उदय
9. मुस्लिम लीग तथा कांग्रेस समझौता (1916)
10. हिन्दू–मुस्लिम एकता दौर के काल में सांप्रदायिकता
11. उपसंहार
12. बोध प्रश्न
13. संदर्भ ग्रन्थ

1. उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप–

- यह जान सकेंगे कि साम्प्रदायिकता क्या है तथा इसका उद्भव कैसे हुआ।
- आप उन परिस्थितियों का अध्ययन कर सकेंगे जिनके कारण नरमपंथी साम्प्रदायिकता की शुरुआत हुई।
- मुस्लिम लीग की स्थापना से लेकर 1916 के कांग्रेस लीग समझौता तक साम्प्रदायिकता के विकास का सारगर्भित अध्ययन कर सकेंगे,
- 1916 के बाद की प्रमुख घटनाओं की महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

2. प्रस्तावना

भारत में साम्प्रदायिकता की समस्या को हिन्दू–मुस्लिम प्रश्न अथवा हिन्द–मुस्लिम धर्मों का विरोध के रुप में समझा जा सकता है, यद्यपि कि साम्प्रदायिक प्रश्न का आधार राजनीतिक अधिक और धार्मिक कम है। इन दो वर्गो

के अतिरिक्त इस त्रिभुज में एक तीसरा पक्ष भी था। अंग्रेजों ने हिन्दू और मुस्लिम सम्प्रदायों के बीच अपने आपको स्थापित कर एक साम्प्रदायिक त्रिभुज खड़ी कर दी। इस त्रिभुज के सबसे दृढ़ तथा आधार भुजा अंग्रेज थे। वे न हीं मुसलमानों के मित्र थे न हीं हिन्दूओं के शत्रु, वे तो ब्रिटिश साम्राज्यवाद के मित्र थे जो बॉटों तथा राज्य करो के सिद्धान्त में विश्वास करते थे। ब्रिटिश शासनकाल के अंतिम तीन दशकों में साम्प्रदायिकता का अत्यन्त विकसित रुप दिखाई पड़ता है जिसकी अंतिम परिणति द्वि–राष्ट्रीय सिद्वांत के जन्म से होती है। इसी द्वि–राष्ट्रीय सिद्वांत के कार्यान्वयन का परिणाम धर्म के आधार पर उपमहाद्वीप का विभाजन था। भारतीय साम्प्रदायिक राजनीति का इतिहास 1937 के पूर्व उदारवादी या नरमपंथी साम्प्रदायिक ढ़ाचे के तहत काम करता रहा जबकि 1937 के बाद इसने फासीवादी या उग्रवादी रुख अरिव्तयार कर लिया। संक्षेप में, इस इकाई में आप साम्प्रदायिक राजनीति के उद्भव एवं विकास का क्रमबद्ध एवं सारगर्भित अध्ययन करेंगे।

3. पृष्ठभूमि

यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि ब्रिटिश सत्ता की स्थापना के पूर्व भारत के दो प्रमुख समुदायों– हिन्दू और मुस्लिम में साम्प्रदायिक संघर्ष के उदाहरण नहीं मिलते। इसका अर्थ यह नहीं कि मुस्लिम शासकों के विरुद्व कोई विद्रोह या विरोध नहीं हुआ। केन्द्रीय एकता के शिथिल पड़ते ही सामंती विद्रोहों की घटनाओं से मध्यकालीन इतिहास भरा पड़ा है परन्तु मुस्लिम सत्ताधारियों के विरुद्व इन चुनौतियों का आधार साम्प्रदायिक नहीं था। इन तथ्यों का आधिकारिक पुष्टीकरण स्वयं साइमन कमीशन की रिपोर्ट (1930) में किया गया है। रिपोर्ट में यह स्वीकार किया गया है कि ब्रिटिश प्रान्तों की तुलना में भारतीय रियासतों के सीमा क्षेत्रों में साम्प्रदायिक वैमनस्य नहीं के बराबर है। इसका कारण अस्पष्ट था। देशी रियासतों में उस राजनैतिक प्रतिस्पर्धा का अभाव था, जिसका जन्म ब्रिटिश प्रान्तों में बीसवीं शताब्दी की प्रतिनिधि शासन प्रणाली के प्रारंभ से हुआ। साम्प्रदायिक समस्या 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध और 20वीं शताब्दी में भारतीय राष्ट्रवाद और ब्रिटिश साम्राज्य का सबसे महत्वपूर्ण बिन्दू बन गया। भारत के स्वतंत्रता संग्राम में साम्प्रदायिक राजनीति की बहुत बड़ी भूमिका है और यह भूमिका ही उसके महत्व की परिचायक है।

19वीं शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश में मुस्लिम समुदाय का भारत में नवोदित राष्ट्रीय आंदोलन और ब्रिटिश सत्ता के प्रति जिस ब्रिटिश प्रतिक्रिया का हमें परिचय मिलता है उसका संबंध 1857 में घटी घटनाओं से है। यह लगभग सर्वमान्य सा तथ्य है कि ब्रिटिश अधिकारियों की दृष्टि में 1857 की परिस्थितियों में भारत का प्रत्येक मुसलमान एक विद्रोही था। प्रो0 टामस मेटकॉफ ने इतिहासकारों के बहुमत के दृष्टिकोण को यह कहते हुए प्रस्तुत किया है कि शासकों की दृष्टि में मुस्लिम नेतृत्व और पड़यंत्र के कारण 1857 का विद्रोह जो प्रारंभ में सैनिक विद्रोह था, राजनैतिक

संघर्ष में परिवर्तित हो गया। लेकिन उपर्युक्त विवरण ब्रिटिश दृष्टिकोण का केवल पाक्षिक रुप ही प्रस्तुत करता है। ब्रिटिश अधिकारियों का एक वर्ग जिसमें जार्ज कैम्पबेल तथा गवर्नर जनरल कैनिंग के नाम सम्मिलित है, प्रारंभ से ही किसी एक निश्चित समुदाय के ऊपर इस विद्रोह का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व लादने के विरुद्ध थे। स्वयं रुहेलखंड में जहॉ की अधिकाधिक मुस्लिम जनसंख्या विद्रोह से संबंधित थी, सर सैय्यद अहमद खां ने बिजनौर के सदर अमीन के रुप में अपने एक मुस्लिम तहसीलदार सहयोगी के साथ विद्रोह को दबाने में ब्रिटिश सत्ता का साथ दिया था।

वहाबी आंदोलन के अन्तर्गत भारतीय भूमि को दार–उल–हर्ब (युद्व का स्थान) मानते हुए मुसलमानों का आह्वान किया गया कि वे या तो जेहाद (र्धमयुद्व) या फिर हिजरत (प्रयाण) का मार्ग अपनाए। सैय्यद अहमद की मृत्यु के बाद भी यह आंदोलन चलता रहा, जिसके पिछे एक विस्तृत संगठन था। 1872 में वायसराय मेयो की हत्या भी बहाबियों द्वारा कर दी गई । लेकिन ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा मुसलमानो के प्रति किसी बदले की कार्यवाई का समर्थन नहीं किया गया। विलियम हंटर ने *भारतीय मुसलमान* नामक एक पुस्तक भी लिखी जिसमें यह दर्शाया गया कि 1858 से 1878 के बीच 1373 व्यक्तियों को स्नातक की उपाधि मिली जिसमें मुसलमानों की संख्या शून्य थी। मुसलमानों के इस शैक्षणिक पिछड़ेपन ने सैय्यद अहमद को उद्वेलित कर दिया। दूसरी ओर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के बाद सर सैय्यद अहमद का सुधारात्मक दृष्टिकोण बदल गया। अलीगढ़ आंदोलन ने बौद्विक जागरुकता का विस्तार किया जिसके चलते मुसलमानों को राजनैतिक रुप से संगठित होने का अवसर मिला। 1905 के बंग–बिभाजन का राष्ट्रवादी आंदोलन पर तो प्रभाव पड़ा ही, मुस्लिम साम्प्रदायिकता आंदोलन को अग्रसर करने में इसका बहुत योगदान है।

4. साम्प्रदायिकता की परिभाषा

आधुनिक भारत में साम्प्रदायिकता के विकास की चर्चा करने से पहले शायद यह उपयोगी होगा कि हम इस शब्द की परिभाषा तय कर लें और उन बुनियादी गलतफहमियों को समझ लें जो इसके साथ लिपटी रही है। साम्प्रदायिकता या साम्प्रदायिक विचारधारा के तीन तत्व या चरण होते हैं और उनमें एक तारतम्य होता है। इस क्रम में सबसे पहला चरण इस विश्वास का उद्भव है कि एक ही धर्म माननेवालों के सांसारिक हित– यानी राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक; भी एक जैसे ही होते हैं। साम्प्रदायिक विचारधारा के उदय का यह पहला आधार है। इसी से धर्म पर आधारित सामाजिक–राजनीतिक समुदायों की धारणा का जन्म होता है। वर्गों, जातीय समूहों, भाषाई– सांस्कृतिक जमायतों, राष्ट्रों या प्रान्तों और राज्यों जैसी राजनीतिक क्षेत्रीय इकाईयों के स्थान पर धर्म पर आधारित इन समुदायों को ही भारतीय समाज की बुनियादी इकाईयों रुप में देखा जाने लगता है। साम्प्रदायिक विचारधारा का दूसरा तत्व यह विश्वास है कि भारत

जैसे बहुभाषी सामाज में एक धर्म के अनुयायियों के सांस्कृतिक हित यानी सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनैतिक; अन्य किसी भी धर्म के अनुयायियों के सांसरिक हितों से भिन्न है।

साम्प्रदायिकता अपने तीसरे चरण में तब प्रवेश करती है जब यह मान लिया जाता है कि विभिन्न धर्मो के अनुयायियों या समुदायों के हित एक दूसरे के विरोधी हैं। अतः बुनियादी रुप से साम्प्रदायिकता ही वह विचारधारा है जिसके आधार पर साम्प्रदायिक राजनीतिक खड़ी होती है। साम्प्रदायिक हिंसा, साम्प्रदायिक विचारधारा का ही एक स्वभाविक नतीजा है। इसी तरह हिन्दू, मुस्लिम, सिख या इसाई साम्प्रदायिकताएँ एक दूसरे से जूदा नहीं हैं बल्कि एक ही वृक्ष की विभिन्न शाखाएं हैं।

किसी भी व्यक्ति या दल या आंदोलन में साम्प्रदायिक विचारधारा का जन्म पहले चरण से ही होता है। बहुत से जातीय समूह इसके शिकार हो जाते हैं, यद्यपि वे साम्प्रदायिकता के अन्य तत्वों को स्वीकार नहीं करते । ये वही लोग थे, जिन्होने अपने को सिर्फ राष्ट्रवादी कहने के बजाए राष्ट्रीयतावादी मुसलमान या राष्ट्रीयतावादी सिख के रुप में देखा।

साम्प्रदायिकता के दूसरे चरण को उदार साम्प्रदायिकता या अगर हाल की लोकप्रिय शब्दावली का प्रयोग करें तो नरमपंथी साम्प्रदायिकता कह सकते हैं। उदार साम्प्रदायिकता भी मूलतः साम्प्रदायिक राजनीति ही कर रहा था, फिर भी उसकी आस्था कुछ उदारवादी, लोकतांत्रिक और नैतिक मूल्यों में थी। 1925 के पूर्व हिन्दू महासभा, मुस्लिम लीग, अली बंधु तथा 1922 के बाद मु0 अली जिन्ना, मदन मोहन मालवीय, लाला लाजपत राय, एन सी केलकर, इसी उदारवादी साम्प्रदायिक ढ़ाचे के तहत काम कर रहे थे।

साम्प्रदायिकता का तीसरा चरण या अंतिम चरण उग्रवादी साम्प्रदायिकता के साथ उपस्थित हुआ। उग्रवादी यानी ऐसी साम्प्रदायिकता जिसके तौर–तरीके उग्रवादी होते थे। इसके मूल में भय या घृणा थी तथा भाषा, कर्म एवं आचरण के स्तर पर उनका मिजाज हिंसक था। अपने राजनीतिक विरोधियों को वह अपना दुश्मन मानती थी। 1937 के बाद मुस्लिम लीग, हिन्दू महासभा तथा राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ शुरु से ही इस उग्रवादी साम्प्रदायिकता की ओर बढ़ रहे थे। यद्यपि साम्प्रदायिकता के ये तीनों दौर अलग–अलग वक्त पर आए लेकिन वे एक दूसरे को प्रभावित भी करते रहे और उनमें एक तरह की निरंतरता भी बनी रही। पहले चरण की साम्प्रदायिकता ने उदारवादी और उग्रवादी साम्प्रदायिकता को मजबूत किया तथा उनके खिलाफ संघर्ष चलाना कठिन कर दिया।

5. साम्प्रदायिकता के उदय के कारण

साम्प्रदायिकता का उदय आधुनिक राजनीति के उदय से जुड़ा हुआ है।

आधुनिक राजनीति प्राचीन, मध्ययुगीन वा 1857 के पहले की राजनीति का सीधा विकास नहीं थी बल्कि वह एक नई जमीन पर विकसित हुई। राजनीति और विचारधारा के रुप में साम्प्रदायिकता का भी जन्म राष्ट्रीयतावाद या समाजवाद जैसी अन्य दृष्टियों की तरह ही तभी सम्भव हुआ जब जनता की भागीदारी, जनजागरण और जनमत के आधार पर चलने वाली राजनीति अपने पांव जमा चूँकी थी। कुछ लेखकों के अनुसार भारत में साम्प्रदायिकता के विकास का मुख्य कारण यहॉ कई धर्मो का समानांतर अस्तित्व था। लेकिन यह वास्तविकता नहीं है। साम्प्रदायिकता के दायरे में धर्म उसी हद तक आता है, जिस हद तक वह गैर–धार्मिक मामलों में राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति करता है। साम्प्रदायिकता की प्रेरणा धर्म ने कत्तई नहीं दी और न साम्प्रदायिक राजनीति धार्मिक उत्थान चाहती थी। उसके लिए धर्म एक औजार भर था। लेकिन साम्प्रदायिकतावादियों ने धर्म का प्रयोग अपने अनुयायियों को गोलबंद करने के लिए जरूर किया। भारत में साम्प्रदायिकता के उदय के पीछे निम्न कारण उत्तरदायी माने जाते हैं;

(i) डपनिवेशवाद की देन

भारत में साम्प्रदायिक चेतना का जन्म उपनिवेशवाद के दबाव तथा उसके खिलाफ संघर्ष करने की जरुरत से उत्पन्न परिवर्तनों के कारण हुआ। विभिन्न अंचलो तथा देश के बढ़ते हुए आर्थिक, राजनीति और प्रशासनिक एकीकरण, भारत का एक आधुनिक राष्ट्र बनाने की प्रक्रिया, उपनिवेशवाद तथा भारतीय जनता का बढ़ता हुआ अन्तर्विरोध तथा आधुनिक सामाजिक वर्गो एवं उपवर्गो का निर्माण– इन तमाम कारणों से लोगों में अपने साझा हितों को देखने के नए तरीकों की जरुरत हुई। संपर्कों और वफादारियों के व्यापक आयामों की खोज तथा नई पहचानों की रचना जरुरी हो गई। 19वीं शताब्दी के पूर्वाद्ध जिन नई राजनीत का जन्म हुआ उसके कारण भी यह सब आवश्यक हो गया। संक्षेप में, साम्प्रदायिकता की जड़ें सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्थिति मे निहित थी।

(ii) आर्थिक दबाव और राजनीतिकता

सर्वोपरि भारतीय उपनिवेशवादी अर्थव्यस्था तथा इसके कारण उत्पन्न पिछड़ेपन का ही एक नतीजा साम्प्रदायिकता का विकास था। औपनिवेशिक शोषण के फलस्वरुप भारतीय अर्थव्यवस्था में जो ठहराव आया तथा भारतीय जनता, खास तौर से मध्य वर्ग, के जीवन पर इसका जो असर पड़ा, उसके कारण ऐसी स्थितियॉ पैदा हुई जो भारतीय समाज के विभाजन और कलह तथा उसके गहरे रुपान्तरण में सहायक थी। बीसवीं शताब्दी के दौरान भारत में न तो औद्योगिक विकास हुआ और न ही शिक्षा, स्वास्थ्य तथा सामाजिक– सांस्कृतिक सेवाओं का फैलाव हुआ। फलस्वरुप भारतीयों, खास तौर से शिक्षित मध्य वर्ग तथा निम्न

मध्य वर्ग में जिसके लिए कृषि का सहारा सुलभ नहीं था, में बेरोजगारी एक विकट समस्या बन गई। सिकुड़ते हुए आर्थिक अवसरों के उस दौर में साम्प्रदायिकता की जड़े मध्य वर्ग में निहित थी तथा उसके द्वारा मध्य वर्ग ने अपने हितों और आकांक्षाओं को अभिव्यक्त किया। 1937 तक साम्प्रदायिक राजनीति मुख्यतः सरकारी नौकरियों, शैक्षिक रियायतों और राजनीतिक पदों के इर्द–गिर्द मॅडराती रही। साम्प्रदायिकतावादियों ने ऐसी कोई मांग नही उठाई जिसका संबंध आम जनता के हितों से हो।

(iii) साम्प्रदायिक संघर्ष की विकृत वर्ग संघर्ष के रुप में अभिव्यक्ति

एक दूसरे स्तर पर साम्प्रदायिकता अक्सर शोषकों और शोषितों के बीच के सामाजिक तनाव और वर्ग संघर्ष को विकृत कर सिर्फ इस आधार पर साम्प्रदायिक संघर्ष में बदल देती थी कि वे अलग–अलग धर्मो के मानने वाले थे। असंतोष या हितों का संघर्ष वास्तविक था परन्तु धर्म या सम्प्रदाय से उसका कुछ भी लेना–देना नहीं था। लेकिन राजनीतिक जागरुकता के अभाव में उन्हें साम्प्रदायिक संघर्षो के रुप में विकृत अभिव्यक्ति मिली।

एक और स्तर पर सम्प्रदायिकता सत्ता, विशेषाधिकार और आर्थिक लाभ के लिए दो उच्च वर्गो का संघर्ष भी थी। ये वर्ग अलग–अलग धर्मो को मानने वाले थे और इन्होंने अपने संघर्ष में अपने सह–धर्मावलंबियों को शरीक करने के लिए साम्प्रदायिकता का इस्तेमाल किया। पश्चिम पंजाब और पूर्व बंगाल में ऐसा ही हुआ। पश्चिम पंजाब में मुस्लिम जमींदारों ने हिन्दू साहूकारों से संघर्ष किया तथा पूर्व बंगाल में मुस्लिम जोतेदरों ने हिन्दू जमींदारों से।

साम्प्रदायिकता का विकास आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से प्रतिक्रियावादी सामाजिक वर्गो और राजनीतिक शक्तियों– अर्द्धसामंती जमींदारों और नौकरशाह रहे लोगों (जिन्हें के0एम0 अशरफ ने जागीरदार वर्ग कहा है), व्यापारियों और साहूकारों, इत्यादि का उपयोग औपनिवेशिक शासन के हथियार के रुप में भी हुआ। चूँकि साम्प्रदायिकता में यह क्षमता थी कि वह जन संघर्ष को विकृत और गुमराह कर सके, राष्ट्रीय और वर्गीय आधार पर एकता न होने दे, इसलिए सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक दृष्टि से निहित स्वार्थों ने इसे जान बुझकर प्रोत्साहित किया या यूँ कहें कि अचेतन रुप से स्वीकार भी कर लिया।

(iv) फूट डालने और शासन करने की ब्रिटिश नीति

'फूट डालने और राज करो' की नीति सिर्फ साम्प्रदायिकता के स्तर पर ही नहीं हुई। भारतीय समाज में जो विभाजन मौजूद थे, उन्हें इसलिए प्रोत्साहित किया गया, ताकि राष्ट्रीय एकता के उदय को रोका जा सके । ढ़ाका में बंगाल विभाजन के पक्ष में मुसलमानों को रिझाने के लिए कर्जन का भाषण

उसकी कुटिल चाल का भंडा फोड़ता है। ''बंगाल विभाजन से ढ़ाका बहुसंख्यक मुस्लिम आबादी वाले नये प्रांत की राजधानी बन जाएगा। इससे पूर्वी बंगाल में मुसलमानों में एकता स्थापित हो जाएगी और पूर्वी जिले कलकत्ता की राजशाही से मुक्त हो जाएँगें।''

विवेचना का प्रश्न है कि वे कौन से तरीके थे जिनके जरिए ब्रिटिश हुकूमत ने साम्प्रदायिकता को पाला–पोसा? सर्वप्रथम, उसने हिन्दूओं, मुसलमानों और सिखों को लगातार अलग–अलग समुदायों का दर्जा दिया। बताया गया कि भारत न तो एक राष्ट्र है न राष्ट्र के रुप में उसका विकास हो रहा है, उसका गठन तो धर्म पर आधारित जातिगत समुदायों से हुआ है, जिनके हित आपस में टकराते हैं। दूसरा, साम्प्रदायिकतावादियों को सरकारी संरक्षण और रियायतें दी गयी। तीसरा, साम्प्रदायिक पत्रों, व्यक्तियों और आंदोलन के प्रति सहिष्णुता दिखाई गईं। चौथा, साम्प्रदायिक मांगों को तुरन्त स्वीकार कर लिया जाता था। उदाहरणस्वरुप 1885 से 1905 तक कांग्रेस अपनी एक भी मांग मंजूर नहीं करा सकी, जबकि मुस्लिम लीग ने 1906 में वायसराय के समक्ष अपनी साम्प्रदायिक मांग रखी और उसे मान लिया गया। इसी तरह 1932 में अंग्रेजों ने 'कम्यूनल अवार्ड' (Communal Award) के माध्यम से समस्त मांगें मंजूर कर ली । पांचवा, साम्प्रदायिक आधार पर बनाए गए चुनाव क्षेत्रों ने साम्प्रदायिक राजनीति के विकास में औजार का काम किया। अतः सरकार ने साम्प्रदायिक राजनीति को रोकने की जगह उसे अप्रत्यक्ष रुप से बढ़ावा दिया तथा 'फूट डालो तथा राज करो' की नीति का अनुसारण किया।

(v) हिन्दुवादी पुट की भूमिका

20वीं शताब्दीं के प्रारंभ में देश में जो राष्ट्रीयतावादी विचार था और उसके तहत जो प्रचार किया गया, उसके एक बड़े हिस्से में हिंदुवादी पुट था और इसने भी साम्प्रदायिकता के विकास में सहयोग दिया। तिलक ने राष्ट्रीयता का प्रचार करने के लिए गणेश पूजा और शिवाजी जयंती का सहारा लिया, तो बंग–भंग के खिलाफ आंदोलन की शुरुआत गंगा नदी में डुबकी लगाकर की गई। इस हिन्दू पुट के कारण हिन्दू साम्प्रदायिकता को भी वैचारिक पहल करने में सफलता मिली और राष्ट्रीय आंदोलन के लिए कठिन हो गया कि वह हिन्दू साम्प्रदायिकता की राजनीति करने वालों को अपनी कार्यकर्ता मंडली से अलग कर दे। इसके कारण मुस्लिम राष्ट्रीयतावादियों में मुस्लिम रंग भी आया।

(vi) इतिहास का साम्प्रदायिक इस्तेमाल

इतिहास को साम्प्रदायिक रंग देने की शुरूआत सबसे पहले 19वीं शताब्दी में

प्रारंभ हुई। ब्रिटिश इतिहासकार जेम्स ने भारतीय इतिहास के प्राचीन काल को 'हिन्दु युग' और मध्यकाल को 'मुस्लिम युग' की संज्ञा दी। हिन्दू साम्प्रदायिकतावादियों ने इस साम्राज्यवादी प्रचार को भी जल्द अंगीकार कर लिया कि मध्य युग के शासक हिन्दू विरोधी थे, हिन्दुओं पर जुल्म करते थे और उन्हें जबरदस्ती मुसलमान बनाते थे। स्वाभाविक था कि मुस्लिम साम्प्रदायिकतावादियों पर इसकी प्रतिक्रया होती। उन्होंने पश्चिम एशिया में 'इस्लामी उपलब्धियों के स्वर्ण युग' का राग अलापना शुरू किया और उनके नायकों, मिथकों तथा सांस्कृतिक परम्पराओं के गीत गाने लगे।

इस प्रकार अनेक कारणों से भारत में साम्प्रदायिकता की भावना विकसित हुई। यह सत्य है कि देश में अनेक धर्म अपना अस्तित्व रखते थे, परन्तु आधुनिक युग से पहले यह समस्या देखने को नहीं मिला। साम्राज्यवादी ताकतों ने भारत देश के इस विभिन्नता का दुरुपयोग कर देश के प्रमुख सम्प्रदायों मे विद्वेष की भावना को विकसित करवाया।

6. सर सैयद अहमद खाँ : नरमपंथी साम्प्रदायिकता का दौर

सर सैयद अहमद खॉ आरंभिक काल में हिन्दू–मुस्लिम एकता के कट्टर समर्थक थे, परन्तु कालान्तर में वे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के कट्टर विरोधी एवं सरकार परस्त हो गये। 1857 ई0 के विद्रोह के समय विद्रोह को दबाने में उन्होंने अधिकारियों की मदद की और कई अंग्रेज परिवारों को शरण देकर उन्होंने उनकी प्राण रक्षा की। सरकारी सेवा में कार्यरत रहते हुए भी उन्होंने कई पुस्तकों की रचना की। उन्होंने एक पुस्तिका *जाम–ए–जाम* प्रकाशित की तथा एक अन्य पुस्तक '*असर–उस–सनादीद*' में उन्होंने पुरातत्व की दृष्टि से दिल्ली के भग्नावशेषों का वर्णन किया। शासकों की दृष्टि में अपनी छवि सुधारने के लिए इन्होंने '*असवाब–ए–बगावत–ए–हिन्द*' की रचना की। उन्होंने *'लॉयल मुहम्मडंस ऑफ इंडिया'* (हिन्दुस्तान के स्वामीभक्त मुसलमान) शीर्षक से कई परचे निकाले। अंग्रेजों को अपनी स्वामीभक्ति का विश्वास दिलाने के लिए उन्होंने 'साइंटिफिक सोसाइटी' की स्थापना की जो 1864 ई0 में अलीगढ़ लाया गया। उन्होंने कुरान पर टीका की तथा '*तहजीब–उल अखलाक*' द्वारा अपने विचारों का प्रचार किया। उन्होंने 1875 ई0 में अलीगढ़ में एक 'मुस्लिम ऐंग्लो ओरिएन्टल' स्कूल आरंभ किया जहॉ पाश्चात्य विषय तथा मुस्लिम धर्म एवं विज्ञान दोनों ही पढ़ाए जाते थे। शीघ्र ही अलीगढ़ मुस्लिम सम्प्रदाय के पुनर्जागरण का केन्द्र बन गया। यही पौधा आगे चलकर 1920 ई0 में अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के वृक्ष के रूप में सामने आया। अलीगढ़ आंदोलन को और भी प्रचारित करने के लिए सैय्यद अहमद ने 1886 ई0 में 'ऑल इंडिया मुहम्मंडन एजूकेशनल कांग्रेस' की स्थापना की। इसका उद्देश्य भारत के विभिन्न भागों में अधिवेशन आयोजित करके अधिकतम क्षेत्रों में आंदोलन की मुख्य

धारा को लोकप्रिय बनाना था। 1890 ई0 में इसका नाम 'आल इंडिया एजूकेशन कान्फ्रेंस' कर दिया गया।

1885 ई0 में राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना होने के बाद सर सैय्यद अहमद खॉ का स्वर बदल गया और यहीं से साम्प्रदायिकता की पहली झलक देश में दिखाई पड़ने लगी। यह जाहिर हो गया कि कांग्रेस साम्राज्यवाद के विरूद्ध है इसलिए वायसराय डफरिन और संयुक्त प्रान्त के लेफ्टिनेंट गवर्नर ने 1887 ई0 में उस पर हमला बोल दिया। सैय्यद अहमद को लगा कि सरकार का साथ देकर ही मुसलमानों के आर्थिक अवसर बढ़ाए जा सकते हैं, अतः उन्होंने इस हमले में स्वयं को शामिल होने का फैसला किया। इसके अलावा उन्हें अपने अलीगढ़ कॉलेज के लिए बड़े जमींदारों और ब्रिटिश अधिकारियों के सहयोग की जरूरत थी।

बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जिस साम्प्रदायिक विचारधारा का प्रचार किया जाने लगा, उसकी मुख्य स्थापनाएँ इसी दौर में तैयार हुईं। सैय्यद अहमद तथा उनके समर्थकों ने यह कहना शुरू किया कि अगर अंग्रेज भारत से चले जाएँगे तो हिन्दू अपने संख्या बल के कारण मुसलमानों पर हावी हो जाएँगे और उनके 'हितों का गला घोंट देंगे।' 16 मार्च 1888 ई0 को मेरठ के अपने भाषण में सैय्यद अहमद ने कहा, ''हिन्दू और मुसलमान न केवल दो राष्ट्र हैं बल्कि विरोधी राष्ट्र हैं।'' उनके अनुसार कांगेस एक हिन्दू संस्था है, जिसके ''उद्देश्य मुस्लिम हितों के विरूद्ध'' है। सैय्यद अहमद ने मुसलमानों की ऐतिहासिक भूमिका और राजनीति के महत्व को मान्यता देने की मांग करते हुए कहा कि सरकारी नौकरियों, विधायिकाओं, आदि में मुसलमानों के लिए आरक्षण होना चाहिए तथा विधान परिषदों में उनकी संख्या हिन्दुओं से कम नहीं होनी चाहिए। लेकिन अपनी मांगों के समर्थन में उन्होंने जवाबी राजनीतिक दल नहीं बनाया। औपनिवेशिक शासकों ने इन स्थापनाओं में निहित साम्प्रदायिकता के तर्क को समझने में देर नहीं की और उसके समर्थन तथा संरक्षण में लग गए।

सैय्यद अहमद की मृत्यु के बाद मुस्लिम साम्प्रदायवादियों ने सरकार के प्रति वफादारी की नीति बनाए रखी। 1905–06 के दौरान जब बंगाल में स्वदेशी आन्दोलन छिड़ा, तो उन्होंने सरकार का पक्ष लिया और स्वदेशी आंदोलन में भाग लेने वाले मुसलमानों को इस्लाम के ''कमीने गद्दारों' और 'कांग्रेसी दलालों' की उपाधि दी। लेकिन मुस्लिम साम्प्रदायवादियों को उदीयमान मुस्लिम शिक्षित वर्ग को निष्क्रिय या सरकार समर्थक बनाए रखने की कोशिश पूरी तरह सफल नहीं हुई। सैय्यद अहमद के समय भी यह सफल नहीं हो सका था। बदरूद्दीन तैयब जी ने 1887 ई0 के कांग्रेस अधिवेशन की अध्यक्षता की तथा आर0एस0 सहानी, ए0 हीमजी, मीर मुशर्रफ हुसैन, हामिद अली तथा बंबई, बिहार तथा उत्तर भारत के अनेक मुस्लिम बुद्धिजीवी कांग्रेस में शामिल हुए।

7. मुस्लिम लीग और मुस्लिम साम्प्रदायिकता का उदय

स्वदेशी आंदोलन से जिस जन–राजनीति की शुरूआत हुई, उसके प्रवाह में काफी मुसलमान कांग्रेस की ओर आकर्षित हुए तथा सरकार को भी कुछ संवैधानिक रियायतों की घोषणा करनी पड़ी। अब मुस्लिम साम्प्रदायिकतावादियों को लगा कि निष्क्रियता की नीति छोड़नी होगी तथा सक्रिय राजनीति में आना होगा। इंग्लैण्ड स्थित भारत राज्य सचिव से लेकर जिला प्रशासक तक सभी पदाधिकारी इस बात पर तुले हुए थे कि यदि भारत में अंग्रेजी राज को बनाए रखना है तो भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की बढ़ती हुई शक्ति का कोई न कोई प्रतिकार ढूँढ़ना ही पड़ेगा। एम0ओ0ओ0 कॉलेज, अलीगढ़ के प्रिंसिपल आर्चबोल्ट के सुझाव पर आगा खॉ एक प्रतिनिधि मंडल लेकर अक्टूबर 1906 ई0 में शिमला में लार्ड मेयो से मिले। प्रतिनिधि मंडल ने अंग्रेजी क्राउन के प्रति राजभक्ति की भावना प्रकट की और उनके सुधारों की प्रशंसा की। परन्तु उन्होंने चुनावों पर अपनी शंका व्यक्त की कि संयुक्त चुनाव प्रणाली उनके हितों में नहीं होगी। प्रार्थियों ने ये भी कहा कि मुसलमानों को उनके जनंसख्या के आधार पर स्थानों का आरक्षण नहीं मिलना चाहिए अपितु उनके राजनीतिक महत्व और साम्राज्य की रक्षा में की गई सेवाओं के आधार पर आरक्षण मिलना चाहिए। लार्ड मिंटो ने इस प्रार्थना को स्वीकार कर लिया। शिमला प्रतिनिधि मंडल के समय मुस्लिम नेताओं ने एक केन्द्रीय मुस्लिम सभा बनाने की सोची जिसका उद्‌देश्य केवल मुसलमानों के हितों की रक्षा करना हो। फलस्वरूप मुस्लिम नेताओं ने ढ़ाका के नवाब सलीमुल्ला के नेतृत्व में 30 दिसम्बर 1906 को ढ़ाका में 'मुस्लिम लीग' की स्थापना की। सलीमुल्ला मुस्लिम लीग के संस्थापक अध्यक्ष थे जबकि प्रथम अधिवेशन की अध्यक्षता मुश्ताक हुसैन ने की। इसके उद्‌देश्य निम्नलिखित थेः–

1. भारतीय मुसलमानों में अंग्रेजी सरकार के प्रति राजभक्ति की भावना को बढ़ाना और यदि सरकार के किन्हीं विचारों के विषय में गलत धारणा उठे तो उसे दूर करना।
2. भारतीय मुसलमानों के राजनैतिक और अन्य अधिकारों की रक्षा करना तथा उनकी आवश्यकताओं को मर्यादापूर्ण शब्दों में सरकार के सन्मुख रखना।
3. उद्‌देश्य 1 और 2 को ध्यान में रखते हुए यथासंभव मुसलमानों तथा अन्य भारतीय सम्प्रदायों के बीच सद्‌भाव बढ़ाना।

इस प्रकार आरंभ से ही मुस्लिम लीग एक साम्प्रदायिक सभा थी जिसका उद्‌देश्य केवल मुसलमानों के राजनैतिक तथा अन्य हितों की रक्षा करना था। मुस्लिम लीग ने अमृतसर अधिवेशन में मुसलमानों के लिए पृथक निर्वाचन मंडल की मांग की, जो 1909 ई0 में मार्ले–मिण्टो सुधारों के द्वारा प्रदान कर दिया गया। 1909 ई0 के इंडियन काउंसिल ऐक्ट के अन्तर्गत ब्रिटिश भारत की प्रत्येक विधान सभा के लिए मुसलमानों को अपने समुदाय पर आधारित चुनाव मंडलों से अपने प्रतिनिधियों

को, अपने जनसंख्या के अनुपात से कहीं अधिक अनुपात में, चुनने का अधिकार मिला। इसके अतिरिक्त उन्हें साधारण चुनाव मंडलों में भी मत देने का अधिकार दिया गया। इस प्रकार अंग्रेजों ने विष के दांत बो दिए जिसके लिए तत्कालीन सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियॉ जिम्मेदार थीं। मुस्लिम लीग का चरित्र सरकारपरस्त साम्प्रदायिक तथा अनुदारवारी था जिसका संघर्ष औपनिवेशिक सत्ता से नहीं बल्कि राष्ट्रीय कांग्रेस और हिन्दुओं से था।

8. हिन्दू महासभा तथा हिन्दू साम्प्रदायिकता का उदय

मुस्लिम साम्प्रदायिकता के साथ–साथ भारत में हिन्दू साम्प्रदायिकता भी जन्म ले रही थी। 1890 ई0 के दशक के पूर्वार्द्ध में पूरे भारत में गोवध विरोधी प्रचार किया जाने लगा तथा ऐतिहासिक दृष्टिकोण से यह सारा प्रचार मुसलमानों के खिलाफ था। यद्यपि कि 1896 ई0 तक गोवध–विरोध आंदोलन दब गया, लेकिन बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक में उसका और भी जहरीला उभार दिखाई दिया। हिन्दू साम्प्रदायिकतावादियों ने मुसलमानों की देखा–देखी विधायिकाओं तथा सरकारी नौकरियों में हिन्दू सीटों की मांग की।

इसी बीच पंजाब में 'पंजाब हिन्दू महासभा' की स्थापना 1909 ई0 में हुई। हिन्दू साम्प्रदायिक विचारधारा और राजनीति की नींव इसके नेताओं बी0एन0 मुखर्जी तथा लालचन्द ने रखी। उन्हें इस बात का बहुत क्षोभ था कि राष्ट्रीय कांग्रेस एक ओर सभी भारतीयों का एक राष्ट्र के रूप में संगठित करने की कोशिश कर रही है वहीं दूसरी ओर मुसलमानों को राजी करने के लिए 'हिन्दू हितों की बलि' दे रही है। अपनी अंग्रेजी पुस्तिका 'राजनीति में आत्म–अस्वीकार' में लालचंद ने कांग्रेस को हिन्दुओं का ऐसा दुर्भाग्य बताया, जिसे उन्होंने खुद आमंत्रित किया था। उसका कहना था, (लालचंद)–''पिछले 25 वर्षो में जो जहर फैलाया गया है, उसके कारण हिन्दुओं का अस्तित्व ही समाप्त हो जाएगा। अतः हिन्दुओं को न केवल कांग्रेस का परित्याग करना चाहिए, बल्कि उसे खत्म करने की भी कोशिश करनी चाहिए।''

इसी क्रम में अखिल भारतीय हिन्दू महासभा का पहला अधिवेशन अप्रैल 1915 ई0 में कासिम बाजार के महाराजा की अध्यक्षता में हुई। लेकिन महासभा लीग की तुलना में बहुत धीरे–धीरे आगे बढ़ रही थी। इसका एक महत्वपूर्ण कारण यह था कि मुलसमानों में जमींदारों, अभीजातवर्गीय लोगों, भूतपूर्व नौकरशाहों और मुल्ला वर्ग की तूती बोलती थी, जबकि हिन्दुओं में आधुनिक शिक्षा के प्रसार के कारण वैज्ञानिक दृष्टि, लोकतंत्र और राष्ट्रीयता का आग्रह बढ़ रहा था। हिन्दू और मुसलमान दोनों समुदायों के भू–स्वामी धार्मिक सत्ता संभाले हुए लोग उदारवादी तथा सरकारपरस्त थे, लेकिन हिन्दुओं में उनका जोर कम हो रहा था, जबकि मुसलमानों में बरकरार था। औपनिवेशिक सत्ता ने भी हिन्दू साम्प्रदायिकता को बहुत कम रियायतें दी क्योंकि उसे मुस्लिम साम्प्रदायिकता पर ज्यादा भरोसा था।

9. मुस्लिम लीग तथा कांग्रेस समझौता (1916 ई0)

युवा मुस्लिम बुद्धिजीव शीघ्र ही मुस्लिम लीग के अभिजातवर्गीय नेतृत्व की सरकारपरस्त, हिन्दू विरोधी और दासतापूर्व मानसिकता से असंतुष्ट हो गए। कारण, इस युवा वर्ग में आधुनिक परिवर्तनवादी राष्ट्रीय विचारों का प्रवेश हो रहा था। इसी दौर में मौलाना मुहम्मद अली, हकीम अजमल खॉ, हसन इमाम, मौलाना जफर अली खॉ तथा मजहर–ऊल–हक के नेतृत्व में प्रखर राष्ट्रवादी 'अहरार आंदोलन' छेड़ा गया। 1912 ई0 में आगा खॉ को लीग की अध्यक्षता से इस्तीफा देना पड़ा तथा मुहम्मद अली जिन्ना को मुस्लिम लीग में शामिल होने का आमंत्रण दिया गया। इधर मौलाना अबुल कलाम आजाद ने अपने समाचार पत्र *अल हिलाल,* जिसकी शुरूआत 1912 ई0 में हुई थी, के माध्यम से राष्ट्रीय विचारों का प्रचार किया। 1912 से 1914 ई0 के बीच मुस्लिम लीग कांग्रेस की नीतियों के काफी नजदीक पहुँच चुकी थी लेकिन दुर्भाग्यवश मुहम्मद अली जिन्ना जैसे कुछ लोगों को छोड़कर उनकी राष्ट्रीयता पूर्णतः धर्मनिरपेक्ष नहीं थी।

1916 ई0 के अंत में जिन्ना तथा तिलक के प्रयासों से लीग तथा कांग्रेस के बीच लखनऊ में एक समझौता हुआ, जिसे लखनऊ समझौता कहा जाता है। समझौते पर हस्ताक्षर के अनुसार दोनों संगठनों ने सरकार के सामने एक जैसी ही राजनीतिक मांगे रखी, जिनमें से एक यह भी था कि विश्व युद्ध समाप्त होने पर भारत को स्वशासन दिया जाए। लखनऊ समझौते में अल्पसंख्यकों के लिए पृथक मतदाता मंडलों तथा सीटों के आरक्षण को मान्यता दी गई। कई दृष्टियों से यह समझौता प्रगतिशील था, लेकिन इसके द्वारा कांग्रेस ने सांप्रदायिक राजनीति को स्वीकार भी कर लिया। समझौते में यह निहित था कि भारत विभिन्न समुदायों का देश है और उनके हित अलग–अलग हैं। इसके नतीजे खतरनाक निकले। बावजूद इसके 1916 ई0 के लखनऊ समझौता हिन्दू–मुस्लिम एकता के इतिहास में एक नया दौर प्रारंभ करता है।

10. हिन्दू–मुस्लिम एकता दौर के काल में सांप्रदायिकता

प्रथम विश्व युद्ध के बाद रौलेक्ट कानूनों के विरोध तथा खिलाफत और असहयोग आंदोलन के दौरान राष्ट्रवादी धारा और मजबूत हुई तथा हिन्दू–मुस्लिम एकता के नारे लगने लगे। प्रसिद्ध आर्य समाजी नेता स्वामी श्रद्धांनन्द को दिल्ली की जामा मस्जिद के मंच से भाषण करने के लिए आमंत्रित किया गया तथा सैफुद्दीन किचलू को अमृतसर के स्वर्ण मंदिर की चाबियॉ सौंप दी गई। 'हिन्दू–मुस्लिम की जय' की हवा पूरे देश में बहने लगी। इसी बदली हुई परिस्थिति में महात्मा गाँधी ने खिलाफत के प्रश्न को राष्ट्रीय मुद्दा से जोड़कर हिन्दू–मुस्लिम एकता लाने का प्रयास किया। महात्मा गॉधी ने असहयोग आंदोलन के मुख्य तीन उद्देश्यों में से एक उद्देश्य खलीफा के पद की पुनःस्थापना थी। परन्तु यह कार्य भी सार्थक साबित

नहीं हो सका। गड़बड़ी यह हुई कि राष्ट्रवादी नेतृत्व मुसलमानों की धार्मिक राजनीतिक चेतना को धर्मनिरपेक्ष राजनीतिक चेतना में नहीं बदल सका। यही कारण था कि असहयोग आंदोलन के वापस लेते ही लोगों में निराशा फैली तथा साम्प्रदायिकता ने अपना सिर पुनः उठाया। पुराने साम्प्रदायिक संगठनों के मुरझाये हुए बिरवे लहलहाने लगे, कुछ नए भी बने। मुस्लिम लीग फिर सक्रिय हो गई और इस बार उसमें कोई राष्ट्रीय तत्व नहीं था। 1923 ई0 में हिन्दू महासभा का पुनर्जन्म हुआ। मुहम्मद अली तथा शौकत अली ने कांग्रेस पर यह आरोप लगाया कि वह हिन्दू सरकार स्थापित करना चाहती है। 1923–24 ई0 के दौरान उत्तर भारत के अनेक शहरों में साम्प्रदायिक दंगे हुए। साम्प्रदायिकता का दूसरा यानी नरमपंथी दौर 1937 ई0 तक जारी रहा तथा उसके बाद वह तेजी से अतिवादी तौर–तरीके अपनाने लगा।

11. उपसंहार

19वीं शताब्दी के आखिरी तीन दशकों के पूर्व भारत में साम्प्रदायिकता की दर्शन दुर्लभ थे। लेकिन राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के बाद सर सैय्यद अहमद खॉ, जिन्होंने कभी हिन्दू तथा मुसलमान को भारत का दो ऑख कहा था, का स्वर बदल गया और यहीं से साम्प्रदायिकता की पहली झलक दिखाई पड़ने लगी। इधर कांग्रेस की बढ़ती लोकप्रियता से मुसलमान सम्प्रदायवादी नेता तथा साम्राज्यवाद के प्रहरी घबड़ा गए। सैय्यद अहमद को भी लगा कि सरकार का साथ देकर ही मुसलमानों के आर्थिक एवं शैक्षिक अवसर बढ़ाए जा सकते हैं। इसी सोच के तहत 1906 ई0 में ब्रिटिश हुकूमत के आर्शीवाद से मुस्लिम लीग की स्थापना कांग्रेस के विरूद्ध हुआ। इधर 1909 ई0 में पंजाब हिन्दू महासभा के नेतृत्व में हिन्दू साम्प्रदायिकता का जन्म हुआ। परन्तु सरकार ने हिन्दू साम्प्रदायिकता की अपेक्षा मुस्लिम साम्प्रदायिकता को ज्यादा प्रोत्साहित किया। साम्प्रदायिकता का यह दौर उदार या नरमपंथी साम्प्रदायिकता के नाम से जाना गया। 1937 ई0 के पहले अधिकांश साम्प्रदायिकतावादी, मसलन 1925 ई0 के पूर्व हिन्दू महासभा, मुस्लिम लीग, अली बुंधु तथा 1922 ई0 के बाद मुहम्मद अली जिन्ना, मदनमोहन मालवीय, लाजपत राय और एन0सी0 केलकर इसी उदारवादी साम्प्रदायिक ढाँचे के तहत काम किया। 1937 ई0 के बाद साम्प्रदायिकता उग्रवादी तौर तरीके अपनाने लगी। उग्रवादी साम्प्रदायिकता का जन्म घृणा, भय और अतार्किकता की राजनीति से हुआ। ब्रिटिश शासन वर्ग द्वारा राज करो की नीति से प्रोत्साहित होकर मुस्लिम लीग ने जब उपमहाद्वीप के विभाजन की मांग की तो उनका उद्देश्य आम मुसलमानों की स्थिति सुधारना कदापि न था। उनका स्पष्ट उद्देश्य भौगोलिक दृष्टि से महाद्वीप में एक ऐसा क्षेत्र स्थापित करना था जहाँ के मुस्लिम व्यवसायी और व्यापारी वर्ग तथा नवोदित बौद्धिक वर्ग हिन्दू प्रतिस्पर्धा से बच सके। इस सीमित उद्देश्य के कारण ब्रिटिश साम्राज्यवाद की समाप्ति के बाद भी दोनों ही प्रभुता सम्पन्न राष्ट्रों में सामाजिक पुननिर्माण का कार्य

और भी टल गया।

12. बोध प्रश्न

(1) साम्प्रदायिकता की परिभाषा दें तथा इसके प्रमुख तत्वों की विवेचना करें।

(2) भारतीय राजनीति में साम्प्रदायिकता के उद्‌भव के कारणों पर प्रकाश डालें।

(3) 1857 से 1919 ई0 तक साम्प्रदायिकता के विकास पर एक संक्षिप्त नोट लिखें।

(4) मुस्लिम लीग की उत्पत्ति तथा उद्‌देश्यों पर प्रकाश डालें।

13. संदर्भ ग्रन्थ

1.	Bipin Chandra	:	Communalism and the Writing of Indian History
2.	विपिन चन्द्र	:	भारत का स्वतंत्रता संघर्ष
3.	वी0एल0 ग्रोवर	:	आधुनिक भारत का इतिहास
4.	सुमित सरकार	:	आधुनिक भारत
5.	आर0एल0 शुक्ला	:	आधुनिक भारत का इतिहास, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय
6.	B.N. Pandey	:	Break-up of the British India.
7.	Beni Prasad	:	The Hindu-Muslim Question

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन
मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

MAHY-108

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम

खण्ड – 3

भारतीय राष्ट्र के विविध स्वर

इकाई – 1 **131**

ब्रिटिश औद्योगिक नीति और भारत

इकाई – 2 **144**

गैर ब्राह्मण और दलित प्रतिरोध

इकाई – 3 **165**

मजदूर और कृषक विद्रोह

इकाई – 4 **180**

स्त्रियों की भागीदारी

इकाई – 5 **195**

मुसलमानों का अलगाव

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

प्रयागराज

परामर्श समिति

प्रो0 सीमा सिंह — कुलपति, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन विश्वविद्यालय, प्रयागराज

कर्नल विनय कुमार — कुलसचिव, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन विश्वविद्यालय, प्रयागराज

पाठ्यक्रम निर्माण समिति (अध्ययन बोर्ड)

प्रो0 संतोषा कुमार आचार्य — इतिहास एवं प्रभारी निदेशक, समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

प्रो0 हरम्ब चतुर्वेदी — आचार्य एवं पूर्व विभागाध्यक्ष, इतिहास विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

प्रो0 संजय श्रीवास्तव — आचार्य, इतिहास विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

डॉ0 सुनील कुमार — सहायक आचार्य, प्राचीन इतिहास, समाज विज्ञान विद्याशाखा उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

लेखक

डॉ0 अर्चना सिंह — सहायक आचार्य, इतिहास काशी नरेश राजकीय पी0जी0 कॉलेज, भदोहीं, उ0प्र0

सम्पादक

प्रो0 हेरम्ब चतुर्वेदी — आचार्य एवं पूर्व विभागाध्यक्ष, इतिहास विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज (इकाई 1–5)

पाठ्यक्रम समन्वयक

डॉ0 सुनील कुमार — सहायक आचार्य, प्राचीन इतिहास, समाज विज्ञान विद्याशाखा उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

2022 (मुद्रित)

© उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज 2021

ISBN : 978-93-94487-87-1

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस सामग्री के किसी भी अंश को उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में, मिमियोग्राफी (वक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

नोट : पाठय सामग्री में मुद्रित सामग्री के विचारों एवं आकड़ों आदि के प्रति विश्वविद्यालय, उत्तरदायी नहीं है।

इकाई–1

ब्रिटिश औद्यौगिक नीति और भारत इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 पूर्व औपनिवेशिक काल में भारतीय उद्योग धन्धों की स्थिति

1.2.1 अनौद्योगीकरण की प्रक्रिया

1.3 बोध प्रश्न – 1

1.4 औद्योगीकरण का आरम्भ

1.4.1 प्रथम महायुद्ध के समय तक औद्योगीकरण

1.4.2 प्रथम महायुद्ध के बाद औद्योगीकरण

1.5 धन निष्कासन (भारत के धन का निस्सरण)

1.6 सारांश

1.7 बोध प्रश्न – 2

1.8 शब्दावली

1.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

1.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में हम अंग्रेजों की भारत विजय के बाद भारत में उनकी नीति और साथ ही ब्रिटिश औद्योगिक नीति में समय–समय पर होने वाले परिवर्तनों और भारत से धन निस्कासन पर भी चर्चा करेंगे।

1.1 प्रस्तावना

अंग्रेजी विजय के पूर्व भारत की अर्थव्यवस्था ग्रामीण अर्थव्यवस्था थी। आरम्भ में अंग्रेज एक व्यापारी के रूप में भारत आये। उनका मुख्य उद्देश्य भारतीय व्यापार से ज्यादा से ज्यादा मुनाफा कमाना था। सन् 1617 ई0 में मुगल बादशाह जहाँगीर ने अंग्रेजों को सूरत में अपनी व्यापारिक कोठी स्थापित करने की आज्ञा प्रदान की और धीरे–धीरे ये अंग्रेज व्यापारी व्यापार के साथ–साथ भारतीय राजाओं व नवाबो से अन्य व्यापारिक सुविधायें प्राप्त करने में भी सफल रहें।

इन व्यापारिक सुविधाओं का लाभ उठाकर अंग्रेजों ने अपना व्यापार अत्यधिक विस्तृत किया तथा भारतीय उद्योगों के विकास में सहायता की। हालाकि इन प्रयासों के पीछे उनका अपना स्वार्थ ही सिद्ध हो रहा था। ये वे भारतीय उद्योग थे जिनमें

ब्रिटिश पूँजी को प्रयोग में लाया गया था या वे उद्योग जिनसे अंग्रेजों को ज्यादा से ज्यादा लाभ मिल रहा था।

यद्यपि अंग्रेजों को भारतीय व्यापार से मुनाफा प्राप्त हो रहा था लेकिन अंग्रेजों के ऊपर भारतीय कच्चे माल से अपने (इंग्लैण्ड के) उद्योगों को विकसित करने का उत्तरदायित्व था इसलिए उन्होंने भारतीय उद्योग धन्धों को नष्ट करने की नीति अपनायी जिसके कारण कम्पनी की आर्थिक नीति में अनेक परिवर्तन आने प्रारम्भ हुए। प्रसिद्ध विद्वान आर0पी0 दत्त ने अपनी बहुचर्चित पुस्तक आज का भारत (India Today) में ब्रिटिश साम्राज्यवादी औपनिवेशिक आर्थिक नीतियों को तीन भागों में बांटा हो। जैसे–

1. व्यापारिक काल (1757–1913)
2. मुक्त व्यापार का काल (1813–1858)
3. वित्तीय साम्राज्यवाद (1858–स्वतंत्रता तक)

इस अवधि के दौरान अंग्रेजी नीतियाँ मुख्य रूप से इन्हीं से सम्बंधित रही।

1.2 पूर्व औपनिवेशिक काल में भारतीय उद्योग–धन्धों की स्थिति

स्वतंत्रता प्राप्ति से पहले लगभग डेढ़ सौ वर्षों तक भारत में ब्रिटिश शासन रहा। ब्रिटिश शासन से पूर्व भारत की आर्थिक दशा अच्छी थीं। देश की अर्थ–व्यवस्था का ढ़ाँचा मजबूत था और उसका स्तर बहुत ऊँचा था। अर्थव्यवस्था के विभिन्न अंगों के बीच काफी संतुलन था। यदि भारतीय अर्थव्यवस्था सामान्य रूप से उसी प्रकार चलती रहती तथा समय के साथ–साथ देश में बड़े पैमाने के आधुनिक उद्योग स्थापित होते जाते तो यह निश्चित था कि देश धीरे–धीरे आधुनिक औद्योगिक विकास की स्थिति पर पहुँच जाता, लेकिन ब्रिटिश शासन की स्थापना ने अर्थव्यवस्था की सामान्य गति को गम्भीर क्षति पहुँचाई। अर्थव्यवस्था की यह प्रक्रिया, आगे बढ़ना तो दूर बल्कि विपरीत दिशा में चलने लगी। ब्रिटिश शासन की शोषणवादी नीति के फलस्वरूप भारतीय अर्थव्यवस्था का आन्तरिक संतुलन समाप्त हो गया और उसका विकास न केवल रूक ही गया बल्कि पतनोन्मुख हो गया। जिसके परिणामस्वरूप धीरे–धीरे देश का आर्थिक विकस चौपट हो गया। अतः गरीबी बढ़ती गई, बेरोजगारी फैलती गई और पहले का समृद्ध भारत अब दीन–हीन अवस्था को प्राप्त हो गया। लेकिन इस बात से भी हम इन्कार नहीं कर सकते हैं कि ''अंग्रेजों ने जो तकनीकी परिवर्तन किए थे, उनसे राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का उत्थान हुआ और एक आर्थिक पद्धति के भीतर आने का भारत को बल मिला।'' इसी परिवर्तन का आधार था संचार तथा परिवहन के आधुनिक साधनों का विकास। रेल और तार ने न केवल शहरी व्यापारिक केंन्द्रो में क्रांति कर दी, बल्कि इससे देहाती अर्थव्यवस्था में भी परिवर्तन आया। भारतीय गाँवों में अब वस्तु–विनिमय के बदले धन देकर खरीद–बिक्री होने लगी।

19वीं शताब्दी के मध्य से देश में औद्योगीकरण की प्रक्रिया शुरू हो गईं और वर्तमान शताब्दी में भारत की आजादी मिलने तक काफी औद्योगीकरण हुआ, लेकिन अंग्रेजों ने भारत में जो नया आर्थिक संगठन खड़ा किया, वह स्वभाव से जीवनदायी नहीं था। स्वदेशी अथवा परम्परागत अथवा कुटीर उद्योगों के विनाश की कीमत पर नवीन औद्योगीकरण की नींव डालीं गई और नए विकासों का फायदा विदेशी शासकों, उद्योगपतियों, पूँजीपतियों और साथ ही थोड़े से उच्चवर्गीय भारतीयों को, जो विदेशी और देशी व्यापार के विकास और देश के प्रशासन में भाग लेते थे, उन्हें पहुँचा। डॉ0 ताराचन्द के अनुसार, ''किसान, कारीगर, भूमिहीन मजदूर और शहरों के मजदूरों को ऊँचें मूल्यों के कारण व्यापार के बढ़ने तथा उद्योग–धन्धों के कारण जो समृद्धि आई, उससे कोई लाभ नहीं हुआ। इसका प्रमाण है 1860 ई0 के बाद देश में बार–बार दुर्भिक्ष पड़े, भुखमरी और बीमारी से देहातों में आर्थिक मौतें हुई और देहाती समाज में कर्जदारी की वृद्धि हुई। मजदूरी की वृद्धि की तुलना में अन्न का मूल्य अधिक तेजी से बढ़ रहा था, जबकि रोजगार जहाँ का तहाँ रहा। उद्योग धन्धें तथा व्यापार के क्षेत्र आकार में बढ़ते रहे, कर–भार अधिक हो गया, यद्यपि राष्ट्रीय आय में कोई वृद्धि नहीं हुई, भारतीय अर्थव्यवस्था की इन प्रवृत्तियों से गरीबों को बहुत भारी कष्ट हुआ तथा मध्य वर्ग में विशेषकर शिक्षित वर्ग में, असंतोष बढ़ा और राजनीतिक उत्तेजना फैली।''

स्वयं ब्रिटिश इतिहासकार यह सिद्ध कर चुके हैं कि ब्रिटिश शासन से पूर्व भारत विश्व का एक बहुत समृद्ध और सम्पन्न राष्ट्र माना जाता था। सम्पूर्ण सत्रहवीं शताब्दी में और अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में देश की अर्थ–व्यवस्था समृद्ध थी, कृषि एवं व्यापार तथा उद्योग उन्नत दशा में थे। बड़े पैमाने के राष्ट्रीय उद्योग विकसित न होने पर देश स्वदेशी उद्योगों के कारण विश्व विख्यात था और भारत को 'विश्व की वर्कशॉप' कहा जाता था। भारतीय माल की विदेशों में बड़ी माँग थी। 1918 के औद्योगिक कमीशन ने अपनी एक रिपोर्ट में कहा था– ''उस समय जबकि पश्चिमी यूरोप में, जो कि आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था का जन्म स्थान है, असभ्य लोग निवास करते थे, भारत अपने शासकों की अपार सम्पत्ति और अपने शिल्पकारों की कलात्मक निपुणता के लिए प्रसिद्ध था और इसके बहुत बाद भी, जबकि पश्चिम के साहसी व्यापारियों ने पहली बार भारतीय भूमि पर पैर रखे, इस देश का औद्योगिक विकास यदि यूरोप के अधिक उन्नत देशों की तुलना में श्रेष्ठ नही ंतो घटिया भी न था।'' 18वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक भारतीय हस्तकला उद्योग की उत्कृष्ट कलात्मक वस्तुएँ विश्व–प्रसिद्ध थीं।

यह वह समय था जब भारत स्वदेशी उद्योगों के क्षेत्र में 'विश्व–सिरमौर' था। देश में तीन तरह के उद्योग विकसित थे– ग्रामीण उद्योग, शहरी उद्योग तथा दूसरे उद्योग जो कि बहुत कुछ स्थानीय प्रकृति के थे। ग्रामीण उद्योग तो इस प्रकृति के थे कि उनसे लोगों की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती थीं। शहरी उद्योगों द्वारा

कला–कौशलपूर्ण वस्तुओं का निर्माण होता था। ये उद्योग विलासिता का सामान बनाने में अग्रणी थे। वस्त्र–बुनाई का काम गाँवों और नगरों दोनों में होता था, लेकिन नगरीय उद्योग अधिक सुसंगठित थे और अधिक उत्तम किस्म का माल बनाते थे।

भारत का सबसे महत्त्वपूर्ण उपयोगी और विख्यात कुटीर उद्योग 'हथकरघा बुनाई' था। विभिन्न शिल्पों में लगे कारीगरों में से लगभग दो–तिहाई बुनकर थेः भारतीय बुनकर शताब्दियों से इस बात के लिए प्रसिद्ध थे कि ये नरम से नरम, महीन से महीन और मोटे से मोटा कपड़ा तैयार कर सकते थे। सबसे प्रसिद्ध कपड़ा था मलमल। इसके उत्पादन का मुख्य केन्द्र ढाका था। मलमल विश्वविख्यात था। बीस गज लम्बे और एक गज चौड़े बढ़िया मलमल के थान को एक अँगूठी में से निकाला जा सकता था जिसे बनाने में छः महीने का समय लगता था। सारे भारत में आम इस्तेमाल का कपड़ा कुछ खास विख्यात स्थानों पर ही बनता थ। ढ़ाका, पटना के पास जहानाबाद, बुलन्दशहर में सिकन्दराबाद, लखनऊ, बनारस, रायबरेली में जायस, फैजाबाद में पाँडा, रामपुर, मुरादाबाद, कानपुर, प्रतापगढ़, ललितपुर, शाहपुर, अलीपुर, मेरठ, आगरा, दिल्ली, रोहतक, ग्वालियर, चंदेरी, इन्दौर और दक्षिण भारत में आर्नी, हैदाराबाद, रायपुर, सेलम, तंजौर, और मदुरै ऐसे स्थान थे जहाँ अलग–अलग डिजाइनों और किस्मों का बढ़िया कपड़ा तैयार होता था। भारत में भरपूर कपास होती थी और स्त्रियाँ अपने अतिरिक्त समय में चरखीकात कर सूत बनाती थीं। यह एक गृह उद्योग था। वास्तव में कताई और बुनाई उद्योग देश के कोने–कोने में फैले हुए थे। रंगाई, छपाई, सोना एवं चाँदी के धागे और वस्त्र–निर्माण कार्य बुनाई उद्योग से सम्बद्ध थे।

रेशम उद्योग भी काफी पनपा हुआ था और रेशम के बुनकर बहुत समृद्ध थे। बनारस और आगरा कढ़ाई के लिए तथा सबसे बढ़िया रेशमी कपड़े के उत्पादन के लिए प्रसिद्ध थे। अनेक स्थानों पर लोग ऊनी कपड़े तैयार करने अथवा ऊन से बनी वस्तुएँ तैयार करने के व्यवसाय में लगे हुए थे। कम्बल बनाने के काम में पंजाब सबसे आगे था, इसके बाद राजस्थान और उत्तर प्रदेश का स्थान था। लाहौर, लुधियाना और अमृतसर कुछ अन्य प्रसिद्ध केन्द्र थे, जहाँ ऊनी वस्तुएँ कम्बल, शाल, कोट, पैन्ट, मोजे, दस्तानें और सर्दियों में काम आने वाले अन्य कपड़े तैयार होते थे। जयपुर, बीकानेर और जोधपुर ऊनी कपड़ों के लिए प्रसिद्ध थे।

भारत भवन–निमार्ण, पत्थर और लकड़ी की नक्काशी, ईंट और चूना बनाने, कागज बनाने, सोने–चाँदी के आभूषण बनाने, जवाहरात के कार्य, चीनी तथा नमक व नील के उत्पादन, ताँबा, पीतल, काँसा आदि से संबंधित विभिन्न उद्योगों के लिए विख्यात था। लोहे की गलाई और ढलाई के काम में भी देश काफी आगे बढ़ा हुआ था। यहाँ का जहाज निर्माण उद्योग उन्नत था और बंगाल में बने जहाज लन्दन तक माल ले जाया करते थे। कुम्हार मिट्टी के बर्तन बनाते थे। साधारण बर्तन तो सभी जगह बनते थे, लेकिन मिट्टी के चमकदार बर्तन कुछ खास स्थानों पर ही बनाए

जाते थे। बंगाल में खुलना, दिनाजपुर, रानीगंज उत्तर प्रदेश में लखनऊ और अलीगढ़, दक्षिण मद्रास और सेलम, विशेष किस्म के कलात्मक और पक्के मिट्टी के बर्तनों के लिए विख्यात थे। तेल निकालने का उद्योग भी मुख्य कुटीर उद्योग था क्योंकि प्रत्येक घर में तेल की बहुत जरूरत होती थीं। मिट्टी के तेल के आने के पहले दीपक बत्तियाँ जलाने में नारियल या एरण्ड का तेल इस्तेमाल होता था। बाँस और चमड़ा उद्योग भी सारे देश में फैले हुए थे। बाँस से बनी विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ हर रोज काम में आती थीं। अतः कुछ जातियों का यह कौशलपूर्ण वंशानुगत व्यवसाय था।

देश के स्वदेशी उद्योगों से केवल स्थानीय आवश्यकताओं की ही पूर्ति नहीं होती थीं अपितु भारी मात्रा में विदेशों को निर्यात किए जाने के लिए भी माल बनाया जाता था। देश में बने हुए वस्त्र, शाल–दुशाले, चन्दन की चीजें, कागज, जूते, बक्से, चमड़ा, चीनी, नील, रंग, लकड़ी की वस्तुएं, सोना, ताँबा, विलासिता की विभिन्न वस्तुएँ भारत से विदेशों को निर्यात की जाती थीं। दक्षिण–पूर्वी एशिया, अरब, देश, ईरान, पश्चिमी अफ्रीका यूरोप एवं जापान जैसे देश भारतीय वस्तुओं के मुख्य ग्राहक थे। सूती, रेशमी और ऊनी वस्त्रों तथा जरी और कला की वस्तुओं में भारत बहुत ही आगे था और इन वस्तुओं की विदेशों में बड़ी माँग थी।

कुल मिलाकर भारत की आर्थिक स्थिति अंग्रेजों के भारत पर विजय प्राप्त करने के समय तक काफी संतुलित थी। यह संतुलन कृषि और उद्योग दोनों के बीच था। इनमें सभी जातियों के लोगों को रोजगार प्राप्त था। आत्मनिर्भर ग्रामीण समाज था जहाँ विभिन्न वर्गों के लिए वंशानुगत काम धंधे थे। मशीन युग अभी बहुत दूर था। उन्हीं दिनों में यूरोप में औद्योगिक क्रांति शुरू हुई थी, लेकिन उसका प्रभाव भारत में महसूस नहीं किया था। इस प्रकार की स्थिर और शान्त आर्थिक स्थिति में अंग्रेज अपनी साम्राज्यवादी शोषण की प्रणाली यहाँ लाए जिसने धीरे–धीरे भारत की आर्थिक स्थिरता नष्ट कर दी।

भारत में अंग्रेजों के एक राजनीतिक शक्ति के रूप में उभरने के साथ–साथ भारत की परम्परागत अर्थव्यवस्था पर इसका कुप्रभाव पड़ने लगा और धीरे–धीरे देश की आर्थिक स्थिति का संतुलन बिगड़ता चला गया। अंग्रेजों द्वारा भारत में राज्य विस्तार से पूर्व बहुत लम्बें अर्से से भारत के साथ यूरोपीय लोग व्यापार और वाणिज्य करते आ रहे थे, लेकिन इससे भारत की आर्थिक स्थिति पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ा था लेकिन प्लासी की लड़ाई के बाद सम्पत्ति लूटने की प्रक्रिया का आरम्भ हुआ। कम्पनी कर्मचारियों द्वारा अपने राजनीतिक विशेषाधिकारों का फायदा उठाते हुए, मुद्रा के अलावा अन्य चीजें अपने देश को भेजी जाने लगीं और इन सब बातों के जो आर्थिक कुपरिणाम निकले इनमें सबसे भयंकर परिणाम देश के आन्तरिक व्यापार तथा औद्योगिक क्षेत्रों में नजर आये।

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से देश के पुराने अथवा परम्परागत उद्योग या स्वदेशी उद्योग एक–एक कर नष्ट होने लगे। उद्योगों के पतन की प्रक्रिया वस्त्र–उद्योग से शुरू हुई और तब धीरे–धीरे अन्य उद्योग भी इसकी चपेट में आ गए। पतन की यह प्रक्रिया जोर पकड़ती गई। भारत की अर्थव्यवस्था अपनी समृद्धि खोती चली गई, उसका संतुलन बिगड़ता गया और अंततः भारत औद्योगिक देश से एक कृषि–प्रधान देश बन गया– ''ऐसा कृषि प्रधान देश जिसकी कृषि की दशा भी दयनीय थी। ब्रिटिश शासकों ने अपने प्रतिक्रियावादी और शोषणवादी नीति से भारतीय उद्योगों को शोचनीय पतन के मार्ग पर लाकर खड़ा कर दिया।

भारतीय कुटीर अथवा स्वदेशी उद्योगों में पतन के आर्थिक प्रभाव

1. भारत के विश्व प्रसिद्ध उद्योग एक–एक करके नष्ट होते गये, फलस्वरूप भारत की आर्थिक प्रतिष्ठा को गहरी क्षति पहुँची।
2. देश की अर्थ–व्यवस्था एकदम लड़खड़ा गई और पतन की और बढ़ती हुई जड़ता की स्थिति में पहुंच गई। स्वदेशी उद्योग भारत की आर्थिक समृद्धि के आधार थे, पर इनके पतन और शोषण से जबरदस्त आर्थिक हानि हुई और भारत एक गरीब देश बन गया।
3. आर्थिक क्षेत्र में भारत के कला–कौशल को अपूर्णनीय क्षति पहुंची। जिस कला–निपुणता के बल पर भारत के स्वदेशी उद्योग ऐसी वस्तुएं बनाते थे जिनकी सानी विश्व में नहीं थी, उस कला–निपुणता का बड़ी सीमा तक विनाश हो गया।
4. स्वदेशी उद्योगों के पतन से देश के निर्यात को भारी धक्का लगा। दूसरी ओर ब्रिटिश कारखानों का निर्मित माल भारी मात्रा में देश में प्रवेश करने लगा। भारत के बाजार आयात हुए माल से भर गए, वस्तुओं की माँग समाप्त सी हो गई और इस तरह भारत की मण्डियाँ विदेशी माल की मण्डियाँ बन गई।
5. भारत औद्योगिक देश से मुख्यतः एक खेतिहर देश बन गया। इसके विभिन्न अंगों के बीच जो तालमेल था वह समाप्त हो गया।
6. गरीबी और आर्थिक विपन्नता के प्रसार ने देश में बेरोजगारी, भुखमरी आदि गम्भीर आर्थिक रोगों को तेजी से पनपाया। लोगों की क्रय–शक्ति घट गई और वे अपने व्यवसाय खो बैठे।
7. भारतीय अर्थव्यवस्था की आत्म–निर्भरता समाप्त होकर वह ब्रिटिश अर्थव्यवस्था पर आश्रित हो गया।
8. यद्यपि परम्परागत उद्योगों का स्थान फैक्टरी उद्योगों ने ले लिया, लेकिन रिक्त स्थान की पूर्ति तेजी से नहीं की जा सकी और फलस्वरूप देश को

आर्थिक विनाश का सामना करना पड़ा।

इस प्रकार की नीतियों से स्वदेशी उद्योगों का पतन देश के लिए बड़ा घातक सिद्ध हुआ। ब्रिटिश सरकार की रेल–नीति ने भी स्वदेशी उद्योगों पर गहरी चोट की और देश की अर्थव्यवस्था पर कुछ बुरे प्रभाव डाले।

देश के कुटीर उद्योगों अथवा हस्तशिल्प या स्वदेशी उद्योगों का विनाश का एक गम्भीर आर्थिक परिणाम यह हुआ कि उनमें लगे हुए लोग भूमि पर निर्भर होने के लिए बाध्य हो गए। अंग्रेजों ने भारतीय ग्रामोद्योग या हस्तशिल्प नष्ट कर दिया, किन्तु उनके स्थान पर रोजगार का कोई अन्य स्रोत कायम नहीं किया। परिणामस्वरूप बेरोजगार शिल्पी और कारीगर कृषि–व्यवस्था में लग गये जिससे भूमि पर निर्भर आबादी का अनुपात बढ़ गया। कृषि में बढ़ते हुए आबादी की इस प्रवृत्ति को ही 'तीव्र देहातीकरण' अथवा भारत का अनौद्योगीकरण' कहा गया है। रूद्रदत्त एवं सुन्दरम के अध्ययन के अनुसार ''हस्तशिल्प उद्योगों के पतन के कारण भूमि पर जनसंख्या के दबाव में वृद्धि हुई। 19वीं शताब्दी के मध्य लगभग 55 प्रतिशत जनसंख्या कृषि पर निर्भर थी जबकि 1901 में कृषि पर निर्भर लोगों की संख्या 68 प्रतिशत और 1931 में 72 प्रतिशत हो गई। भूमि पर जनसंख्या के दबाव में वृद्धि का परिणाम जोतों के तीव्र उपविभाजन और विखण्डन के रूप में हुआ।''

इतिहासकार डॉ. ताराचन्द ने अपने अध्ययन में बताया कि कृषि पर लोगों की निर्भरता किस प्रकार बढ़ी और औद्योगिकरण की प्रक्रिया के प्रारम्भ और विकास के बावजूद देश का किस प्रकार 'अनौद्योगिकरण' हुआ?

1.2.1 अनौद्योगीकरण की प्रक्रिया चालू होना

19वीं सदी में औद्योगिक विकास की जानबूझ कर अवहेलना, भारत और ब्रिटेन के सम्बन्धों की कहानी का सबसे दुखभरा अध्याय है। भारत का प्राचीन उद्योग–धन्धा, जिससे भूतकाल में भारत के लोगों की एक काफी बड़ी संख्या को लाभजनक रोजगार मिलता था और जिसके कारण संसार का सोना और चाँदी यहाँ पर खिंचा आता था, बुरी तरह चौपट हो चुका था। कोई भी नया उद्योग, नष्ट दस्तकारियों का स्थान नहीं ले सका और जापान की तरह यहाँ इस तरह का कोई प्रयत्न नहीं किया गया कि दस्तकारी की पद्धति को नई औद्योगिक अर्थव्यवस्था के साथ मिलाकर एक नई पद्धति बनाई जाए।

इंग्लैण्ड के शासक गुटों के स्वार्थ के कारण पश्चिम के नए मशीन उद्योग को यहाँ बढ़ने नहीं दिया गया। इस प्रकार से भारतीय अर्थव्यवस्था को दोहरी क्षति पहुंचाई गई। नए रोजगारों की सृष्टि, केवल जिससे आबादी के इस विस्फोट का सामना किया जा सकता था, बिल्कुल नष्ट कर दी गई और मध्ययुगीन गरीबी को बनाए रखा गया। इस बात की पुष्टि 1880 के दुर्भिक्ष आयोग ने 19वीं सदी के

उत्तरार्द्ध में भारत की आर्थिक स्थिति का वर्णन एक वाक्य में इस प्रकार किया है– ''भारतीयों की गरीबी और अकाल का मुख्य कारण यह है कि खेती ही जनता की एकमात्र बहुत बड़ी जीविका है और वर्तमान दुर्दशा का इसके सिवाय कोई और इलाज नहीं हो सकता कि नए–नए रोजगार चालू किए जाएँ ताकि खेती से फालतू जनता खिंचकर वस्तु उत्पादन या ऐसे ही अन्य रोजगार में चली जाए।''

भारत में व्यापार के विकास के फलस्वरूप यूरोप में जैसा औद्योगीकरण हुआ था वैसा यहाँ नहीं हुआ। विदेशों से पूंजी आकर रेलों, बागानों, खानों, बैंकों, बीमा तथा सार्वजनिक कर्ज में चली गई। पर इस पूँजी ने चाय–बागानों, खानों और पटसन की मिलों के अलावा किसी क्षेत्र में भारत में आधुनिक उद्योग के विकास को प्रोत्साहन नहीं दिया।

1858 के पहले लोहे के कारखाने, नील बागान, कागज के कारखाने, रेशमी उद्योग जैसे कारोबारों में निजी व्यापारी दिलचस्पी लेते थे। स्वयं महारानी ने 1858 की घोषणा में कहा गया कि ''हमारी गम्भीर इच्छा यह है कि भारत के उद्योंगों को प्रोत्साहन दिया जाए, लेकिन बावजूद इसके भारत में उद्योगों के विकास की बहुत बुरी तरह उपेक्षा की गई। यह अवहेलना न केवल विदेशी विनियोगकर्ताओं के द्वारा हुई बल्कि सरकार के द्वारा भी हुई। नतीजा यह हुआ कि आबादी की वृद्धि के साथ–साथ और भारतीय दस्तकारों के ह्रास के साथ–साथ अधिकारिक लोग जीविका के लिए खेती की तरफ मुड़ने लगे और गाँवों में बेरोजगारी बढ़ती गई। 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में भारत में इसके विपरीत 'अनौद्योगीकरण' (De-industrialization) की प्रक्रिया चालू हो गई। डॉ. ताराचन्द ने बताया कि यद्यपि इसी युग में देश आधुनिक औद्योगीकरण के मार्ग पर बढ़ने लगा, लेकिन वास्तविक तथ्य यह था– देश की कुण्ठित आर्थिक पद्धति। सच तो यह है कि इस युग में, जिसमें तेज औद्योगिक प्रगति के लिए, बहुत अधिक सुविधाएं थीं, देश का 'अनौद्योगीकरण' हुआ। दो घटक इसके लिए जिम्मेदार माने गए हैं– पहला देश का सामाजिक संगठन और दुसरा सरकार की नीति।

भारत का व्यापारिक वर्ग व्यापारिक कार्यों यथा महाजनी, जमींदारी और मकान आदि के रूप में सम्पत्ति प्राप्त करने में ही लगा रहा। भारत में पूंजी की कमी उतनी नहीं रही जितनी की सुविधा और जोखिम लेकर उद्योग धन्धों में आगे बढ़ने की प्रवृत्ति की कमी रही, जिसके कारण देश औद्योगिक मामलों में पिछड़ा रहा। ''भारतीय समाज के अन्दर ऐसी अनुकूल स्थितियाँ नहीं थी कि औद्योगिक नेता उत्पन्न हो सकें। कहीं न कहीं अनौद्योगीकरण की धीमी गति और पिछड़ेपन का कारण भारतीय सामाजिक संगठन भी जिम्मेदार था।

वेरा आनस्टे के अनुसार परलोकवादी धार्मिक प्रवृत्ति, रूढ़िग्रस्त परम्परागत और अपरिवर्तनवाद, जात–पाँत विदेशियों से मिलने–मिलाने पर रोक–टोक,

राजनीतिक सुरक्षा का अभाव आदि बातों से आर्थिक परिवर्तन में बाधा हुई और अब भी ये बातें उसके रास्ते में रोड़े अटकाती हैं।

वास्तव में भारत के औद्योगिकरण पिछड़ेपन का दूसरा सबसे बड़ा कारण था कि सरकार का रूख भारत के औद्योगिक विकास के प्रतिकूल था। सरकार की व्यापारिक मुद्रा और वित्तीय नीति इस प्रकार बनाई जाती थीं, जिससे ब्रिटिश साम्राज्यवादी हितों को लाभ पहुँचे। लंकाशायर मिल उद्योग का हित देखकर ही भारत की व्यापार और वित्त सम्बन्धी नीतियों का निर्धारण होता था। भारत सचिव के दबाव पर भारत सरकार को इस बात के लिए मजबूर किया गया कि 1878 में बाहर से आए हुए सूती कपड़ों पर शुल्क हटा दे, जबकि भारत की माली हालत बहुत बुरी थी क्योंकि 1870 के आसपास एक के बाद एक दुर्भिक्ष पड़े थे। बाद में जब राजस्व बढ़ाने के उद्देश्य से भारत में ब्रिटिश सूती कपड़े पर आयात शुल्क लगाया गया तो उसके साथ भारत की मिलों के कपड़ों पर भी उत्पादन कर लगाया गया ताकि आयात शुल्क लगाने से भारतीय उत्पादक को जो लाभ हो सकता था, वह उसे न हो।

1.3 बोध प्रश्न – 1

ब्रिटिश विजय से पूर्व भारतीय उद्योग–धन्धों पर टिप्पणी लिखिए।

1.4 औद्योगीकरण का प्रारम्भ

काफी लम्बी अवधि की औद्योगिक निष्क्रियता के बाद 19वीं सदी के मध्य से देश में आधुनिक उद्योगों का प्रारम्भ हुआ। ब्रिटिश शासनकाल में भारत के औद्योगिक संक्रमण की प्रक्रिया (The Process of Industrial Transition) को मोटे रूप में दो युगों में विभाजित किया जा सकता है–19वीं शताब्दी का औद्योगिक विकास एवं 20वीं शताब्दी की औद्योगिक प्रगति। देश में औद्योगीकरण के प्रारम्भ और प्रगति में प्रमुख रूप से निजी क्षेत्र ने ही, चाहे वह देशी रहा हो या विदेशी, मुख्य भूमिका अदा की। प्रथम महायुद्ध के बाद ही यह स्थिति आ सकी कि भारतीय उद्योगों ने अपने बलबूते पर संकटों और विश्व–प्रतिस्पर्द्धा का सामना किया।

1.4.1 प्रथम महायुद्ध के समय तक औद्योगीकरण

19वीं शताब्दीं में औद्योगिक क्षेत्र की प्रमुख घटना, जैसा कि रूद्रदत्त एवं सुन्दरम् ने लिखा है, देशी उद्योगों का पतन और बड़े पैमाने के आधुनिक उद्योगों का विकास है। यह परिवर्तन गैर–सरकारी क्षेत्र द्वारा हुआ। आरम्भ में औद्योगीकरण के विकास की गति मन्द थी, लेकिन 19वीं शताब्दी के अन्त तक आते–आते यह गति तीव्र हो गई।

1850–60 के दशक में देश में वस्त्र और पटसन उद्योगों की स्थापना की गई। 1850–55 की अवधि में पहले सूती कपड़े के कारखाने, पहले पटसन के

कारखाने और पहली कोयले की खान ने उत्पादन प्रारम्भ किया। लगभग इसी बीच रेल–निर्माण का कार्य शुरू हुआ जिससे आधुनिक उद्योगों के विकास को आश्रय मिला। बागान–उद्योग भी बढ़े और रेल से सम्बन्धित मरम्मत एवं सुधार–कार्यों के लिए कुछ छोटे–मोटे इंजीनियरी कारखानों की भी स्थापना हुई। रेल निर्माण के कार्य को छोड़कर सरकार ने औद्योगिक क्षेत्र में कोई रूचि प्रदर्शित नहीं की। आधुनिक उद्योगों की स्थापना का कार्य मुख्यतः निजी ब्रिटिश पूँजी और उद्यम के सहारे किया गया। इसके लिए व्यवसाय–संगठन की जिस विशेष प्रणाली को अपनाया गया उसे मैनेजिंग एजेन्सी प्रणाली कहा गया।

19वीं शताब्दी के अन्तिम चरण तक भारत में 15 सूती मिलें स्थापित हो चुकी थी। ''औद्योगीकरण की तीव्र वृद्धि तथा इस बात के बावजूद कि उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक आधुनिक उद्योगों के विकास और कोयले तथा लोहे के उपभोग की नींव रखी जा चुकी थी और भारत धीरे–धीरे कृषि–प्रधान देश बनता जा रहा था। 1900 तक भारत चावल, गेहूँ, कपास, पटसन, तेल निकालने के बीज आदि का निर्यात करने वाला और ब्रिटिश तैयार माल का आयात करने वाला प्रमुख देश बन चुका था। इस प्रकार भारत इंग्लैण्ड को कच्चा माल भेजने वाला प्रमुख पिछलग्गू उपनिवेश बन गया था। यद्यपि 19वीं शताब्दी में अंग्रेज उद्यमकर्त्ताओं ने भारत में औद्योगीकरण का सिलसिला प्रारम्भ किया, किन्तु वे कुल मिलाकर भारत की प्रगति की अपेक्षा अपने स्वार्थों से प्रेरित थे। नौ–परिवहन और रेलों के निर्माण के कारण आन्तरिक और विदेशी दोनों व्यपारों का बहुत विस्तार हुआ।

देश में 19वीं सदी के मध्य में आधुनिक उद्योगों की इस प्रकार शुरूआत हुई, लेकिन विदेशी पूँजी और उद्यम ने उन उद्योगों को ही चुना जिनसे कम से कम समय में अधिक से अधिक लाभ कमाया जा सके। दूसरे शब्दों में ऐसे ही उद्योग चुने गए जो विदेशी व्यपार की दृष्टि से महत्वपूर्ण थे और साथ ही यह भी विशेष ध्यान रखा गया कि उद्योग ऐसे न हों जिनसे ब्रिटिश उद्योगों के लिए प्रतियोगिता के अवसर पैदा हो सकें। इस नीति का परिणाम यह हुआ कि मुख्यतया हल्के किस्म के एवं उपभोग–वस्तुओं से सम्बन्धित गिने–चुने उद्योग ही स्थापित किये गये जिससे औद्योगिक विकास की गति धीमी तथा अनिश्चित बनी रही।

20वीं शताब्दी के आरम्भ के साथ स्वदेशी आन्दोलन के फलस्वरूप भारतीय औद्योगिक विकास को थोड़ा प्रोत्साहन मिला। भारतीय पूँजी और उद्यमकर्ता विशेष रूप से पारसी, गुजराती और मारवाड़ी उद्यमकर्ता–औद्योगिक क्षेत्र में भाग लेने लगे। साबुन, पेन्सिल, चमड़ा, दियासलाई, एल्युमीनियम आदि के अनेक छोटे–बड़े कारखाने देश में खुलने लगे। सबसे महत्वपूर्ण और दूरदर्शी उद्यम जमशेदजी टाटा का रहा। विभिन्न कठिनाइयों के बावजूद देश का सबसे पहला इस्पात कारखाना 1911 में जमशेदपुर में जमशेदजी टाटा द्वारा खोला गया। रेलों का विस्तार लगभग 800 मील प्रतिवर्ष की दर से होता रहा।

इस प्रकार प्रथम महायुद्ध के प्रारम्भ तक औद्योगिक क्षेत्र में कुछ विविधता नजर आने लगी और भारत में औद्योगिक क्रान्ति का सूत्रपात 19वीं शताब्दी के मध्य हुआ जिस पर यूरोपीय देशों में हुई औद्योगिक क्रान्ति का पर्याप्त प्रभाव था। प्रथम महायुद्ध के पूर्व तक देश में औद्योगीकरण की गति ने तेजी पकड़ ली।

भारत में औद्योगिक क्रान्ति के कारण

देश में औद्योगीकरण का आरम्भ और विकास के कारण या प्रेरक तत्व निम्न थे–

1. 1833 में भारत के साथ व्यापार करने का ईस्ट इण्डिया कम्पनी का एकाधिकार समाप्त हो गया था। ब्रिटेन की अन्य कम्पनियों ने भी यहाँ अपने कार्यालय स्थापित किए। कुछ विदेशी पूँजीपतियों ने यहाँ आकर अपने उद्योग भी स्थापित किए जिससे विदेशी तकनीक एवं पूँजी का आगमन यहाँ हुआ।
2. ईस्ट इण्डिया कम्पनी के बहुत से अवकाश प्राप्त अधिकारियों ने भी यहाँ औद्योगिक विकास देखकर अपनी पूँजी उद्योगों में लगाई जिससे उनके अनुभवों का लाभ यहाँ नए उद्योगों की स्थापना को मिला।
3. भारत में श्रम की लागत भी कम थी। कच्चे माल का अभाव भी वहाँ नहीं था। अतः सस्ते श्रम एवं सस्ते माल की उपलब्धि का लाभ उठाने के लिए भी यहाँ विदेशी एवं भारतीय साहसियों को उद्योग प्रारम्भ करने की प्रेरणा मिली।
4. 1850 ई0 के बाद भारत में रेल यातायात का श्रीगणेश हुआ था उसके साथ–साथ सड़कों का निर्माण भी हुआ जिससे देश के बन्दरगाहो का आन्तरिक भागों से सम्बन्ध स्थापित हो गया जिससे आन्तरिक भागों में भी उद्योगों की स्थापना होने लगी।

1.4.2 प्रथम विश्व युद्ध के बाद औद्योगीकरण

प्रथम विश्व युद्ध (1914–18) के कारण भारत में कारखानों में बनी वस्तुओं की माँग में भारी वृद्धि हुई और देश के उद्योगों को बढ़ाने के लिए कुछ अवसर मिले। युद्ध काल में औद्योगिक वस्तुओं का आयात बहुत कम हो गया। शत्रु–देशों से तो आयात बन्द हुआ ही, मित्र देशों से भी आयात बहुत सीमित रह गया क्योंकि वे युद्ध–सामग्री तैयार करने में लगे रहे। आयात में इस भारी कमी के फलस्वरूप देश के उद्योगों को विदेशी प्रतियोगिता से बचकर पनपने का अच्छा अवसर मिला। साथ ही युद्ध के लिए आवश्यक सामग्री की माँग में अत्यधिक वृद्धि हुई जिसके फलस्वरूप लोहा एवं इस्पात, पटसन, चमड़े की वस्तुओं, सूती तथा ऊनी वस्त्रों, साबुन आदि के उत्पादन को बहुत अधिक प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। इन वस्तुओं की माँग में भारी वृद्धि हुई। भारतीय मिलों और कारखानों ने अपना उत्पादन बढ़ा दिया तथा यथासाध्य पूरी क्षमता से काम करने लगे। युद्ध काल के दौरान उद्योगों के प्रति सरकारी रूख और नीति में कुछ अनुकूल परिस्थितियों के बावजूद, देश का औद्योगीकरण अपेक्षित तीव्र

गति से नहीं हो सका क्योंकि भारी उद्योगों ओर मशीनी औजार उद्योग का अभाव बना रहा।

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद देश के औद्योगिक विकास के इतिहास में एक नए अध्याय का सूत्रपात हुआ। देश के उद्योगों में अपेक्षाकृत अधिक तेजी से प्रगति हुई। युद्ध काल में लोगों ने भारी लाभ कमाया था अतः युद्ध के बाद बडी मात्रा में पूँजी औद्योगिक क्षेत्र की ओर खिंचने लगी। राष्ट्रीय जागृति से भी देश के औद्योगिक विकास को प्रोत्साहन मिला, लेकिन औद्योगिक विकास की गति का सबसे महत्वपूर्ण कारण था–सरकारी औद्योगिक नीति में परिवर्तन। प्रथम महायुद्ध काल तक भारतीय उद्योग और सहायता के बिना अपने ही बल पर कार्य रहे थे, किन्तु 1923 में इस दिशा में तब एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आया जब भारत सरकार ने प्रथम राजकोषीय आयोग (Fiscal Commission) की सिफारिशें स्वीकार करके कुछ चुने हुए उद्योगों को विदेशी प्रतिस्पर्द्धा से संरक्षण प्रदान किया। इस प्रथम भारतीय राजकोषीय आयोग की नियुक्ति सन् 1921 में की गई और 1923 में इसकी सिफारिशों पर अमल होना शुरू हुआ। नई नीति के अन्तर्गत शर्तों को पूरा करने पर ही इस उद्योग को सरकारी संरक्षण दिया जा सकता था।

नवीन नीति के फलस्वरूप 1924 से 1939 के बीच सरकार ने लौह एवं इस्पात, सूती वस्त्र, पटसन, चीनी, माचिस, कागज आदि अनेक प्रमुख उद्योगों को संरक्षण प्रदान किया। भारतीय उद्योगपतियों ने नई नीति का लाभ उठाते हुए संरक्षित उद्योगों का तेजी से विकास किया। कुछ महत्त्वपूर्ण भारतीय उद्योगपतियों ने विदेशी प्रतिस्पर्द्धा को परास्त कर दिया और लगभग सम्पूर्ण भारतीय मण्डी पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। देश में औद्योगिक क्षेत्र में जो प्रगति हुई और वह कुछ दृष्टियों से सन्तोषजनक नहीं थी– प्रथम, यह प्रगति आवश्यकताओं और संसाधनों को ध्यान में रखते हुए बहुत अपर्याप्त थी, द्वितीय–देश का औद्योगिक ढ़ांचा अल्पविकसित स्थिति का था और इसका आधार भी कमजोर था।

1939 में द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ने के बाद उद्योग–निर्मित वस्तुओं की माँग एकदम तेज हो गई। विदेशों से वस्तुओं का आयात बहुत कम हो गया जबकि सरकार की माँग में वृद्धि होती रहीं अतः विद्यमान उद्योगों को तीव्र गति से विकास करने का अवसर प्राप्त हुआ। युद्धकालीन दबावों के कारण अनेक नये उद्योग आरम्भ किए गए, लेकिन अपेक्षित गति से विकास संभव नहीं हो सका क्योंकि देश का औद्योगिक ढाँचा अल्पविकसित था और इसका आधार भी कमजोर था अर्थात् देश में उत्पादक वस्तुओं से सम्बन्धित भारी एवं मूल उद्योगों का अभाव था और इन सब कारणों से प्रथम महायुद्ध के समान ही द्वितीय विश्वयुद्ध काल में ही भारतीय उद्योगों को कष्ट सहना पड़ा और 1939 से 1945 के बीच औद्योगिक उत्पादन केवल लगभग 20 प्रतिशत बढ़ा। उपरोक्त कमियों के कारण देश के जमे हुए उद्योगों को अपनी क्षमता के पूर्ण प्रयोग और अपने कार्य विस्तार में भारी कठिनाइयों का सामना करना

पड़ा। यह भी एक बड़ी विचित्र बात थी कि बड़े उद्योग देश के कुछ विशेष भागों में ही केन्द्रित थे– शेष भाग आधुनिक उद्योगों से लगभग अछूता था। देश के औद्योगिक क्षेत्र में विदेशी पूँजी और उद्यम का प्रावधान था तथा इने गिने उद्योगपति ही देश में छाये हुए थे। द्वितीय विश्वयुद्ध में उत्पन्न न्यूनता की स्थिति युद्ध के बाद भी जारी रही। ऐसे ही कुछ प्रमुख उद्योगों का वर्णन नीचे किया जा रहा है।

लोहा और इस्पात उद्योग

लोहा एवं इस्पात किसी भी देश की अर्थव्यवस्था के विकास के लिए महत्त्व रखता है। यह उद्योग भारत के प्राचीन उद्योगों में से है और लौह–वस्तुएँ तैयार करने की कला में देश को बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त था, लेकिन अपने पुराने रूप में यह उद्योग जीवित नहीं रह सका। आधुनिक तरीकों से लोहा एवं इस्पात के विनिर्माण का पहला सफल प्रयास 1874 ई0 में किया गया, लेकिन इस उद्योग का वास्तविक प्रारम्भ वर्तमान शताब्दी के प्रथम दशक में हुआ तब बिहार स्थिति जमशेदपुर में 1907 में टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी की स्थापना की गई। लोहा एवं इस्पात उद्योग प्रगति में यह एक अभूतपूर्व घटना थी। 1919 में स्टील कॉरपोरेशन ऑफ बंगाल की स्थापना की गई। विकास के प्रारम्भिक चरणों में लोहा एवं इस्पात उद्योग को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, क्योंकि पहले से भली प्रकार जमे हुए विदेशी कारखानों की प्रतियोगिता बहुत कड़ी थी। इस प्रतियोगिता का सामना करने के लिए देश के लोहा एवं इस्पात उद्योगों ने 1924 में सरकार से संरक्षण मांगा। इस उद्योग को यह संरक्षण प्राप्त हुआ जो देश की आजादी तक चलता रहा। वस्तुतः लोहा एवं इस्पात उद्योग ही वह सबसे पहला उद्योग था जिसे विदेशी हुकूमत की भेदमूलक संरक्षण नीति के अन्तर्गत संरक्षण प्राप्त हुआ। संरक्षण काल में इस उद्योग ने भारी प्रगति कर यह सिद्ध कर दिखाया कि सरकार संरक्षण का मिलना सर्वथा न्याय–संगत था। 1950–51 में इस्पात का उत्पादन लगभग 10 लाख टन हुआ और कच्चे लोहे का लगभग 17 लाख टन।

सूती कपड़ा उद्योग

सूती कपड़ा उद्योग देश का सबसे पुराना और संभवतः सबसे बड़ा उद्योग रहा है। प्राचीन काल में भारत का यह उद्योग अपने कला–कौशल के लिए विश्वविख्यात था। सूती कपड़ा उद्योग में आधुनिक क्षेत्र का उदय 1818 ई0 में हुआ जबकि कलकत्ते में सूती वस्त्र की पहली आधुनिक मिल स्थापित की गई। इस उद्योग का वास्तविक आरम्भ 1854 के बाद हुआ जबकि बम्बई में एक और सूती मिल की स्थापना हुई। इस उद्योग में शुरू से ही भारतीय पूँजी और उद्यम की प्रधानता रही है। तथा ब्रिटिश सरकार के द्वेष पूर्ण व्यवहार और कड़ी विदेशी प्रतिस्पर्द्धा के बावजूद यह उद्योग प्रगति करता रहा है। 1920 तक देश का सूती वस्त्र उद्योग बम्बई के आस–पास ही केन्द्रित था, लेकिन कालान्तर में उत्तरी भारत, तमिलनाडु, कर्नाटक

और मध्य प्रदेश में कुछ मिलों की स्थापना हुई जिससे इस उद्योग का काफी विकेन्द्रीकरण हो गया। सूती वस्त्र उद्योग के विकास में स्वदेशी आन्दोलन का उल्लेखनीय योगदान रहा है, और 1926 के बाद सरकारी संरक्षण प्राप्त हो जाने से भी इस उद्योग ने तीव्र प्रगति की है। यह संरक्षण देश की आजादी तक चलता रहा। स्वदेशी आन्दोलन और संरक्षण के फलस्वरूप देश में वस्त्र–मिलों की संख्या बढ़ती रही।

चीनी उद्योग

चीनी उद्योग भारत का एक बहुत ही अग्रणी उद्योग है। इसमें 252 करोड़ रूपये से अधिक मूल्य की उत्पादक पूँजी लगी हुई है। प्राचीन काल में देश के चीनी उद्योग की अच्छी ख्याति थी। अपने वर्तमान रूप में इस उद्योग का प्रारम्भ 1932 में हुआ जबकि सरकार द्वारा इसे संरक्षण मिला। संरक्षण–प्राप्ति के समय देश में चीनी के 31 कारखाने थे और चीनी की उत्पादन–मात्रा लगभग 1.6 लाख टन थी। उस समय देश लगभग 6 लाख टन चीनी का अयात करता था। चीनी उद्योग पर संरक्षण 18 वर्ष तक चला और 1950 में हटा लिया गया।

जूट उद्योग

जूट उद्योग देश के प्राचीनतम उद्योगों में से एक है जिसमें कालीन के अस्तर, सूती अस्तर, जूट की कालीनें, त्रिपाल, जाल आदि विभिन्न वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है। आधुनिक ढंग का पहला जूट कारखाना मुख्यतः ब्रिटिश पूँजी और उद्यम के सहारे 1855 में स्थापित किया गया और तब से यह उद्योग निरन्तर प्रगति करता गया।

नील उद्योग

ब्रिटिश नागरिकों ने नील की खेती के लिए बंगाल व बिहार में अपनी कोठियाँ स्थापित की थीं। ये किसानों को वित्तीय सहायता देते थे तथा उनसे नील के पौधें खरीद कर नील का निर्माण करके यूरोप को भेजते थे। यह धन्धा उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में शुरू हुआ तथा बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक चला। बाद में कृत्रिम नील बनने से यह उद्योग समाप्त हो गया।

चाय उद्योग

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के समय में ही चीन से चाय के कुछ पौधें मँगाकर उन्हें भारतीय चाय के पौधों के साथ कलम करके नए पौधे विकसित किए गए। ब्रिटेन एवं यूरोप के अन्य देशों में चाय की माँग अधिक होने से लाभ की आशा में अनेक ब्रिटिश नागरिकों ने असम व बंगाल में भूमि खरीद कर चाय के बाग स्थापित किए। बहुत समय तक बागों का स्वामित्व ब्रिटिश नागरिकों के पास रहा। बाद में धीरे–धीरे इनकों भारतीयों को विक्रय कर दिया गया। यहाँ की चाय ब्रिटेन को

निर्यात की जाती थी। 1866 में ब्रिटेन के चाय आयातों में भारतीय चाय का प्रतिशत 4 था जो 1903 तक बढ़ाकर लगभग 60 हो गया था।

कहवा उद्योग

कहवे का पौधा भारत में सत्रहवीं शताब्दी में ही मूर व्यापारियों द्वारा लाया गया था, लेकिन बागान उद्योग के रूप में इसकी खेती 1840 ई0 से प्रारम्भ हुई। 1860 ई0 के बाद इस उद्योग का विकास तीव्रता के साथ हुआ क्योंकि अन्य देशों में कहवे की कृषि कम हो गई थी। 1860 से 1879 ई0 तक भारत में कहवे के निर्यात में दस गुनी वृद्धि हुई। प्रथम विश्व युद्ध प्रारम्भ होने तक भारत में लगभग दो लाख एकड़ भूमि में कहवे की खेती होती थी।

1.5 भारत के धन का निस्सरण (निष्कासन)

दादाभाई नौरोजी भारत में राजनीतिक जागृति के अग्रदूत तो थे ही साथ ही वे एक अर्थशास्त्री भी थे। धन निष्कासन का सिद्धान्त ही विस्फोट बन गया था। दादाभाई ने अपनी जानकारी और विचारों को दो विख्यात पुस्तकों में प्रकट किया है– एक का नाम 'भारत में गरीबी' (Poverty in India) और दूसरी का नाम 'भारत में गरीबी और अंग्रेजों का अशोभनीय शासन' (Poverty and Un-British rule in India) है। उन्होंने भारतीय वित्त की

विभिन्न समस्याओं का अर्थशास्त्रीय विवरण तैयार किया है।

दादाभाई ने बताया कि ब्रिटिश अधिकारियों को दिए जाने वाली पेंशन, ब्रिटिश फौजों को भारत में रखने के लिए युद्ध मंत्रालय को दिए जाने वाले धन, इंग्लैण्ड में भारतीय शासन पर होने वाले व्यय तथा अंग्रेज व्यापारियों द्वारा भारत से इंग्लैण्ड भेजी जाने वाली अपनी अर्जित आय के रूप में भारत की विपुल सम्पत्ति देश से बाहर खींची जा रही थी। उन्होंने उपलब्ध स्त्रोतों सें आंकड़े प्राप्त कर और मोटे तौर पर हिसाब करके यह हृदय–विदारक निष्कर्ष प्रकट किया कि भारतीय जनता के प्रति व्यक्ति प्रतिवर्ष औसत करके आमदनी केवल 40 शिलिंग या 20 रूपये थी जिसकी पुष्टि बाद में अंग्रेज अधिकारियों द्वारा की गई।

''यह निर्गम दो प्रकार से होत है– प्रथम, यूरोपीय अधिकारियों द्वारा अपनी बचत को इंग्लैण्ड भेजने से उत्पन्न होता है। भारत तथा यूरोप में होने वाली अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु तथा इंग्लैण्ड में होने वाले व्यय हेतु वे इस धन को भेजते हैं। इंग्लैण्ड में दिया जाने वाला वेतन तथा पेन्शन भी इसका कारण होता है। निर्गम उन यूरोपवासियों द्वारा, जो स्वयं ब्रिटिश शासन तन्त्र के अधिकारी नहीं है, धन भारत के बाहर भेजने से होता है यह निर्गम भारत को अपनी पूंजी निर्माण से ही बंचित कर देता है। इस धन को जिसका निर्गम उन्होंने भारत से ही किया है, पुनः लाते हैं और समस्त व्यापार तथा महत्त्वपूर्ण उद्योगों पर अपना एकछत्र अधिकार प्राप्त

कर लेते है। इस प्रकार वे भारत का और अधिक शोषण कर पूँजी का निर्गम करते हैं।

दादाभाई ने आँकड़े देकर सिद्ध किया कि भारत की गरीबी का मुख्य कारण भारत से इंग्लैण्ड जाने वाली भारी धनराशि है। 'पावर्टी एण्ड अनब्रिटिश रूल इन इण्डिया' में उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि भारत गरीबी के अन्तिम स्तर पर पहुँच गया है और अपने मन को यह समझाना बड़ा कठिन है कि प्रतिवर्ष इतनी मात्रा में धनराशि बाहर भेजना कोई देश कैसे बर्दाश्त कर सकता है? उन्होंने अपने निर्गम सिद्धान्त में उन विभिन्न पदों को स्पष्ट रूप से गिनाया जिनके रूप में देश से भारी–भरकम का निस्सरण हो रहा था। ये मुख्य मदें थी– (1) ब्रिटिश अफसरों की पेंन्शनें, (2) भारत में ब्रिटिश फौजों के व्यय के लिए ब्रिटेन के युद्ध विभाग को भुगतान, (3) भारत सरकार का इंग्लैण्ड में व्यय, एवं (4) भारत में स्थित ब्रिटिश व्यावसाकि वर्गों द्वारा अपनी कमाई में से स्वदेश भेजी गई रकमें।

दादाभाई ने इस बात पर जोर दिया कि भारत से धन का बाहर जाना देश की आर्थिक गरीबी का मुख्य कारण तो है ही, भारत की दरिद्रता के लिए भी नैतिक रूप से जिम्मेदारी है। इसे स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा कि भारत में नियुक्त विदेशी पदाधिकारियों को अपने दायित्वों को पूरा के दौरान जो अनुभव और ज्ञान प्राप्त होता है, उस अनुभव से भारत में वंचित रह जाता है। उन्होंने कहा–

''प्रत्येक ऐसे विभाग में जो प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से सरकार के नियंत्रण में है, लगभग सभी ऊँचे पदों पर यूरोपीय लोग बैठे हुए हैं भारत में वे रूपया कमाते और अनुभव तथा ज्ञान प्राप्त करते हैं फिर, जब वे भारत छोड़ कर जाते हैं, तब दोनों ही चीजें (अनुभव और धन) अपने साथ ले जाते हैं। दादाभाई ने कहा यदि भारत का भौतिक और नैतिक विनाश इसी तरह जारी रहा तो देश में ऐसी क्रान्ति का विस्फोट होगा जो ब्रिटिश शासन की नींव हिला देगा। यदि भारतीयों की शिकायतें दूर नहीं की गईं और भारत के साथ न्याय नहीं किया गया तो भारत की जनता केवल ब्रिटिश माल का ही नहीं बल्कि ब्रिटिश शासन का ही बहिष्कार करने का विवश हो जाएगी।

दादाभाई ने कहा कि अपनी आर्थिक दशा सुधारने के लिए भारत को बड़े पैमाने पर औद्योगिकरण की जरूरत है, लेकिन पूंजी के अभाव में यह औद्योगिक विस्तार सम्भव नहीं है और पूंजी का संचय तब तक नहीं हो सकाता जब तक कि अतुल धनराशि प्रतिवर्ष इंग्लैण्ड की ओर खिंचती जा रही है। 'स्वच्छन्द व्यापार' के नाम पर भारत के नवजात उद्योग दम तो़ड़ रहे है।

आर0सी0 दत्त ने भी धन निर्गम के आर्थिक परिणामों को व्यक्त करते हुए लिखा ''जब किसी देश में कर वसूल कर वहीं व्यय किया जाये ते धन लोगों के मध्य चलन में रहता है। व्यापार, कृषि व उद्योग फलते–फूलते है। किन्तु जब किसी देश में वसूल की गई आय की रकम किसी दूसरे में भेज दी जाती है तो वह रकम उस देश

के लिए हमेशा के लिए डूब जाती है।''

उन्होंने यह भी कहा कि यदि भारत से वसूल की गई आय भारत के ही आर्थिक विकास में लगाई जाती तो भारत कभी का औद्योगिक देश बन गया होता लेकिन विदेशी शासक ने भारत के आर्थिक विकास के लिए कुछ नहीं किया देश में पूंजी निर्माण नहीं हो सका जिससे देश औद्योगिक दृष्टि से एकदम पिछड़ गया।

इस प्रकार धन के निकास का मुख्य सार था कि भारतीय जनता की निर्धनता मुख्यतः ब्रिटिश शासन के कारण थी यहाँ की जनता पर भारी कर लगा दिये गये थे। यदि करों से प्राप्त होने वाली आय को उसी देश में खर्च कर दिया जाय जिसमें वह एकत्र की गई है तो धन उसी देश के व्यक्तियों के हाथों में घूमता रहता है और आर्थिक क्रियाओं को बढ़ावा मिलता है जिससे व्यक्तियों की सम्पन्नता में वृद्धि होती है और यही आय अगर किसी अन्य देश को भेज दी जाय तो वह धन उस देश के लिए सदैव नष्ट हो जाती है जहाँ से इसको एकत्र किया गया था। उदाहरण के लिए बीसवीं शताब्दी के प्रथम दस वर्षो में ही औसतन वार्षिक निर्यात का मूल्य आयात से लगभग डेढ़ करोड़ पौण्ड अधिक था, यह एक ऐसी शोचनीय स्थिति थी जिसने सम्पन्न भारत को एक विपन्न देश बना दिया।

ब्रिटिश सरकार काल में भारत से धन का जो प्रवाह इंग्लैण्ड की ओर रहा उसके मुख्य तत्त्व अथवा उसमें सम्मिलित मुख्य बातें निम्न थीं–

1. इंग्लैण्ड को निर्यात किए गए अपने माल के लिए भारत द्वारा भुगतान।
2. समय–समय पर कम्पनी के साथ जो युद्ध छिड़े उनके तथा अन्य युद्धों के खर्चे का बहुत कुछ भुगतान भारत को करना पड़ा।
3. ईस्ट इण्डिया कम्पनी के लोगों ने देश के आन्तरिक व्यापार पर एकाधिकार जमा कर स्वदेशी संसाधनों का तेजी से अंत किया। 'होम चार्जेज' के अन्तर्गत विदेशी ऋणों पर ब्याज, विदेशी विनियोग पर लाभ तथा रायल्टी, व्यापार एवं अन्य कर्मचारियों के वेतन, पेन्शन एवं भत्ते, सुरक्षा सेवाओं पर व्यय आदि के रूप में भारी रकमें देश से बाहर गईं।

वास्तव में ब्रिटिश शासन ने प्रत्येक सम्भव उपायों द्वारा प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष रूप से भारत का शोषण किया। इस 'आर्थिक लूट' ने भारत को एक गरीब देश बना दिया। सम्पत्ति का यह निकास पर्याप्त अवधि तक रहा जिससे भारतीय अर्थव्यवस्था को गहरा धक्का लगा। दादाभाई ने इसे अंग्रेजों द्वारा भारत का रक्त चूसने की संज्ञा दी।

1.6 सारांश

भारत में अंग्रेजी सत्ता की स्थापना ने प्रत्येक क्षेत्र में प्रभाव डाला। अंग्रेजी सत्ता ने भारतीय अर्थव्यवस्था को बुरी तरह प्रभावित किया। अंग्रेजी आर्थिक नीतियों के परिणामस्वरूप एक तरफ भारत की सम्पदा का निष्कासन हुआ, परम्परागत

उद्योग–धन्धों का विनाश हुआ तो दूसरी ओर नई भूमि व्यवस्था भी कायम की गई। संचार व परिवहन के साधनों और नये उद्योग–धन्धों का विकास हुआ। अंग्रेजी सरकार ने अपनी आवश्यकताओं और स्वार्थ से प्रेरित होकर ऐसी आर्थिक नीति अपनाई जिसने 'सोने की चिड़िया' को दरिद्रता, बेरोजगारी, अकाल और महामारी के देश के रूप में परिवर्तित कर दिया।

1.7 बोध प्रश्न–2

बोध प्रश्न –

A. धन के निष्कासन पर 10 पंक्तिया लिखिए।

B. निम्न के सामने सही और गलत का चिह्न लगाइये।

क. ब्रिटिश विजय से पूर्व भारतीय उद्योग–धन्धा अच्छी स्थिति में न थी।

ख. मुक्त व्यापार की नीति भारतीय उद्योगों के लिए घातक सिद्ध हुई।

ग. धन निष्कासन का सिद्धांत रोमेश चन्द्र दत्त ने दिया था।

घ. ब्रिटिश शासकों ने रेलवे का विकास भारतीयों की भलाई के लिए किया।

1.8 शब्दावली

अनौद्योगीकरण – किसी देश में औद्योगिक क्रियाओं का क्रमशः कम होते जाना जिसके परिणामस्वरूप सामाजिक व आर्थिक परिवर्तन होना।

दस्तक – मुक्त व्यापार हेतु दिया गया फरमान या आदेश।

1.9 बोध प्रश्न–2B के उत्तर

(क) X (ख) √

(ग) X (घ) X

इकाई–2

गैर ब्राह्मण और दलित प्रतिरोध

इकाई की रूपरेखा :

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 औपनिवेशिक शासन में जाति व्यवस्था की स्थिति

1.3 गैर ब्राह्मण प्रतिरोध

1.3.1 ज्योतिबा रावफूले और सत्यशोधक

1.3.2 जस्टिस पार्टी

1.3.3 द्रविड़ मुन्नैत्र कडगम

1.4 दलित प्रतिरोध

1.4.1 गाँधी व अम्बेडकर : दलितों के उद्दारक के रूप में

1.5 सारांश

1.6 बोध प्रश्न

1.7 शब्दावली

1.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

1.0 उद्देश्य

19वीं व 20वीं शताब्दी में गैर ब्राह्मणों व दलित समुदाय ने हिन्दू वर्ण व्यवस्था को अन्दर से चुनौती देना प्रारम्भ में प्रस्तुत इकाई से पूरे भारत देश में इस प्रकार संगठनों और आन्दोलनों की चर्चा करेंगे।

1.1 प्रस्तावना

भारत में चर्तुवर्ण का विभाजन सबसे प्राचीन सामाजिक संरचना थी जिसकी शुरूआत लगभग 1000 ईसा पूर्व में हुई थी जब 'आर्य' समाज का ब्राह्मण, क्षत्रियों, वैश्य तथा इन तीनों उच्चतर समूहों की सेवा करने वाले शूद्रों में विभाजन हुआ। एक पूरी तरह विकसित संस्था के रूप में छुआछूत की प्रथा तीसरी से छठी सदी के बीच सामने आयी जब अछूतों की एक पाँचवी श्रेणी बन गई जब ये लोग पंचम, अतिशूद्र या चांडाल आदि नामों से जाने जाने लगे।

यह वर्ण विभाजन वस्तुतः बाद की सामाजिक वास्तविकताओं के लिए कुछ खास महत्वपूर्ण नही था। वास्तविक सामाजिक संगठन के लिए इससे अधिक

महत्वपूर्ण थी वे अनेक जातियाँ, जिनको अंग्रेजी में Castes कहते है। यह शब्द पुर्तगाली शब्द Castas से व्युत्पन्न है। इन जातियों की पहचान ऐसे व्यवसायिक समूहों के रूप में कर सकते है जिनकी सदस्यता जन्म से निर्धारित होती है तथा अन्तर्विवाह के कठोर नियमों द्वारा और खान–पान सम्बन्धी प्रतिबन्धों द्वारा जिनकी विशिष्ठता को बनाये रखा जाता है। इस व्यवस्था के अन्दर हर जाति के सदस्यों के लिए एक धर्म (नैतिक आचरण) निर्धारित किया गया था जिसका पालन या उल्लंघन अगले जन्म में जाति व्यवस्था के सोपानक्रम में उनकी स्थिति को निर्धारित करता था। लेकिन समय–समय पर इस व्यवस्था के वर्चस्व को अन्दर से ही चुनौती मिलती रही जैसे– प्राचीन काल में बौध धर्म व जैन धर्म द्वारा। मध्यकाल में भक्ति आन्दोलन द्वारा। मध्यकाल में भारतीय धार्मिक सुधारकों के अनुयायी प्रायः निम्न जातियों से आये।

1.2 औपनिवेशिक शासन में जाति व्यवस्था की स्थिति

उपनिवेशी शासन ने जाति प्रथा को उसके उपनिवेश–पूर्व राजनीतिक सन्दर्भों से काट दिया, लेकिन अपने ज्ञान, अपनी संस्थाओं और नीतियों के नये ढ़ाँचों में उसका नये सिरे से निरूपण करके और उसे नई शक्ति देकर एक नया जीवन भी दिया। शासन के प्रारम्भिक चरण में उपनिवेशी शासन ने ऐसे अनेक अवसर उत्पन्न कर दिये जो सिद्धान्त में जाति सम्बन्धी नहीं थे लेकिन इन अवसरों ने जाति व्यवस्था पर घातक प्रहार किया।

उन्नीसवीं व बीसवीं शताब्दी के धार्मिक सुधार आन्दोलनों के प्रवर्तक उच्च वर्गीय हिन्दू थे जिन्होंने अस्पृश्यता तथा जात–पात को निन्दनीय ठहराया। इस समय कुछ ऐसी घटनाएँ घटित हुई जिनसे निम्न जातियों ने जातीय समानता प्राप्त करने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर स्वयं लिया, जिनके प्रयत्नों के फलस्वरूप दक्षिणी तथा पश्चिमी भारत में भिन्न–भिन्न जातीय आन्दोलन प्रारम्भ हुए। अंग्रेजों की 'बाँटो और राज्य करो' की नीति के फलस्वरूप, पश्चिमी शिक्षा प्रणाली के प्रसार के कारण, एक समान दण्ड संहिता (1861 ई0), दण्ड प्रक्रिया संहिता (Criminal procedure code 1872) के लागू होने से रेलों के विस्तार से (जिनमें प्रत्येक व्यक्ति टिकट मोल लेकर किसी भी उपलब्ध स्थान पर बैठ सकता था), राष्ट्रीय जागरण के विकसित होने से समानता तथा सामाजिक समतावाद पर आधारित आधुनिक राजनीतिक विचारों के प्रसार आदि सभी तत्वों ने मिलकर एक ऐसा सामाजिक तथा राजनैतिक वातावरण बना दिया जिसमें जाति–प्रथा को न्यायसंगत कहना असम्भव सा होने लगा था और यह चेतना उत्पन्न होने लगी कि सामाजिक स्थिति के नये आधारो जैसे– शिक्षा, रोजगार और राजनीति जैसे शक्ति के स्त्रोतों पर ब्राह्मणों और ऊँची जातियों ने एकाधिकार बना रखा है जिसके चलते उपनिवेशी सत्ता से और अधिक विशेष सुविधाओं और आरक्षण की संगठित मांगे की जाने लगी। इन माँगो का सीधा अर्थ

था टकराव और यह टकराव था हिन्दू धर्म के भीतर। धीरे–धीरे लोगों की यह चेतना जातिगत संगठनों के रूप में उभर कर सामने आने लगी। ये जातिगत संगठन जिनकी सदस्यता प्रदत्त नहीं बल्कि स्वैच्छिक थी उपनिवेशी भारत में धीरे–धीरे आधुनिकीकरण के साधनों के रूप में विकसित होने लगे।

इस विकासक्रम में योगदान सर्वप्रथम उपनिवेशी नीतियों के एक और समूह ने दिया, जिन्होंने भारत पर राजनीतिक आधुनिकीकरण का एक खास पैटर्न आरोपित किया। इसकी पहल आरम्भ में मैसूर और कोल्हापुर जैसे रजवाड़ो ने की जब गैर–ब्राह्मण जन्मों व्यक्तियों के लिए अतीत के नुकसान की भरपाई करने के लिए उन्नीसवीं सदी के अन्तिम और बीसवीं सदी के आरम्भिक वर्षों में सार्वजनिक रोजगार के कुछ पदों को जाति के आधार पर आरक्षित करने की व्यवस्था आरम्भ की। धीरे–धीरे उपनिवेशी प्रशासन भी सवर्ण और अन्य हिन्दुओं (खासकर अछूतों) के बीच के अन्तर को जानने लगे वे इन्हें 'डिप्रेस्ड क्लासेज' कहते थे। इस वर्ग की शिक्षा के विषय में उपनिवेशी नौकरशाही सवर्णों के विरोध के सामने अक्सर इसके क्रियान्वयन में अगर–मगर करने लगती थी। इस कारण अपने शैक्षिक अधिकार सुनिश्चित करने के लिए उपनिवेशी अधिकारियों को कदम उठाने पर अमादा करने के लिए दलित समूहों ने प्रतिरोध किये। उदाहरण के तौर पर दपोली (महाराष्ट्र) में महार जाति के छात्रों ने स्थानीय स्कूल में धरना दिया तब उन्हें कक्षा में बैठने की अनुमति तो मिली लेकिन सवर्ण छात्रों से कुछ दूरी पर। वास्तव में ये प्रयास राज्य की अनैच्छिक नौकरशाही से शिक्षा के वैद्य अधिकार प्राप्त करने के प्रयास थे।

1.3 गैर–ब्राह्मण प्रतिरोध

1930 के दशक के आसपास से इन अछूतों ने अपने आपको दलित कहना शुरू कर दिया। यह शब्द उपनिवेशवाद के शब्द ''उत्पीड़ित वर्ग'', उसकी जगह सन् 1936 में लाए गए शब्द ''अनुसूचित जातियों'' और गांधी के शब्द ''हरिजन'' (हरि के जन) की अपेक्षा हिंदू भारत में उनकी सामाजिक–आर्थिक स्थिति को कहीं बेहतर ढंग से सामने रखता था। जैसा कि शब्द 'दलित' से संकेत मिलता है, उनके प्रतिरोध की कोई भी समझ (या व्याख्या) भारत में सामाजिक संस्तरण और उत्पीड़न की एक विधि के रूप में जातिप्रथा के विकास की विवेचना से आरंभ होनी चाहिए। मानवशास्त्रियों और सामाजिक इतिहासकों ने इसे भारतीय सामाजिक संगठन की सबसे अनोखी विशेषता माना है, जो वर्ग और जाति की दो समानांतर धारणाओं में व्यक्त होती है। चतुर्वर्ण का विभाजन सबसे प्राचीन सामाजिक संरचना था और लगभग 1000 ईसा पूर्व जितना पुराना है, तब ''आर्य'' समाज का ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों तथा इन तीनों उच्चतर समूहों की सेवा करने वाले शूद्रों में विभाजन हुआ। एक पूरी तरह विकसित संस्था के रूप में छुआछूत की प्रथा तीसरी से छठी सदी ईसवी के बीच किसी समय सामने आई, जब अछूतों की एक पांचवी श्रेणी बन गई। ये लोग पंचम, अतिशुद्र या

चांडाल आदि नामों से जाने जाते थे।

प्रत्येक जाति को एक कर्मकांडी श्रेणीपद (Ritual ranking) दिया गया है जो उसके सदस्यों को पूरे समाज को समेटने वाले एक विस्तृत सोपानक्रम (hierarchy) में स्थापित करता है। इस श्रेणीपद का निर्धारण किस बात से होता है, यह तीखे विवादों का विषय रहा है। श्रेणीक्रम की यह व्यवस्था मूलतः धार्मिक थी, क्योंकि भारतीय समाज में पारलौकिक लौकिक को समेट लेता था तथा ब्राह्मण पुरोहित को क्षत्रिय राजा से अधिक शक्तिशाली बनाता था। ऐसे सांस्कृतिक परिवेश में सामाजिक पदस्थिति का निर्धारण शुद्धता और अशुद्धता के पैमाने से होता था। शुद्धता का मूर्त रूप होने के नाते ब्राह्मण इस सोपान के शिखर पर होता था और अशुद्ध माने जाने के कारण अछूतों को सबसे नीचे रखा जाता था, जबकि मध्य क्रम में शुद्धता/अशुद्धता की भिन्न–भिन्न श्रेणियों वाले समूह होते थे।

इस व्यवस्था के अंदर हर जाति के सदस्यों के लिए एक धर्म (नैतिक आचरण संहिता) निर्धारित किया गया था, जिसका पालन या उल्लंघन (कर्म) अगले जन्म में जाति–व्यवस्था के सोपानक्रम में उनकी स्थिति को निर्धारित करता था। हालांकि इसका अर्थ धर्मग्रंथों द्वारा अनुशंसित एक कठोर सामाजिक व्यवस्था है, पर जाति आधारित समाज की वास्तविकता इस आदर्श से अर्थपूर्ण सीमा तक अलग थी। इसका कारण था कि धर्म को हमेशा, हर जगह स्वीकार नहीं किया जाता था, और समय–समय पर उसके वर्चस्व को अंदर से ही चुनौती मिलती रही। ऐसी सबसे अहम चुनौती मध्यकाल के भक्ति आंदोलन से मिली, जिसने धार्मिक और सामाजिक जीवन की कर्मकांडी बुनियाद को चुनौती दी और उसकी जगह केवल भक्ति पर जोर दिया इसके अलावा सीमित सामाजिक गतिशीलता के अवसरों ने अकसर सामाजिक स्थितियों में परिर्वतन और नए तालमेल पैदा किए। इतिहास के विभिन्न चरणों में योद्धा समूहों के उदय और नई प्रौद्योगिकी या व्यापार के नए अवसरों के उदय ने जनसमूहों को अपनी आर्थिक और राजनीतिक स्थिति सुधारने में तथा उसे जातिगत सोपानक्रम में उच्चतर कर्मकांडी पदस्थिति में बदलने में मदद दी। वास्तव में इतनी सदियों तक यह व्यवस्था इसीलिए बनी रह सकी कि वह इस तरह का एक ''गतिशील संतुलन'' बनाए रखने और नीचे से लगनेवाले झटकों को झेलने में कामयाब रही थी।

उपनिवेशी शासन ने जाति प्रथा को उसके उपनिवेश–पूर्व राजनीतिक संदर्भों से काट दिया, लेकिन अपने ज्ञान, अपनी संस्थाओं और नीतियों के नए ढ़ाँचों में उसका नए सिरे से निरूपण करके और उसे नई शक्ति देकर उसे एक नया जीवन भी दिया। पहली बात यह कि अपने अहस्तक्षेपवादी चरण में उपनिवेशी शासन ने ऐसे अवसर पैदा कि, जो ''सिद्धांत में जाति–संबंधी नहीं'' थे। जमीन एक बाजारी माल बन गई कानून के सामने समानता न्याय–प्रशासन का एक सुस्थापित सिद्धांत बन गई, शिक्षा संस्थाओं और सार्वजनिक रोजगार की जाति या पंथ से परे जाकर प्रतिभा

के लिए मुक्त कर दिया गया। फिर भी, अहस्तक्षेप के इस सिद्धांत ने पहले से मौजूद समाज–व्यवस्था को जारी रहने में मदद दी और सुविधासंपन्न समूहों की स्थिति को और सुदृढ़ किया। पहले से शिक्षा की परंपरा और अतिरिक्त संसाधनों वाली ऊँची जातियाँ ही इस हाल में थीं कि अंग्रेजी शिक्षा और नए व्यवसायों को अपना सकें तथा नई न्याय–व्यवस्था से लाभ उठा सकें। इसके गृह–विधानों के मामले में हिंदू संचालित होते थे धर्मशास्त्रों से, जो जाति–व्यवस्था के विशेषाधिकारों के समर्थक थे। अल्फ्रेड लायन और फ्रांसीसी नस्लवादी सिद्धांतकार पॉल तोपिनेयर के बाद सबसे प्रमुख उपनिवेशवादी हरबर्ट रिज्ली ने अब जाति की धारणा को एक नस्ली आयाम प्रदान किया और यह तर्क दिया कि गौर वर्ण वाली ऊँची जातियाँ आक्रामक आर्यों की संताने थीं, जबकि साँवले रंग वाली निचली जातियाँ इसी देश के अनार्य मूल निवासी थी।

जाति की इस रूढ़ नस्लवादी छवि और ग्रन्थों पर आधारित धारणा को धीरे–धीरे दसवर्षीय जनगणनाओं में जातियों के वर्गीकरण से संख्यात्मक आधार और सबसे बढ़कर सरकारी मान्यता तब मिली जब 1901 में रिज्ली जनगणना के कमिश्नर बनें, तो उन्होंने न सिर्फ सभी जातियों की गिनती करने का बल्कि जातियों के सोपानक्रम में उनकी स्थिति का निर्धारण और उसे दर्ज करने का भी प्रस्ताव किया। सार्वजनिक जीवन की एक नई संवृत्ति के रूप में स्वयंसेवी जाति संगठन पैदा हो गए वे जनगणना पर केंद्रित (और उससे प्रेरित) जातिगत आंदोलनों में संलग्न होने लगे और वर्गीकरण की आधिकारिक योजना में और ऊँचें कर्मकांडी श्रेणीपद पाने के लिए दावे करके उनके समर्थन में जनगणनाओं के कमिश्नरों को ज्ञापन देने लगे।

जातिगत संगठन, जिनकी सदस्यता प्रदत्त नहीं बल्कि स्वैच्छिक थी, उपनिवेशी भारत में धीरे–धीरे आधुनिकीकरण के साधनों के रूप में विकसित हुए। पारलौकिक की जगह लौकिक लक्ष्य उनके लक्ष्य बनते गए। इस विकासक्रम में योगदान उपनिवेशी नीतियों के एक और समूह ने दिया, जिन्होंने भारत पर राजनीतिक आधुनिकीकरण का एक खास पैटर्न आरोपित किया। आरंभ में मैसूर और कोल्हापुर जैसे केवल कुछेक रजवाड़ों ने ही गैर–ब्राह्मण जन्मा व्यक्तियों के लिए अतीत के नुकसान की भरपाई करने के लिए उन्नीसवीं सदी के अंतिम और बीसवीं सदी के आरंभिक वर्षों में सार्वजनिक रोजगार के कुछ पदों को जाति के आधार पर आरक्षित करने की व्यवस्था आरंभ की। धीरे–धीरे उपनिवेशी प्रशासन को भी सवर्ण और अन्य हिंदूओं, खासकर अछूतों के बीच के अंतर का पता चला। इन अछूतों को अब 'डिप्रेस्ड क्लासेज' कहा जाने लगा। प्रशासन ने इन वर्गों को अपने विशेष संरक्षित माना और उनके पक्ष में ''सुरक्षात्मक भेदभाव'' की एक नीति आरंभ की। इसका मतलब था उनकी शिक्षा के लिए विशेष स्कूलों का प्रावधान, ऐसे उम्मीदवारों के लिए सार्वजनिक रोजगार के एक भाग का आरक्षण और अंत में विधायिकाओं में इन वर्गों के विशेष प्रतिनिधित्व का प्रावधान। यह प्रावधान पहले 1919 के कानून में

नामजदगी के रूप में और फिर 1932 के कम्यूनल एवॉर्ड के अंतर्गत अलग निर्वाचक मंडल के रूप में किया गया। इन सभी कदमों का परिणाम यह हुआ कि जातिगत आधार पर जातियों के बीच संपत्ति और शक्ति का अपेक्षाकृत अधिक फैलाव हुआ। अब जाति–निर्धारित स्थिति और जातियों से अप्रासंगिक भूमिकाओं के बीच और अधिक विसंगतियाँ पैदा हुई और इस सीमित समाजिक गतिशिलता के अनेक परस्परविरोधी प्रत्युत्तर सामने आने लगे।

सबसे पहले तो भारत में ''पश्चिमीकरण'' के संकेत देखने को मिले। संचार में सुधार के कारण जाति–सदस्यों के बीच क्षैतिज एकजुटता बढ़ी और उन्होंने क्षेत्रीय जाति–संगठन बनाए। सामाजिक स्थिति के नए आधारों अर्थात् शिक्षा, रोजगार, और राजनीतिक प्रतिनिधित्व के महत्व का एहसास बढ़ा और यह चेतना पैदा हुई कि शक्ति के इन स्त्रोतों पर ब्राह्मणों और ऊँची जातियों ने एकाधिकार बना रखा है। इसके चलते उपनिवेशी राजसत्ता से अधिक विशेष सुविधाओं और आरक्षण की संगठित माँगें की जाने लगी और इसका मतलब था टकराव और विवाद, खासकर वहाँ जहाँ सवाल दलित समूहों की शिक्षा का था, क्योंकि दलित शिक्षा के समर्थन की बहुप्रचारित नीति के बावजूद उपनिवेशी नौकरशाही सवर्णों के विरोध के सामने अकसर इसके क्रियान्वयन में अगर–मगर करने लगती थी। इसके कारण अपने शैक्षिक अधिकार सुनिश्चित करने के लिए उपनिवेशी अधिकारियों को कदम उठाने पर आमादा करने के लिए दलित समूहों ने प्रतिरोध किए। मसलन दपोली (महाराष्ट्र) में महार छात्रों ने स्थानीय नगरपालिका के स्कूल के बरामदों में धरने दिए। लेकिन इस विशेष दृष्टांत में अंततः उनको कक्षा में बैठने की अनुमति तो दी गई पर सवर्ण छात्रों से कुछ दूरी पर। इसलिए ''पश्चिमीकरण'' के ये प्रयास अपनी कल्पना अपने उपनिवेशवादी मालिकों के रंग में करने के ही प्रयास मात्र नहीं थे, बल्कि राज्य की अनिच्छुक नौकरशाही से शिक्षा के वैध अधिकार और अन्य अवसर पाने के प्रयास भी थे। ऐसे ही आन्दोलन में से कुछ महत्वपूर्ण आन्दोलन निम्न है।

1.3.1 ज्योतिबाराव फूले और सत्यशोधक समाज

कुछ आंदोलन ऐसे भी थे जिन्होंने जातिप्रथा के अंदर स्थितियों में फेरबदल न चाहकर इस सामाजिक संगठन की बुनियादों को ही चुनौती दी। पश्चिमी और दक्षिणी भारत के गैर–ब्राह्मण आंदोलन और दलित समूहों के कुछ अधिक रैडिकल आंदोलन इनमें सबसे अधिक उल्लेखनीय है। महाराष्ट्र में गैर–ब्राह्मण आंदोलन का आरंभ माली जाति के एक यशस्वी नेता ज्योतिबाराव फूले के नेतृत्व में हुआ, जिन्होंने 1873 में 'सत्यशोधक समाज' की स्थापना की। फूले का तर्क यह था कि शूद्र और अतिशूद्र जातियों की बदहाली का कारण ब्राह्मणों का प्रभुत्व और शक्ति एवं अवसरों पर उनका एकाधिकार था। इसलिए उन्होंने भारत के आर्यकरण के प्राच्यवादी सिद्धांत को नकार दिया। उनका तर्क था कि ब्राह्मण उन विदेशी आर्यों की संतान हैं, जिन्होंने

इस देश के मूल निवासियों को गुलाम बनाया, इस कारण आज आवश्यकता इस बात की है कि इस संतुलन में परिवर्तन लाया जाए और ऐसी सामाजिक क्रान्ति लाने के लिए उन्होंने गैर–ब्राह्मण किसान जातियों और दलित समूहों को एक साझे आंदोलन में एकजुट करने के प्रयास किए। लेकिन 1880 और 1890 के दशकों के दौरान गैर–ब्राह्मण विचारधारा में कुछ सूक्ष्म परिवर्तन आए और फूले ने कुनबी किसानों को एकजुट करने पर अधिक ध्यान दिया। अब अधिक जोर दिया जाने लगा जमीन पर मेहनत करने वालों की एकता पर तथा ब्राह्मणों के प्रभुत्व वाली पूना सार्वजनिक सभा के इस दावे की काट करने पर, कि वह किसानों का प्रतिनिधित्व करती है। कुनबी किसानों पर ध्यान देने के कारण उस मराठा पहचान को विशेष महत्व प्राप्त हुआ जो उनको प्रिय थी और वे अपने क्षत्रियत्व के दावे करने लगे। फूले ने यह दावा करके इस समस्या से पार पाने की कोशिश कि ये क्षत्रिय जो मराठों के पूर्वज थे, शुद्रों के साथ मिल–जुलकर रहते थे और आर्यों के हमले का मुकाबला करने में उनके सहायक थे। लेकिन क्षत्रियत्व पर इस जोर के कारण दलितों की लामबंदी में दिलचस्पी भी कम हो गई। दूसरे शब्दों में जहाँ यह क्षत्रिय पहचान उनको एक हीन जातिगत स्थिति सौंपने वाले ब्राह्मणवादी संवाद (discourse) का मुकाबला करने के लिए गढ़ी गई, वहीं उसने एक अलगाववादी लोकाचार भी पैदा किया, जिसने उनको दलित समूहों से अलग कर दिया।

महाराष्ट्र में गैर–ब्राह्मण आंदोलन ने सदी के मोड़ पर दो समानांतर प्रवृत्तियों का विकास किया। एक तो अधिक धनी गैर–ब्राह्मण के नेतृत्व वाली रूढ़िवादी प्रवृत्ति थी। ये लोग अपनी मुक्ति के लिए ब्रिटिश सरकार में आस्था रखते थे और 1919 ई0 में मांटेग्यू–चेम्सफोर्ड सुधारों के बाद उन्होंने नॉन–ब्राह्मण एसोसिएशन नाम से एक अलग और निष्ठावान राजनीतिक दल का गठन किया। उनको अंग्रेजों के कृपाकारी माई–बाप शासन में फलने–फूलने की आशा थी। लेकिन इस आंदोलन ने एक रैडिकल प्रवृत्ति का विकास भी किया जिसका प्रतिनिधित्व सत्यशोधक समाज करता था। उसने ''बहुजन समाज'' और ''सेठजी–भटजी'' (बनिया और ब्राह्मण) के बीच सामाजिक विभाजन को वाणी देकर एक ''वर्गीय अंतःतत्त्व'' का विकास भी किया। हालाँकि महाराष्ट्र को गैर–ब्राह्मण आंदोलन आरंभ में ब्राह्मण प्रभुत्व वाले कांग्रेसी राष्ट्रवाद का विरोधी था, पर 1930 के दशक तक वह धीरे–धीरे खिंचकर गांधीवादी कांग्रेस में समा गया अब यह महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आया राष्ट्रवाद की शक्ति के कारण गैर ब्राह्मणों की आकांक्षाओं को स्थान देने के प्रति कांग्रेस की तत्परता के कारण और पूना–निवासी नौजवान गैर–ब्राह्मण नेता केशवराव जेढ़े के नेतृत्व के कारण और एन0पी0 गाडगिल के साथ उनके गठबंधन के कारण, जो महाराष्ट्र में युवा ब्राह्मण कांग्रेसी नेतृत्व की एक नई किस्म का प्रतिनिधित्व करते थे। बंबई प्रेसिडेंसी के गैर–ब्राह्मण आंदोलन ने विदर्भ में 1938 में औपचारिक रूप से कांग्रेस में विलय का फैसला किया और इस तरह कांग्रेस को एक व्यापक जनाधार प्रदान किया।

1.3.2 जस्टिस पार्टी

पश्चिमी भारत में गैर–ब्राह्मण आंदोलन का संबंध अगर कुनबियों और मराठा पहचान से था तो मद्रास प्रेसिडेंसी में उसका संबंध वेल्लालों और द्रविड़ पहचान से था। इसका जन्म उन्नीसवीं सदी के अंतिम वर्षों के माहौल में हुआ, जब ब्राह्मण का, जो आबादी में 3 प्रतिशत से भी कम थे, 42 प्रतिशत सरकारी नौकरियों पर एकाधिकार था। अंग्रेजी शिक्षा में वे आगे थे, संस्कृत को एक प्राचीन अतीत की भाषा के रूप में महिमामंडित करते थे और आम जनता की भाषा तमिल के प्रति अपमान–भाव का सार्वजनिक प्रदर्शन करते थे। इसके कारण वेल्लाल कुलीनों को अपनी द्रविड़ पहचान को पेश करने की प्रेरणा मिली। गैर–ब्राह्मण अपनी तमिल भाषा, साहित्य और संस्कृति की बात एक ''शक्तिदायी संवाद'' के रूप में करने लगे और यह दावा करने लगे कि जाति प्रथा तमिल संस्कृति की अपनी चीज नहीं है। एक गैर ब्राह्मण पहचान खड़ी करने के इस आंदोलन ने, जो पश्चिमी भारत वाले आंदोलन की ही तरह भारतीय संस्कृति के आर्य सिद्धांत को पलट कर आरंभ हुई, हमेशा अपने केन्द्रीय तत्व तमिल भाषा को एक ''भक्तिमूलक समुदाय'' में ला सकें। राजनीतिक मोर्चे पर इस आंदोलन का रास्ता जाना–पहचाना रहा। इसका आरंभ 1916 में एक 'गैर–ब्राह्मणों की एक औपचारिक राजनीतिक पार्टी के रूप में (जस्टिस पार्टी) के गठन से हुआ। उसने कांग्रेस का विरोध उसे एक ब्राह्मण प्रभुत्व वाला संगठन कहकर किया और गैर–ब्राह्मण के लिए वैसे ही सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व का दावा किया, जैसा मॉर्ले–मिंटो सुधार ने मुसलमानों को दिया था। उपनिवेशी नौकरशाही से समर्थन पाने वाली इस मांग को 1919 के मांटेग्यू–चेम्सफोर्ड सुधार ने स्वीकार किया, जिसने मद्रास की विधायिका में गैर–ब्राह्मणों के लिए अठाइस सीटें आरक्षित कीं। कांग्रेस और उसके असहयोग आंदोलन का विरोध करने वाली जस्टिस पार्टी ने बेझिझक 1920 का चुनाव लड़ा, जिसके बहिष्कार का कांग्रेस ने आवाह्न किया था। फलस्वरूप काउंसिल बहिष्कार आंदोलन मद्रास में सफलता की कोई संभावना नहीं थी। जस्टिस पार्टी ने 98 निर्वाचित सीटों में से 63 सीटें जीतीं और आखिरकार नए सुधारों के अंतर्गत एक सरकार बनाई।

सन् 1920 में मंत्रिमंडल का गठन जस्टिस पार्टी के जीवन का चरम बिंदू और साथ उसके अंत का आरंभ था। यह मुख्यतः धनी भूस्वामियों और शहरी मध्यवर्गीय गैर–ब्राह्मणों से, संरक्षण पाने वाला आंदोलन था। सत्ता पाने के कुछ ही समय के अंदर जस्टिस पार्टी के ये कुलीन सदस्य अपनी नई–नई मिली सत्ता के उपयोग और दुरूपयोग में डूब गए, अपना सुधारवादी एजेंडा छोड़ दिया और अछूतों की हालत में उनकी दिलचस्पी कम होने लगी, फलस्वरूप ये अछूत खिन्न होकर एम0सी0 राजा के नेतृत्व में पार्टी से अलग हो गए। इस तरह जनाधार की जो हानि शुरू हुई, वह आखिरकार 1926 में स्वराजवादियों के हाथों मिली चुनावी हार में अपने चरम पर पहुंची। उसके बाद तो अनेक गैर–ब्राह्मणों ने पार्टी छोड़ी और कांग्रेस में

चले गए, जो फिर से प्रभावशाली होने लगी थी। यह बात 1929–30 के सविनय अवज्ञा आंदोलन में बहुत अच्छी तरह दिखायी देने लगी। 1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन ने रही–सही कसर भी निकाल दी। 1946 के चुनाव में तो जस्टिस पार्टी ने अपना कोई उम्मीदवार तक खड़ा नहीं किया।

दक्षिण भारत में जब जस्टिस पार्टी अगर धीरे–धीरे राजनीतिक महत्त्वहीनता के गर्भ में समाने लगी तो लगभग उसी समय गैर–ब्राह्मण आंदोलन के अंदर ही एक अधिक रैडिकल और लोकरंजक प्रवृत्ति ई0वी0 रामास्वामी नायकर 'पेरियार' के नेतृत्व में ''आत्मसम्मान'' आंदोलन के रूप में पैदा हुई। नायकर की असहयोग कार्यक्रम के उत्साही प्रचारक थे, पर इस विश्वास के कारण उन्होंने 1925 में कांग्रेस छोड़ दी कि वह गैर–ब्राह्मणों को ''वास्तविक'' नागरिकता प्रदान करने में न समर्थ थी न इसकी इच्छुक थी। उन्होंने आर्यवाद, ब्राह्मणवाद और हिन्दू धर्म की प्रचंड आलोचना की, जिन्होंने शूद्रों, आदि–द्रविड़ों (अछूतों) और स्त्रियों की अधीनता के अनेक ढाँचे तैयार किए थे। इसलिए स्वशासन से पहले आवश्यकता थी आत्मसम्मान की, जिसकी विचारधारा द्रविड़ प्राचीनता और तमिल भाषा व संस्कृति पर गर्व की भावना पर केंद्रित थी, लेकिन यह आंदोलन अपने विरोधी की पहचान में अधिक स्पष्ट था तथा संस्कृत भाषा और साहित्य को दक्षिण के आर्य उपनिवेशीकरण के सांस्कृतिक प्रतीक मानकर उसने इन पर कड़े प्रहार किए। जस्टिस पार्टी की विचारधारा के विपरीत इस विचारधारा की अपील अधिक समावेशी थी। इसने ब्राह्मण पुजारियों के बहिष्कार पर जोर दिया। मनुस्मृति की सार्वजनिक होली जलाई गई तथा हीन जातियों द्वारा मन्दिर में जबरन घुसने का प्रयास किया गया।

1.3.3 द्रविड़ मुन्नैत्र कडगम (DMK)

मद्रास में गैर–ब्राह्मण आंदोलन ने किस तरह धीरे–धीरे एक मुखर तमिल क्षेत्रीय अलगाववाद की शक्ल ले ली, खासकर तब जब 1937 में सी0 राजगोपालाचारी के नेतृत्व में कांग्रेस ने प्रांत के स्कूलों में हिन्दी को एक अनिवार्य विषय बनाने का प्रस्ताव रखा। हिंदी को तमिल भाषा और उसे बोलने वालों को नष्ट करने के प्रयास कर रही एक अशुभ शक्ति के रूप में पेश करते हुए मद्रास नगर में बड़े–बड़े प्रदर्शन हुए और इसी के साथ तमिल भाषा का आंदोलन कुलीन समूहों से निकल कर जनता तक फैल गया। धीरे–धीरे इस राजनीतिक अभियान ने एक अलग ''द्रविड़नाडू'' की मांग का रूप ले लिया। अगस्त 1944 में जस्टिस पार्टी ने जिसके अध्यक्ष अब रामास्वामी थे, अपने दल का नाम बदलकर द्रविड़ कजगम कर लिया, जिसका प्रमुख उद्देश्य माना जाता था कि एक अलग गैर–ब्राह्मण (राजा) या द्रविड़नाडु की मांग करना था, रामास्वामी की राष्ट्र की धारणा ''राष्ट्र–क्षेत्र के किसी सुनिश्चित भूभाग से बंधी हुई नही'' थी। और उनकी राय में ''द्रविड़'' से अभिप्राय क्षेत्रीय और भाषायी सीमाओं के आरपार रह रही तमाम उत्पीड़ित जनता के लिए

''एक समावेशी रूपक'' से था। दूसरे शब्दों में सामाजिक समानता के इस आंदोलन ने ऐसे समाज की एक आशा जगाई, जो जाति के प्रभुत्व से छुआछूत और लैंगिक भेदभाव से मुक्त हो।

1.4 दलित प्रतिरोध

उन्नीसवीं सदी के अंतिम और बीसवीं सदी के आरंभिक वर्षों में भारत में दलितो के प्रतिरोध आंदोलन ने थोड़े–बहुत भिन्न रास्ते अपनाए, हालांकि वे पूरी तरह असमान नहीं थे। ऐसे हर आंदोलन की विशिष्टता से इनकार किए बिना यहां हम इन दलित प्रतिरोधों की कुछ साझी विशेषताओं की चर्चा कर सकते हैं। इन संगठित समूहों में (सबने तो नहीं), कुछ ने सबसे पहला काम तो यह किया कि उच्च कर्मकांडी स्थिति के कुछ गोचर प्रतीकों को सामूहिक रूप से ग्रहण कर लिया, जैसे जनेऊ धारण करना, सामुदायिक पूजा जैसे अनुष्ठानों में भाग लेना और उन मंदिरों में प्रवेश करना जिनसे उन्हें अतीत में हिन्दू पुजारियों ने बाहर रखा था। बीसवीं सदी के आरंभिक वर्षों में मंदिर प्रवेश के अनेक संगठित आंदोलन हुए, जिनमें मलाबार में 1924–25 का वैक्कम सत्याग्रह और 1931–33 का गुरूवायूर सत्याग्रह, बंगाल में 1929 का मुंशीगंज काली मंदिर सत्याग्रह और नासिक (पश्चिमी भारत) में 1930–35 का कालाराम मंदिर सत्याग्रह सबसे महत्वपूर्ण थे। ऐसे धार्मिक अधिकारों के अलावा संगठित दलित समूहों ने सवर्ण हिंदुओं से सामाजिक अधिकार भी मांगे और इनकार किए जाने पर विभिन्न प्रकार की सीधी कार्यवाइयों का सहारा लिया। उदाहरण के तौरपे जब सवर्णों ने सवर्ण स्त्रियों की तरह वक्षस्थल ढँकने के बारे में नाडार स्त्रियों के प्रयासों का विरोध किया तो त्रावणकोर में इसके कारण 1859 में दंगा हो गया। महाराष्ट्र में मशहूर महार नेता डॉ0 भीमराव अम्बेडकर ने 1927 में 10–15 हजार दलितों को लेकर महाड़ में स्थानीय नगरपालिका के नियंत्रण वाले एक सार्वजनिक तालाब से पानी लेने के अधिकार का दावा करते हुए एक विशाल सत्याग्रह किया।

यह सामाजिक एकजुटता और प्रतिरोध की यह भावना एक बड़ी हद तक इस काल में अछूतों के बीच भक्ति आंदोलन के पुनरोदय की पैदावार थी। एझवों में श्रीनारायण धर्म परिपालन योगम ने और नामशुद्रों में मातुआ पंथ जैसे अनेक प्रतिरोधक धार्मिक पंथों ने शुद्ध भक्ति और सामाजिक समता के संदेश का प्रचार किया और इस तरह हिंदू सामाजिक सोपानक्रम की बुनियादी बातों को ललकारा। कुछ धार्मिक पंथों ने इस बात पर जोर दिया कि दलित ही आक्रांता आर्यों द्वारा अधीन बनाए गए इस देश के मूल निवासी हैं।

इस कारण अब आवश्यकता इसकी है कि उनकी संस्कृति या जीवन शैली में परिवर्तन की मांग किए बिना वे जैसे हैं वैसे ही उन्हें स्वीकार किया जाए, उनको अतीत की हानियों की क्षतिपूर्ति की जाए और उनके तमाम सामाजिक अधिकार उन्हें वापस दिये जायें। खोई हुई सामाजिक हैसियत को वापस पाने का यह प्रयास पंजाब

के चमारों के आद धरम आंदोलन से या संयुक्त प्रांत में चमारों और दूसरे शहरी दलितों के आदि हिंदू आंदोलन से एकदम स्पष्ट था। दूसरी ओर कुछ धार्मिक आंदोलन और भी आगे निकल गए। छत्तीसगढ़ में चमारों के सतनाम पंथ ने ब्राह्मणों पर अपनी श्रेष्ठता स्थापित करने के लिए कर्मकांडी प्रतीकों में हेरफेर किया। जबकि बंगाल के अछूत हादियों के बलहारी पंथ ने एक विपर्यस्थ (inverted) कर्मकांडी सोपानक्रम तक की कल्पना कर डाली, जिसमें ब्राह्मण सबसे नीचे थे और हादी शीर्ष पर थे।

हालांकि इनमें से अनेक आंदोलन बहुत दिनों तक चल नहीं पाए पर उनके परिणाम हिंदू समाज के लिए काफी विध्वंसक थे, क्योंकि न सिर्फ उन्होंने एक आम भाईचारे के संदेश के आधार पर दलितों को एकजुट किया, बल्कि सोपनक्रम और छुआछूत की हिंदू धारणाओं के प्रति उनकी अवज्ञा का संकेत भी दिया। दलितों के लिए बलहीन और अधीन बनाने वाली एक विचारधारा के रूप में हिंदू धर्मशास्त्र के अस्वीकार की यह प्रवृत्ति दिसंबर 1927 में एक विस्फोटक बिंदू तक जा पहुंची, जब एक सार्वजनिक समारोह में डॉ0 अंबेडकर ने छुआछूत का अनुमोदन करने वाले सबसे प्रामाणिक धर्मग्रन्थ मनुस्मृति की एक प्रति जलाई। सन् 1934 में उन्होंने नासिक के मंदिर में सत्याग्रहियों को मंदिर–प्रवेश की या हिंदू धार्मिक ढाँचे के अंदर अपने कष्टों के हल की खोज की व्यर्थता के बारे में पत्र लिखा। इसकी बजाय उन्होंने ''हिन्दू समाज और हिंदू धर्मशास्त्र को आमूल परिवर्तन'' का सुझाव दिया और दलितों को राय दी कि वे ''अपनी शक्ति और अपने संसाधन राजनीति और शिक्षा पर केंद्रित करें''। पिछड़ी जातियों के आंदोलन की एक प्रमुख विशेषता थी कि इन दलित संगठनों में से अनेक के लिए सार्वजनिक संस्थाओं का एकीकरण ही नहीं बल्कि अतीत की छतिपूर्ति के रूप में शिक्षा, रोजगार में जाति आधारित आरक्षण भी एक न्यूनतम माँग बन गया। कांग्रेस की राजनीति से दलितों का यह अलगाव एक बड़ी हद तक जाति और छुआछूत के प्रश्न पर कांग्रेस के दृष्टिकोण का नतीजा भी था। सामाजिक दृष्टि से संवेदनशील मुद्दों से बचने की धुन में कांग्रेस ने 1917 तक इस सवाल को अनदेखा किया और इसे तभी उठाया जब स्वयं को संगठित कर चुके दलित नेता कांग्रेस से पहल छीनने की तैयारी कर रहे थे।

हिंदू राष्ट्रवादियों ने अगर एक स्वर्णिम अतीत की कल्पना की तो स्वर्णिम वर्तमान के विपरीत दलितों के लिए वही अतीत छुआछूत और जातिगत भेदभाव से संपन्न एक अंधकारमय युग था। जबकि अंग्रेज कोई भेदभाव नहीं कर रहे थे और उन्होंने जातिगत निर्योग्यताओं को मान्यता देनेवाली मनुस्मृति को परे फेंक दिया था।

1.4.1 गाँधी व अम्बेडकर : दलितों के उद्धारक के रूप में

छुआछूत को सार्वजनिक सरोकार का एक विषय सबसे पहले गांधी ने बनाया था और सन् 1920 के असहयोग के प्रस्ताव में छुआछूत की समाप्ति को स्वराज की

प्राप्ति की बुनियादी शर्त बताया। लेकिन असहयोग आंदोलन की वापसी के बाद उनके हरिजन कल्याण के अभियान ने न तो सुधारवादी एजेंडा में सवर्ण हिंदुओं की कोई खास दिलचस्पी जगाई न दलितों को संतुष्ट किया। उन्होंने छुआछूत को एक विकृति कहकर उसकी निंदा की, लेकिन वे 1940 के दशक तक पश्चिम की वर्ग–व्यवस्था के मुकाबले वर्णाश्रमधर्म को सामाजिक श्रम विभाजन की एक आदर्श प्रतियोगिता विहीन आर्थिक व्यवस्था कहकर उसका गुणगान भी करते रहे। यह सिद्धांत अछूतों के सामाजिक रूप में महत्त्वाकांक्षी समूहों को संतुष्ट न कर सका, क्योंकि यह उनको सामाजिक गतिशीलता पाने के अवसरों से वंचित करता था। छुआछूत की समाप्ति के लिए भी गांधी ने मूलतः एक धार्मिक दृष्टिकोण अपनाया प्रायश्चित के कृत्य के रूप में सवर्ण हिंदूओं द्वारा मंदिर–प्रवेश कराने के आंदोलन का आरंभ और घरेलू नौकर ''भंगी'' का महिमामंडन उनके पास इस समस्या के समाधान थे। लेकिन ये उनके ये कार्य ''आर्थिक और राजनीतिक मूलों'' को नष्ट करने में नाकाम रहे। उन्होंने अछूतों को महिमामंडित तो किया, पर उनको कोई शक्ति प्रदान न कर सके दूसरी ओर दलित नेताओं का तर्क था कि उनकों आर्थिक और राजनीतिक शक्ति में समुचित भागीदारी मिले, तो उनके लिए मंदिर के दरवाजे तो अपने अपने आप खुल जाएंगे।

गांधी व दूसरी ओर गांधी का दृष्टिकोण अंबेडकर जैसे दलित नेताओं को संतुष्ट न कर सका। जो शिक्षा रोजगार और राजनीतिक प्रतिनिधित्व की सुलभता की गारंटी के माध्यम से एक राजनीतिक हल को प्राथमिकता देते थे। आगे चलकर भीमराव अंबेडकर (1945) ने कांग्रेस और गांधी पर वास्तविक प्रश्न पर लीपापोती करने का आरोप लगाया और दलितों के लिए एक अलग राजनीतिक पहचान की, उनकी मांग दलित राजनीतिक समूहों और कांग्रेस के आपसी संबंधों का एक टेढ़ा सवाल बन गई। कोल्हापुर के महाराजा की अध्यक्षता में मई 1920 में नागपुर में आयोजित अखिल भारतीय बहिष्कृत परिषद् (ऑल इंडिया डिप्रेस्ड क्लासेज कॉन्फ्रेंस) इस दिशा में एक छोटा सा प्रयास था। पर सही अर्थों मे संगठित प्रकार का एक अखिल भारतीय दलित आन्दोलन 1926 में अखिल भारतीय बहिस्कृत वर्ग सम्मेलन के आयोजन के साथ शुरू हुआ। यहाँ ऑल इंडिया डिप्रेस्ड क्लासेज एसोसिएशन का गठन किया गया, जिसके पहले निर्वाचित अध्यक्ष मद्रास के एम0सी0 राजा थे। डॉ0 अम्बेडकर, जो इस सम्मेलन मं शामिल नहीं हुए, इसके उपाध्यक्षों में एक उपाध्यक्ष चुने गए। अंबेडकर ने बाद में इस संगठन से इस्तीफा दे दिया ओर 1930 में उन्होंने नागपुर में आयोजित एक सम्मेलन में अपना अलग संगठन खड़ा किया, और अपने उद्घाटन भाषण में अंबेडकर ने एक बहुत स्पष्ट कांग्रेस–विरोधी और हल्का–सा अंग्रेज–समर्थक रवैया अपनाया और इस तरह इतिहास के भावी विकासक्रम का रास्ता तैयार किया।

दलितों के लिए, सार्वभौम वयस्क मताधिकार के अभाव में, पर्याप्त प्रतिनिधित्व

पाने के अकेले साधन के रूप में डॉ0 अंबेडकर ने अलग निर्वाचकमंडल की मांग सबसे पहले 1928 में साइमन कमीशन के सामने की थी। गोलमेज सम्मेलन के पहले दौर में वे इस रूख की ओर और भी आगे बढ़े, क्योंकि उनके अनेक साथी उसके पक्ष में थे। इसके बाद 19 मई 1931 को बंबई में अखिल भारतीय बहिष्कृत वर्ग नेता सम्मेलन ने औपचारिक प्रस्ताव पारित किया कि बहिष्कृत वर्गों को ''एक अल्पमत के रूप में उनके अलग निर्वाचकमंडल के अधिकार की गारंटी दी जानी चाहिए। 1931 में गोलमेज सम्मेलन के दूसरे दौर में गांधी के साथ अंबेडकर का एक बड़ा टकराव इसी मुद्दे पर हुआ, क्योंकि हिंदू समाज के स्थायी विभाजन के डर से गांधी जी इस मांग का विरोध कर रहे थे। इस सवाल पर दलितों में भी कोई एक राय न थी। एम0सी0 राजा का गुट संयुक्त निर्वाचकमंडल का पक्का समर्थक था तथा फरवरी 1932 में ऑल इंडिया डिप्रेस्ड क्लासेज कॉन्फ्रेंस की कार्यसमिति ने अंबेडकर की अलग निर्वाचकमंडल की मांग की भर्त्सना करके हिंदुओं के साथ ऐसे संयुक्त निर्वाचकमंडल का एकमत से समर्थन किया, जिसमें आबादी के आधार पर सीटों के आरक्षण का प्रावधान हो एम0सी0 राजा और अखिल भारतीय हिंदू महासभा के अध्यक्ष डॉ0 बी0एस0 मुंजे के बीच इस आशय का एक समझौता थी हुआ, जिसे ''राजा–मुंजे समझौता'' कहा गया। दूसरे शब्दों में, निर्वाचकमंडल के सवाल पर दलित नेतृत्व ''बीच से'' बँटा हुआ था।

ये मतभेद तब भी जारी रहे जब कम्यूनल एवॉर्ड ने सितंबर 1932 में अछूतों के लिए, जिनकों अब अनुसूचित जातियाँ नाम दिया गया, अलग निर्वाचकमंडल का अधिकार मान लिया और उसे खत्म कराने के लिए गांधी ने अपना ऐतिहासिक आमरण अनशन आरंभ किया। अब अंबेडकर के पास महात्मा गाँधी का जीवन बचाने के लिए इस नैतिक दबाव के आगे झुकने के अलावा कोई चारा नहीं रहा और उन्होंने यह समझौता मान लिया, जिसे 'पूना पैक्ट' कहा जाता है। इसमें संयुक्त प्रतिनिधिमंडल में अनुसूचित जातियों के लिए 151 आरक्षित सीटों की व्यवस्था थी। फिलहाल तो ऐसा लगा कि सारे टकराव हल हो गए हों। इस समय तक मंदिर–प्रवेश आंदोलन और गांधी के हरिजन अभियान में राष्ट्रव्यापी रूचि जागने लगी। नवस्थापित हरिजन सेवक संघ के कार्यों में गांधी और अंबेडकर के बीच सहयोग भी होता रहा। बाद में इस समझौते के प्रावधान 1935 के भारत सरकार अधिनियम (गवर्नमेंट ऑफ इंडिया ऐक्ट) में शामिल किए गए। हालांकि उन दिनों इस समझौते की बहुतों ने आलोचना की फिर भी यह गांधी की विजय थी, जिन्होंने भारत की शासन व्यवस्था में एक दरार पड़ने से बचा लिया और अस्पृश्यता की समस्या का एक राष्ट्रवादी हल पेश किया।

लेकिन दोनों के मध्य (गांधी व अम्बेडकर) फूट बहुत जल्द दोबारा सामने आई तथा कांग्रेस और अंबेडकर एक–दूसरे से दूर होने लगे। जहां गांधी का हरिजन सेवक संघ सामाजिक मुद्दों में संलग्न था, वहीं उनके ध्येय में दूसरे कांग्रेसी नेताओं

की कुछ खास दिलचस्पी न थी। वे आगामी चुनाव में आरक्षित सीटें जीतने के लिए दलित मतदाताओं की लामबंदी का एक राजनीतिक मंच चाहते थे। इसके लिए उन्होंने बिहार के एक राष्ट्रवादी दलित नेता जगजीवन राम को अध्यक्ष बनाकर मार्च 1935 में ऑल इंडिया डिप्रेस्ड क्लासेज लीग खड़ी कर दी। लेकिन 1937 के चुनाव में पूरे भारत में 151 आरक्षित सीटों में से कांग्रेस को केवल 73 ही मिल सकीं। आठ प्रान्तों में कांग्रेस ने मंत्रिमंडल बनाए और कोई दो साल तक सत्ता में रही, वहाँ उनके कुछ कार्य ऐसे रहे कि न सिर्फ अंबेडकर जैसे आलोचक इन मंत्रिमंडलों के काम से अप्रभावित रहे, बल्कि मद्रास के एम0सी0 राजा जैसे वे दलित नेता भी धीरे–धीरे कट गए जो कभी कांग्रेस से हमदर्दी रखते थे।

गरीबों और दलितों की केवल जाति से अधिक व्यापक आधार पर एकजुट करने के लिए अंबेडकर ने 1936 में 'इंडिपेंडेंट लेबर पार्टी' की बुनियाद रखी, जिसका उद्देश्य ''मेहनतकश वर्गों के कल्याण को बढ़ावा देना'' था। 1937 के चुनाव में उनकी पार्टी को बंबई में शानदार सफलता मिली और उसने 15 आरक्षित सीटों में से 11 सीटें जीत ली लेकिन जाति–वर्ग समुच्चय की इस व्यापक आधार वाली राजनीति से अंबेडकर धीरे–धीरे अलग–थलग दलित समूहों की ओर मुड़ते चले गए। वे धीरे–धीरे कांग्रेस के भी एक तीखे आलोचक बन गये। इन दोनों समूहों का मतभेद अब राष्ट्रवाद के प्रति दो दृष्टिकोणों के अंतर्विरोध पर आन टिका, जिसमें कांग्रेस का सरोकार तो सत्ता के हस्तांतरण और स्वतंत्रता से था, जबकि दलितों का सरोकार भावी राष्ट्र–राज्य में नागरिकता की शर्तों से अधिक था। अंबेडकर ने कांग्रेस से कहा कि वे स्वराज के संघर्ष में भाग लेने को तैयार हैं, पर उन्होंने एक शर्त सामने रखी ''मुझे बतलाइए कि उस स्वराज में मेरी भागीदारी कितनी होगी।'' चूँकि उनको कोई गारंटी नहीं दी गई, उन्होंने कांग्रेस के आंदोलन से दूर रहना ही बेहतर समझा।

जुलाई 1942 में अम्बेडकर वायसरॉय की काउंसिल का श्रम सदस्य नियुक्त किया गया। नागपुर में 18 से 20 जुलाई 1942 तक आयोजित एक सम्मेलन में उन्होंने अखिल भारतीय अनुसूचित जाति महासंघ (ऑल इंडिया शेड्यूल्ड कास्ट फेडरेशन) का आरंभ किया, जिसके संविधान में दलितों को ''हिंदुओं से विशिष्ट और अलग'' करार दिया गया था। दलितों के विरोध का यह वक्तव्य और उनका एक अलग पहचान का यह दावा उस भारत छोड़ो आंदोलन (8–9 अगस्त) से कुछ ही दिनों पहले की बातें हैं, जिससे मुसलमानों ने भी अलग रहने का फैसला किया हुआ था। लेकिन मुसलमानों की अलग–थलग राजनीति के विपरीत दलितों का यह अलगाव बहुत दूर तक नहीं गया और अल्द ही 1940 के दशक के अंत में, उनकी राजनीति कांग्रेस में समाहित हो गई। ऐसा अनेक कारणों से हुआ, पहली बात यह कि इस (दलितों की) राजनीति में सभी दलितों का विश्वास नहीं था, खासकर ऐसे दौर में जब गांधीवादी लोक–राष्ट्रवाद एक अभूतपूर्व सार्वजनिक वैधता प्राप्त कर चुका था। अनुसूचित जाति महासंघ के पास ऐसा जन–संगठन खड़ा करने के लिए न तो

अवसर था न समय था और न संसाधन थे, जो ऐसे समय में कांग्रेस का मुकाबला कर सकता जब गांधी का सुधारवादी एजेंडा और आगे चलकर कम्युनिस्टों का क्रान्तिकारी कार्यक्रम बराबर उसके जनाधार को काटते जा रहे थे। आखिरी बात यह जो सबसे महत्वपूर्ण थी कि सत्ता के हस्तांतरण की प्रक्रिया की मजबूरियों ने दलित नेतृत्व के पास जोड़तोड़ की बहुत कम गुंजाइश छोड़ी और उसे कांग्रेस से हाथ मिलाने के लिए मजबूर कर दिया। सन् 1946 के चुनाव में हिंदू महासभा और कम्युनिस्ट पार्टी के अलावा दूसरी सभी छोटी राजनीतिक पार्टियों की तरह अनुसूचित जाति महासंघ का भी लगभग सफाया हो गया और उसने दलितों के लिए आरक्षित 151 सीटों में से मात्र 2 सीटें जीतीं। इन सीटों का प्रचंड बहुमत कांग्रेस को गया, जो उस समय भारत छोड़ो आन्दोलन के कारण और बाद में आजाद हिंद फौज के लोगों पर मुकदमें के विरोध में आंदोलन चलाकर लोकप्रियता की चरम सीमा पर थी।

सत्ता के हस्तांतरण के तौर–तरीकों पर बातचीत के लिए सन् 1946 में जो कैबिनेट मिशम भारत आया, वह चुनाव परिणामों के आधार पर इस नतीजे पर पहुंचा कि सही अर्थों में दलितों का प्रतिनिधित्व कांग्रेस कर रही थी, और तमाम आधिकारिक मंचों पर आगे भी करती रहेगी। इस ''प्रतिनिधित्व के संकट'' पर तमाम अंबेडकर की गुस्से भरी प्रतिक्रिया रही और उन्होंने अपना जन–समर्थन साबित करने के लिए एक लोक सत्याग्रह शुरू कर दिया। लेकिन संगठन के अभाव के कारण यह आंदोलन बहुत दिनों तक नहीं चला। उनके पास कोई ऐसा राजनीतिक क्षेत्र नहीं बचा, जिसमें वे दलितों की अलग पहचान सामने रख सकते या उनकी नागरिकता के लिए लड़ सकते।

इस ऐतिहासिक मोड़ पर आजादी की ठीक पूर्व बेला में, संविधान सभा की एक सीट पर अंबेडकर का नाम पेश करके और फिर उनकों संविधान प्रारूप समिति की अध्यक्षता के लिए चुनकर कांग्रेस ने दलित प्रतिरोध को समाहित कर लेने का प्रयास किया। उनके नेतृत्व में नए भारतीय संविधान ने अस्पृश्यता को गैर–कानूनी घोषित किया और वे आजादी के बाद नेहरू मंत्रिमंडल में नए विधि मंत्री बनाए गए। अंबेडकर को कांग्रेस से अपने जुड़ाव की व्यर्थता का जल्द ही एहसास हुआ, क्योंकि हिंदू संहिता विधेयक (हिंदू कोड बिल) पर कांग्रेस के दिग्गजों ने उनका समर्थन करने से इनकार कर दिया तब सन् 1951 में उन्होंने मंत्रिमंडल से त्यागपत्र दे दिया और फिर 15 अक्टूबर 1956 को, अपनी मृत्यु से बमुश्किल डेढ़ माह पहले, उन्होंने अपने तीन लाख अस्सी हजार अनुयायियों के साथ बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया। इस घटना को अकसर हिंदू धर्म के खिलाफ, (जो सुधारों से परे है) विरोध के एक चरम सार्वजनिक कृत्य के रूप में पेश किया जाता है। यही कारण है कि बौद्ध धर्म के बारे में उनकी खास समझ को दलितों ने एक नई विश्वदृष्टि और एक सामाजिक राजनीतिक विचारधारा का आधार समझा।

1.5 सारांश

इस प्रकार हम देखते है कि इनमें (दलितों के और गैर ब्राह्मण प्रतिरोध) से अनेक आन्दोलन बहुत दिनों तक नहीं चल पाये पर उनके परिणाम हिन्दू समाज के लिए काफी विध्वंसक रहे क्योंकि न सिर्फ उन्होंने एक आम भाईचारे के संदेश के आधार पर एकजुट किया, बल्कि सोपानक्रम और छुआछूत की हिन्दू धारणा के प्रति उनकी अवज्ञा का भी संदेश दिया और ये संगठन उपनिवेशी भारत में धीरे–धीरे आधुनिकरण के साधनों के रूप में विकसीत हुए।

1.6 बोध प्रश्न

1. दलितों के उत्थान में अम्बेडकर की भूमिका बताइये।
2. निम्न में सही/गलत बताइये।
   (a) ज्येतिबा फूले ने महाराष्ट्र ने जस्टिक पार्टी की स्थापना की थी।
   (b) रामास्वामी ने द्रविड़ मुन्नैन कडगम की (DMR) स्थापना की।
   (c) कांग्रेस ने पूरी तरह से दलितों के आन्दोलन में सहयोग किया।
   (d) डॉ0 अम्बेडकर ने दलितों के लिए अलग निर्वाचक मण्डल की मांग 1928 में साइमन कमीशन के सामने की।

1.7 शब्दावली

वर्णव्यवस्था – हिन्दू ग्रन्थों में समाज को चार वर्णों में उनके कर्म के आधार पर विभाजित किया गया है। जिसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र क्रम के अनुसार आते है।

अस्पृश्यता – धार्मिक और सामाजिक दृष्टियों से किसी अपृश्य को न छूने का विचार व भाव।

1.8 बोध प्रश्न के उत्तर

(a) गलत (a) गलत

(b) सही (b) सही

इकाई–3
मजदूर और कृषक विद्रोह

इकाई की रूपरेखा :

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 मजदूर विद्रोह

1.2.1 बोध प्रश्न सं0–1

1.3 कृषक विद्रोह

1.3.1 बोध प्रश्न सं0–2

1.4 सारांश

1.5 शब्दावली

1.6 बोध प्रश्नों के उत्तर

1.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में हम भारत में बढ़ रही राष्ट्रीय चेतना का प्रभाव देश की साधारण जनता (जिसके दो वर्ग में किसान और मजदूर) पर किस प्रकार पड़ा ? उन्होंने किस प्रकार अपने शोषण के विरूद्ध आवाज उठाने के लिए एकजुट होना प्रारंभ किया। इसके विषय में जानकारी प्राप्त करेंगे। साथ ही राष्ट्रीय आन्दोलन में उसका क्या योगदान रहा इसकी जानकारी भी प्राप्त करेंगे।

1.1 प्रस्तावना

19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में विभिन्न कारणों से फैल रही राष्ट्रीय चेतना को साधारण जनता, किसान और कारखानों में काम करने वाले मजदूर वर्ग ने निर्णायक ढंग से प्रभावित किया। रूस की क्रान्ति से इन दोनों वर्गों को बड़ी प्रेरणा मिली और वर्ग चेतना ने उनको अत्यन्त लड़ाकू बना दिया। बाद के वर्षों में महात्मा गांधी के राष्ट्रीय आन्दोलन में आने से इस वर्ग को बड़ी राहत महसूस हुई क्योंकि उनका आन्दोलन, जन आन्दोलन था। यद्यपि गांधी जी के नेतृत्व में कांग्रेस का संघर्ष पहले से अधिक व्यापक हो गया था लेकिन उस पर अभी उच्च मध्य वर्ग का ही प्रभाव था। स्वयं गांधी जी के आंशिक सामाजिक विचार कई तरह के भ्रम पैदा करने वाले थे।

गांधी जी जहाँ एक तरफ तो गरीब, किसानों और शोषित मजदूरों के प्रति सहानुभूति व्यक्त करते रहे और दूसरी ओर वे जमींदारों और पूंजीपतियों को

आश्वासन देते रहे। ऐसी स्थिति में किसान और मजदूरों को शुरू–शुरू में स्वयं पहल कदम करनी पड़ी, मैदान में कूदना पड़ा और स्वयं संघर्ष के लिए आगे आना पड़ा। कालान्तर में उनका सारा संघर्ष राष्ट्रीय आन्दोलन का एक अंग बन गया।

1.2 श्रमिक विद्रोह

19वीं तथा 20वीं शताब्दी में भारतीय उद्योगीकरण के परिणामस्वरूप दो नये वर्गों का समाज में उदय हुआ पूंजीपति वर्ग और श्रमिक वर्ग। इन दोनों वर्गों के मध्य बहुत अधिक असामानता थी। सरकारी नीतियाँ भी श्रमिकों के हितों के अनुकूल नहीं थी। एक ही साथ साम्राज्यवादी राजनीति व्यवस्था तथा पूंजीपतियों के शोषण का शिकार उन्हें होना पड़ रहा था। इसलिए श्रमिक अपने हितों की सुरक्षा के लिए संगठित होने और संघर्ष करने के लिए एकजुट होने लगे।

1853 ई0 में जब भारत में रेलवे का निर्माण आरंभ हुआ तब उनमें काम करने के लिए बड़ी संख्या में मजदूरों को भर्ती किया गया। कोयला खानों, कारखानों और कल कारखानों में अकुशल श्रमिक एवं पढ़े–लिखे लोग बड़ी संख्या में भर्ती किये गये लेकिन मालिक और पूंजीपति इनकी सुविधा का कोई ध्यान नहीं रखते। उन्हें कम मजदूरी पर ही लम्बे समय तक अस्वस्थ्य वातारण में काम करना पड़ता था। भारत में सस्ते मजदूरों को देखकर लंकाशायर के वस्त्र–उत्पादकों को भय हुआ कि कहीं भारतीय कपड़ा उद्योग सस्ती मजदूरी के कारण उनका प्रतिद्वन्दी न बन जाये इसलिए श्रमिकों की स्थिति सुधारने के नाम पर नियंत्रण स्थापित करने की व्यवस्था की गयी।

1881 ई0 में फैक्ट्री कानून बनाकर 7 वर्ष से कम उम्र के बच्चों पर कारखानों में काम करने पर 12 वर्ष से कम उम्र के बच्चों के काम के घंटों को सीमित करने तथा खतरनाक मशीनों के चारों ओर बाड़ा लगाने की व्यवस्था की गयी थी। दूसरी फैक्ट्री कानून 1891 ई0 में बना जिसमें स्त्रियों के काम करने की अवधि 11 घण्टे ($1\frac{1}{2}$ घण्टे मध्य अवकाश के साथ) निश्चित की गई। 20वीं शताब्दी में कुछ और भी कानून श्रमिकों की स्थिति सुधारने के लिए बने। इन सबमें 1911 ई0 का फैक्ट्री अधिनियम था। जिसमें 14 साल के ऊपर के मजदूरों के काम के घण्टे घटाए गए और निश्चित किया गया कि श्रमिकों से 12 घण्टे से अधिक काम नहीं लिया जायेगा। लेकिन इन सबके बावजूद श्रमिकों की स्थिति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ तथा उनका शोषण जारी रहा।

लेकिन धीरे–धीरे मजदूरों में अपने अधिकारों के प्रति चेतना आने लगी। इन अधिकारों के लिए 1882–1890 ई0 के मध्य बम्बई और मद्रास प्रान्तों में कम से कम 25 हड़तालें हुई। 1884 ई0 में एन0एम0 लोखंडे नामक एक पत्रकार की पहल से बम्बई के मजदूरों का बम्बई मिल मजदूर एसोसिएशन का संगठन किया गया। इसी प्रकार 1985 ई0 में अहमदाबाद में आठ हजार बुनकरों की हड़ताल हुई। इन हड़तालों

के बावजूद भी 19वीं शताब्दी तक मजदूरों का कोई दृढ़ संगठन नहीं बना था लेकिन उनमें वर्ग चेतना तथा एकता की भावना आने लगी थी।

1905–1904 ई0 में भारत में उग्रवादी राष्ट्रीय आन्दोलन का मजदूरों के जागरण पर जबरदस्त प्रभाव पड़ा। प्रथम विश्वयुद्ध के समय पूरे भारत में श्रमिकों की अनेक हड़तालें तो हुई। लेकिन अभी भी वे पूरी तरह से संगठित नहीं थे। जिसके अनेक कारण थे जैसे–भारत के मजदूर गरीब थे, अशिक्षित थे और उनके पास साधनों का अभाव था। दूसरा इनके आन्दोलन को बाहरी लोग नेतृत्व देते थे तथा देश में समाजवाद के आधार पर मजदूर वर्ग के विचारों और संघर्ष के सिद्धान्त के आधार पर चलने वाला कोई राजनीतिक आन्दोलन नहीं था। इसका परिणाम यह हुआ कि विभिन्न कारणों से प्रेरित होकर जो लोग मजदूरों का नेतृत्व करने आये वे मजदूर आन्दोलन की जरूरतों तथा उसके उद्देश्य को समझ नहीं सके और उन्हें सही नेतृत्व नहीं दे सके।

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद स्थिति धीरे–धीरे बदलने लगी। रूस की बोल्सेविक क्रान्ति के परिणाम स्वरूप दुनिया में क्रान्तिकारी लहर उठने लगी। भारत का मजदूर वर्ग भी इस प्रभाव से अछूता नहीं रहा। उस समय देश की आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों ने मजदूरों में नयी जागृति उत्पन्न करने में मदद की। अपनी स्थिति से असंतुष्ट मजदूरों ने सन् 1919–20 में देश के औद्योगिक केन्द्रों में हड़तालों का तांता लगा दिया। इन हड़तालों से असहयोग आन्दोलन बड़ी मदद मिली।

अखिल भारतीय कांग्रेस ने प्रथम विश्वयुद्ध के बाद विश्व के सभी मजदूरों की स्थिति को ठीक करने के लिए एक 'अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन' की स्थापना की गई। जिसका प्रभाव भारतीय मजदूरों पर भी पड़ा। अब हड़तालों के साथ–साथ मजदूरों की एकता और शक्ति को बनाये रखने के लिए मजदूर यूनियन भी बनाये जाने लगे। सन् 1920 तक भारत में लगभग 125 मजदूर संघ बनाये गये। इस दिशा में पहल कांग्रेस की ओर 31 अक्टूबर 1920 को बम्बई में लाला लाजपत राय की अध्यक्षता में 'ऑल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस' की गठन किया। इस अखिल भारतीय संगठन पर आरंभ में उदारवादी नेताओं जैसे चितरंजन दास, जवाहर लाल नेहरू, सुभाष चन्द्र बोस ने इसके कार्यों में रूचि ली। 1920 ई0 में कांग्रेस के नागपुर अधिवेशन में मजदूरों और किसानों के संबंध में प्रस्ताव पारित कर उनकी दशा सुधारने के लिए कार्यक्रम बनाने का निर्णय लिया। इसके बाद कांग्रेस निरन्तर मजदूरों की समस्याओं पर ध्यान देने लगी। 1925 ई0 में कानपुर अधिवेशन में कांग्रेस ने रचनात्मक कार्यों में मिल मजदूरों को संगठित करने का कार्यक्रम स्वीकार किया। पुनः 1927 ई0 में कांग्रेस ने औद्योगिक मजदूरों के बीच कार्य करने के लिए प्रचारक नियुक्त करने और संगठन बनाने की योजना बनाई गई।

सन् 1923 में लाला लाजपत राय, जोजेक बैपठिस्टा, दीवान चमनलाल आदि

मजदूर नेताओं ने मिलजुल कर अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस की स्थापना की। इसके प्रसिद्ध नेताओं एन0एम0 जोशी, वी0बी0 गिरी आदि के नाम शामिल थे। सन् 1927 तक ट्रेड यूनियन कांग्रेस ने 57 यूनियनें शामिल हो गई जिनमें सदस्यों की सं0 150555 थी।

स्पष्ट है कि प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात मजदूरों में नई चेतना का तेजी से विकास हुआ और श्रमिक आन्दोलन में वृद्धि हुई, परन्तु इस ट्रेड यूनियन कांग्रेस का रूख सुधारवादी था क्रान्तिकारी नहीं। इस पर ब्रिटेन के श्रमिक दल के समाजवादी लोकतंत्रवादी विचारधारा का प्रभाव था और ये नेता भी श्रमिक संगठनों की राजनीतिक गतिविधियों केवल श्रमिकों की आर्थिक दशा सुधारने तक ही सीमित रहे। गांधी जी के अहिंसावाद, ट्रस्टीशिप तथा वर्ग सहयोग की भावना के कारण मजदूरों को राजनीतिक आन्दोलनों से दूर रखने का प्रयास किया और उन्हें 1920–22 के असहयोग आन्दोलन में श्रमिक को शामिल नहीं किया गया।

साम्यवादी विचारधारा का प्रभाव :

भारतीय श्रमिक वर्ग को क्रान्तिकारी मार्ग पर ले जाने का प्रयास साम्यवादियों ने किया। साम्यवादी प्रभाव के कारण व्यापार संघ में क्रान्तिकारी भावना आने लगी। असहयोग आन्दोलन समाप्त होते–होते पुनः हड़तालों की संख्या बढ़ने लगी। विश्व की आर्थिक मन्दी का श्रमिकों पर बुरा असर पड़ा। 1928 ई0 में औद्योगिक अशान्ति बनी रही। इस वर्ष 203 हड़तालें देश में हुई। जिनका उद्देश्य पूंजीवादी व्यवस्था को समाप्त करना था। सरकार ने इन हड़तालों की जांच एवं हड़तालों के बढ़ते प्रभाव को कम करने के उद्देश्य से 1928 ई0 में 'हिब्टली कमीशन' भारत भेजा। इस कमीशन के विरोध में प्रदर्शन और सभाएं आयोजित की गई। साम्यवादियों का प्रभाव कम करने के उद्देश्य से 8 अप्रैल 1929 ई0 को 'श्रमिक विवाद अधिनियम' बनाया गया। जिसका उद्देश्य हड़तालों और श्रमिकों के राजनीतिक कार्यों पर अंकुश लगाना था। 1934 ई0 में चुनावों को ध्यान में रखते हुए सरकार ने साम्यवादी दल और उससे सम्बद्ध संगठनों को गैर कानूनी घोषित कर दिया। इस आदेश से श्रमिक आन्दोलन को आघात पहुंचा परन्तु श्रमिकों का आन्दोलन नहीं रूका। द्वितीय विश्व युद्ध के अवसर पर श्रमिक संगठनों को एकबद्ध करने और संघर्ष चलाने के अनेक प्रयास हुए और युद्ध के समाप्त होने के बाद मजदूर पुनः अपनी बिखरी हुई शक्ति को बटोरकर सामने लगा।

1.2.1 बोध प्रश्न सं0–1

प्रश्न 1: प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान मजदूर आन्दोलन के विकास पर 10 पंक्तियां लिखिये–

प्रश्न–2 निम्न प्रश्नों का सही या गलत में उत्तर दीजिए–

a) प्रथम फैक्ट्री कानून 1891 ई0 में बनाया गया।

b) 1911 के फैक्ट्री कानूनी में 12 घण्टे से अधिक मजदूरों से काम लेने पर रोक लगायी गयी।

c) आल इण्डिया ट्रेड यूनियन का गठन लाल लाजपत राय की अध्यक्ष में किया गया।

d) श्रमिक आन्दोलन पर साम्यवादी विचारधारा का प्रभाव नहीं पड़ा।

1.3 कृषक विद्रोह

भारत में जमीन जोतने वाले किसान को तीन श्रेणियों में बांटा जा सकता है बड़े किसान, मंझले किसान और छोटे किसान। जब से भारत में अंग्रेजों ने अपनी पैठ जमाकर अधिक से अधिक भूराजस्व एकत्र करने के उद्देश्य से विभिन्न भू–पद्वतियां चलायी गई। तब से अंग्रेज भारतीय किसानों का विभिन्न प्रकार से शोषण करते आ रहे थे। ये किसान कर्ज के बोझ से बुरी तरह दबे हुए थे जिसके अनेक कारण थे। ब्रिटिश शासन के पूरे काल में किसानों का तीनों तरफा शोषण हो रहा था। (1) सरकार किसानों से मालगुजारी लेती थी। (2) जंमीदार लगान वसूलता था और (3) क्रूर साहूकार उनका सबकुछ लूट लेता था। इसके सभी के विरूद्ध किसान प्रारंभ से ही विद्रोह करते आ रहे थे। जिनमें उन्नीसवी सदी में नील विद्रोह (1859–60) ई0, मोपला विद्रोह, संथाल विद्रोह (1875) चम्पारन आन्दोलन (1915 ई0), खेड़ा आन्दोलन (1918) ई0, बिरसा मुंडा आन्दोलन (1895) ई0 ताना भगत आन्दोलन आदि प्रमुख किसान विद्रोह थे।

ब्रिटिश सरकार ने भारत में लगान–पद्धति में बहुत सी तब्दीलियां की। जैसे–स्थाई बन्दोबस्त, रैय्यतवारी व्यवस्था व महलवारी पद्धति। स्थाई बन्दोबस्त में जमींदारों को किसानों से लगान वसूल करने का असीम अधिकार दे दिया गया। कुछ प्रांतों में ''रैय्यतवारी पद्धति'' लागू की गई और कुछ में ''महलवारी पद्धति''। जमींदारी प्रथा त्रि–स्तरीय पद्धति थी जिसमें सरकार काश्तकार से लगान की वसूली करती थी। रैयतवारी पद्धति द्वि–स्तरीय पद्धति थी जिसमें सरकार रैयत से सीधे लगान वसूल करती थी। इन सभी प्रथाओं में शीघ्र ही मध्यस्थों की श्रेणियां विकसित होने लगी। बढ़ते हुए लगान के कारण किसान उधार लेने के लिए बाध्य हुए और साहूकारों के वर्ग का उदय हुआ। जब किसान लगान नहीं चुका पाते थे तो उन्हें बेदखल कर दिया जाता था तथा बहुत अधिक ब्याज उनसे वसूल किया गया। जमींदार, ताल्लुकेदार और साहूकार कई प्रकार के अवैध उपकर वसूल करके किसानों को तंग करते थे। ये उपकर अनेक प्रकार के थे, जैसे पथकर, मेला खर्च, पर्व कर, जमींदार के परिवार में कोई विवाह होने पर कर, डाक खर्च, दाखिल खर्च, टोल खर्च इत्यादि–इत्यादि। लगान या इन उपकरो के समय पर अदा न करने पर

किसानों को घोर उत्पीड़न का सामना करना पड़ता था।

अंग्रेजों ने राजस्व–प्रणाली में जो परिवर्तन किए उनके कारण भू–स्वामी और साहूकारों के वर्गों में तेजी से वृद्धि हुई और वे ग्रामीण क्षेत्रों में बड़े शक्तिशाली हो गए। उनके अतिरिक्त बागों के अंग्रेज मालिकों ने चाय, रबड़, काफी तथा नील के बाग लगाए। इन क्षेत्रों में किसान या तो दिहाड़ी पर काम करने वाले बनकर रह गए या फिर ठेके पर काम करने वाले श्रमिक जिनकी स्थिति बंधुआ मजदूरों जैसी थी। किसान इस दमन को चुपचाप न सह सके और कई स्थानों पर उन्होंने विद्रोह भी किए परन्तु उन्हें निर्दयतापूर्वक कुचल दिया गया।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भारत में बार–बार अकाल पड़े और भूख से लाखों कृषक और अन्य कमजोर वर्ग के लोग मर गये। कहा जाता है कि लगभग 24 छोटे–बड़े 1876–77, 1897–98 और 1899–1900 के भीषण अकालों से यह स्पष्ट हो गया कि वे, उत्पीड़क भूमिकर नीति का फल थे। सूखे और अकालों से ग्रामीण प्रदेशों में शान्ति और व्यवस्था की स्थिति बहुत बिगड़ गयी।

सन्थाल विद्रोह (1855–56) – संथाल लोग शांतिप्रिय आदिवासी थे। वे हजारीबाग, मिदनापुर, बाकुड़ा और बीरभूम क्षेत्रों में कृषि के कार्य में लगे हुए थे। 1793 की स्थाई भूमि–व्यवस्था के कारण जमींदार इन इलाकों के स्वामी बन गये। जमींदारों की बहुत अधिक लगान की मांग से मजबूर होकर ये लोग अपनी पैतृक भूमि को छोड़कर राजमहल की पहाड़ियों में बस गये तथा अपने कठोर परिश्रम के द्वारा उन लोगों ने पथरीली और जंगलों से ढकी भूमि को कृषि को कृषि के योग्य बना लिया। जमींदारों ने इस भूमि के भी स्वामित्व की मांग की और जबरजस्ती उनसे रूपये बटोरने शुरू कर दिए। साहूकारों ने भी अपनी सूदखोरी द्वारा उन लोगों को और भी निर्धन बना दिया। पुलिस, न्यायालयों और अफसरों ने भी जमींदार और साहूकारों की सहायता की। साहूकारों को किसानों से अपना कर्जा चुकाने के लिए जेल में डलवाने का अधिकार दिया गया। संथालों को उस समय बड़ी निराशा हुई जब पुलिस ने भी जमींदार और साहूकारों का साथ दिया।

संथाल लोग इन अत्याचारों को सह न सके और सिद्धू और कान्नू बंधुओं के नेतृत्व में उन्होंने विद्रोह कर दिया। उन्होंने घोषणा की कि ''वे देश को अपने अधिकार में ले लेंगे तथा अपनी सरकार स्थापित कर देंगे।'' उन्होंने भागलपुर और राजमहल के बीच तार तथा रेल व्यवस्था भंग कर दी। उन्होंने कम्पनी के राज्य की समाप्ति और अपने सूबेदार के राज्य की घोषणा कर दी। इस स्थिति से निपटने के लिए सेना भेजी गयी। सेना का प्रतिरोध न कर सकने के कारण विद्रोहियों ने जंगलों में शरण ली लेकिन कार्यवाही जारी रखी। मेजर बर्रो के अधीन एक अंग्रेजी सेना को अपमानजनक हार खानी पड़ी। फरवरी 1856 में संथालों के नेता बन्दी बना लिए गए और विद्रोह बड़ी कठोरता से दबा दिया गया।

सरकार ने इस विद्रोह की जांच के लिए एक जांच समिति नियुक्त की जिसे इन किसानों की बात माननी पड़ी। फलतः 1885 में सरकार ने ''बंगाल काश्तकारी अधिनियम'' (Bengal Tenancy Act) पारित किया जिसने खोए भू–धारण अधिकार और सामन्तों द्वारा लगान के रूप में एक निश्चित राशि वसूल करने की प्रथा को फिर से स्थापित किया।

1857 का स्वतन्त्रता संग्राम – 1857 के स्वतन्त्रता संग्राम में अवध और पश्चिमी यू0पी0 के कृषकों ने जमींदारों की कठोरता को भुलाकर विदेशियों को उखाड़ फेंकने का प्रयत्न किया। विद्रोह के दिनों मे लार्ड कैनिंग ने उनके भूमि में स्वामित्व के अधिकारों को समाप्त कर दिया। 1857 के पश्चात् सरकार ने भू–कर व्यवस्था अवध के ताल्लुकेदारों से की और उनकी अधिकतर भूमि उन्हें लौटा दी गयी। ताल्लुकेदारों को कुछ दण्ड–नायकों तथा कर सम्बन्धी अधिकार भी दिए गए। इसमें दाखिलकारों के अधिकारों की अवहेलना की गयी। अवध की चीफ कमिश्नर ने बंगाल रैनट ऐक्ट की धाराएं अवध में लागू करने से मनाही कर दी। कुछ प्रदेशों में कृषकों को कुछ अधिक कर देने पर बाध्य किया गया क्योंकि उन्होंने 1857 के स्वतन्त्रता संग्राम में भाग लिया था।

नील विद्रोह (1859–60 ई0) – उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ही कम्पनी के कुछ अवकाश प्राप्त यूरोपीय अधिकारियों और कुछ नये धनीलोगों ने बंगाल और बिहार के जमींदारों से भूमि प्राप्त कर ली और विस्तृत रूप से नील की खेती करने लगे। ये लोग कृषकों पर बहुत अत्याचार करते थे तथा उन्हें ऐसी शर्तो पर नील उगाने पर बाध्य करते थे जो उनके लिए लाभदायक न थी। किसानों को वे मारते और पीटते भी थे और नजरबन्द भी कर देते थे। उनके दर्द की कहानी दीनबन्धु ने सन् 1860 में अपने नाटक 'नील–दर्पण' में विस्तार से लिखी। पादरी जेम्स लौंग ने भी एक पैम्फलेट लिखा जिसमें नील पैदा करने वाले किसानों की दुर्दशा का वर्णन किया।

इन अत्याचारों से तंग आकर कृषकों ने हड़ताल कर दी और नील बोने से इन्कार कर दिया। यह हड़ताल पबना, नदिया जिलो से शुरू होकर जैसोर, खुलना, राजशाही, ढाका, दीनाजपुर, मालदा इत्यादि प्रदेशों में फैल गयी। हरिश्चन्द्र मुखोपाध्याय, गिरीशचन्द्र बसु, दीनबंधु मित्र, सिसिर कमार घोष और कई विद्वानों ने किसानों की मांगों का समर्थन किया। अन्त में परेशान होकर सरकार ने नील आयोग (Indigo Commission) की नियुक्ति की। आयोग ने विस्तारपूर्वक किसानों की शिकायतें सुनीं और उनकी जांच की। आयोग इस नतीजे पर पहुंचा कि किसान लोग किसी भी शर्त पर नील उगाने के लिए तैयार न थे। सन् 1862 में सरकार ने कानून पास किया जिससे किसानों की शिकायत दूर कर दी गयी। बंगाल के नील उगाने वाले अंग्रेजों ने मात खायी और धीरे–धीरे वे लोग बिहार और उत्तर प्रदेश में चले गए। बिहार के नील उगाने वाले काश्तकारों ने दरभंगा और चम्पारन में 1866–68 में विद्रोह किया। जैसोर के किसानों ने भी 1883 और 1889–90 में विद्रोह किया।

पूर्वी बंगाल (1872–76 ई0) – बंगाल के बड़े–बड़े जमींदार अपने किसानों पर अत्याचार करते थे तथा उनसे अधिक से अधिक लगान वसूल करते थे और उनको तंग करते थे। वे कानून के खिलाफ उनकी पैदावार और मवेशियों को उठा ले जाते थे। ये स्थिति दिन–प्रतिदिन बिगड़ती गई। सन् 1872 और 1876 के दौरान किसानों ने आंदोलन चलाया कि वे कर नहीं देंगे। कई स्थानों पर जमींदारों और उनके दलालो पर हमले किए गए। अन्त में सरकार ने विद्रोह को दबाया परन्तु उसको ऐसे कानून पारित करने पड़े जिनसे किसानों की शिकायतें दूर की गयीं।

1875 का मराठा कृषकों का विद्रोह – कई परिस्थितियों के कारण मराठा कृषक अधिक से अधिक ऋण के नीचे दब गए। गुजराती और मारवाड़ी साहूकार बड़े लालची थे। वे अपने खातों में हेरा–फेरी करते थे। अनपढ़ किसान बिना जानकारी के अपने हस्ताक्षर दस्तावेजों पर कर देते थे। कचहरियां साधारणतया साहूकारों के पक्ष में फैसले देती थीं और कृषकों को बेदखल कर दिया जाता था।

यह झगड़ा करदेह ग्राम से जो कि सिरूर ताल्लुका में था, दिसम्बर 1874 में शुरू हुआ। कल्लुराम मारवाड़ी साहूकार ने बाबा साहिब देशमुख के विरोध में 150 रूपये के ऋण के लिए बेदखली का आज्ञापत्र प्राप्त कर लिया। जब साहूकार के लोगों ने देशमुख का घर गिरा दिया तो ग्राम के लोगों को क्रोध आ गया और विद्रोह का आरम्भ हो गया। पूना और अहमदाबाद के किसानों ने साहूकारों का बॉयकाट कर दिया तथा उनके मकान जला दिए। अपने ऊपर जुल्म करने वालों और जो सरकारी अधिकारी उनकी सहायता के लिए आए उन्हें मार डाला। विशेषकर मारवाड़ी साहूकार कृषकों के रोष के शिकार हुए। इन किसानों का मुख्य लक्ष्य यह था कि ऋणदाताओं के कब्जे में जो इकरारनामें, डिग्रियां आदि हों उन्हें नष्ट कर दिया जाए। जहां ये कागजात आसानी से हवाले कर दिए वहां भीड़ ने कोई हिंसक कार्यवाही नहीं की। लेकिन जहां साहूकारों ने ऐसा न किया वहां उन्हें भयभीत करने के लिए हिंसक कार्रवाही की गयी, जिससे वे कागजात दे दें।

पुलिस इस विद्रोह को दबा न सकी। सरकार ने सेना की सहायता से विद्रोह को बड़ी कठोरता से दबाया। महाराष्ट्र के विद्वानों ने किसानों की शिकायतों को जायज ठहराया। उनके अनुसार किसानों की बुरी दशा का कारण यह था कि सरकार का लगान बहुत ज्यादा था और सरकार थोड़े सूद पर कर्जे की सहूलियत नहीं देती थी। अन्त में सरकार ने Deccan Riots Commission की नियुक्ति की और विद्रोह का कारण ढूंढने को कहा। आयोग की सिफारिश के अनुसार सरकार ने दक्कन कृषक राहत अधिनियम (Deccan Agriculturists Relief Act) 1879 ई0 में पारित किया। उस कानून के अनुसार सरकार ने ऐसे रजिस्ट्रारों को नियुक्ति की जिनके सामने किसानों को पैसे लेने के समय हस्ताक्षर करने पड़ते थे। जो दस्तावेज रजिस्ट्रार के सामने नहीं लिखे जाते थे वे कानून के विरुद्ध समझे जाते थे। मराठा किसानों को कर्जा अदा न कर पाने की स्थिति में कैद नहीं किया जा सकता था

तथा मियाद की अवधि तीन से छः वर्ष की दी गयी।

मोपला कृषक विद्रोह – जमींदारों के अत्याचारों से तंग आकर मालावार के किसानों ने 1836 और 1856 के दौरान बाईस विद्रोह किए। 1873 और 1880 के दौरान उन्होंने फिर पांच बड़े विद्रोह किए।

असम में विद्रोह – 1893–94 के दौरान असम में किसानों ने विद्रोह किया। उन्होंने बढ़ाया हुआ लगान देने से इन्कार कर दिया। जिन अधिकारियों ने उनकी जमीनों पर कब्जा किया, उनका उन्होंने मुकाबला किया। सरकार ने बहुत से पुलिस और फौजी भेजकर विद्रोह को दबाया। इस विद्रोह में बहुत से किसान गोलियों से मारे गए।

पंजाब के किसान – उन्नीसवीं शताब्दी के सातवें दशक में खेतों के रेहन रखे जाने की संख्या बहुत बढ़ गई। आरम्भ में सरकार ने व्यापारियों और साहूकारों के हाथों में जमीन क जाने का स्वागत किया क्योंकि उनके पास कृषि को बढ़ावा देने के लिए उद्यम और पूंजी भी थी। परन्तु कानून की व्यवस्था गिरती गयी। पश्चिमी पंजाब के गांवों में अपराध और हिंसा बढ़ गई। सिख किसान कनाडा और संयुक्त राज्य अमरीका में चले गए। सरकार को यह भय पैदा हो गया कि यदि हालत और ज्यादा बिगड़ी तो सैनिक सेवा में भर्ती पर असर पड़ सकता हैं इसके अतिरिक्त कृषि में धन निवेश करने की दृष्टि से भी सरकार ने साहूकारों को विशेष उपयोगी न पाया क्योंकि अधिकतर साहूकार केवल लगान और भारी ब्याज पर कर्ज देकर ही संतुष्ट थे। विशेषकर पश्चिमी पंजाब में किसान (जमींदार और खेतिहर) मुसलमान थे और साहूकार प्रायः हिन्दू थे। इस क्षेत्र में कर्जदार और साहूकार के बीच के संघर्ष ने साम्प्रदायिक रंग ग्रहण कर लिया।

इसमें संदेह नहीं कि किसान साहूकारों के द्वारा लूटे जा रहे थे और उन्हें सरकारी संरक्षण की आवश्यकता थी परन्तु पंजाब मं अंग्रेजों की चिन्ता राजनीतिक से प्रेरित थी। इसका कारण यह था कि ब्रिटिश सेना के पचास प्रतिशत कर्मचारी पंजाब से भर्ती किए जाते थे। पंजाब के हिन्दू ब्रिटिश राज पर आक्षेप करने पर सबसे आगे थे। ब्रिटेन को अवसर मिल गया और 1900 में पंजाब भूमि संक्रामण अधिनियम (Punjab Land Alienation Act) पारित किया गया और जून 1901 में यह लागू भी हो गया। इस अधिनियम के तहत पंजाब के लोगों को कृषक और गैरकृषक जातियों और वर्गों में बांटा गया ताकि भूमि गैरकृषक वर्गों के हांथो में न जा सके। इस अधिनियम से निश्चय ही किसानों को लाभ हुआ परन्तु वह लाभ जमींदारों और बड़े किसानों के बीच में ही बंट गया।

इसके बावजूद पंजाब के कृषक संतुष्ट न हुए और उनका असन्तोष बढ़ता गया। उनका नेतृत्व सरदार भगत सिंह के चाचा सरदार अजीत सिंह ने संभाला। उन्होंने 1907 ई0 में इण्डियन पैट्रयाट्स ऐसोसिएशन की स्थापना की। उसका मुख्य कार्य किसानों की शिकायतों को दूर करवाना था। अजीत सिंह ने किसानों की अनेक

सभाओं को सम्बोधित किया।

पंजाब के किसानों में फैली हुई जागृति से सरकार डर गई। पंजाबी कृषकों का बढ़ता हुआ असन्तोष पंजाब रैजीमेंट के सैनिकों में भी फैल गया क्योंकि सैनिकों की भर्ती उन्हीं नवयुवक किसानों से होती थी। सरकार ने दमन–चक्र चलाया। लाला लाजपत राय और अजीत सिंह को बन्दी बना लिया गया। जन सभाओं पर प्रतिबन्ध लगा दिये गये। पंजाब से बाहर गए किसानों ने सैनफ्रांसिस्को में गदर पार्टी की स्थापना की जिसका उद्देश्य भारत से ब्रिटिश साम्राज्य को समाप्त करना और जनता का राज स्थापित करना था।

1920–21 ई0 में देश के अन्य भागों के साथ पंजाब में भी किसान आन्दोलन हुआ। वह आन्दोलन प्रमुख रूप से सिख किसानों का था।

दक्षिण भारत – उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान कृष्णा और गोदावरी डेल्टा में और साथ ही कर्नाटक और रायलसीमा में भी किसानों ने नई लगान–व्यवस्था के खिलाफ कई बार विद्रोह किया। उन्होंने अनाप–शनाप लगान–वसूली, साहूकारों के शोषण और सिंचाइ–साधनों की कमी के खिलाफ आवाज उठाई। दक्षिण भारतीय किसानों ने लक्ष्मी नरसू चेट्टी के नेतृत्व में ''मद्रास उत्पीड़न अधिनियम'' (Madras Tortures Act) के खिलाफ आन्दोलन चलाया और वे उसे रद्द या निरस्त कराने में सफल हुए। उड़ीसा, बिहार और मध्य भारत के क्षेत्रों में भी इसी प्रकार के आन्दोलन हुए।

चम्पारन का सत्याग्रह (1917) – चम्पारन (उत्तरी बिहार) के यूरोपीय नील–उत्पादक कृषकों का शोषण करते थे। उनको बहुत कम मजदूरी देते थे। उनको कई तरीको से अपमानित करते थे। तिनकाठिया प्रणाली के तहत कृषकों को अपनी भूमि के 3/20 भाग में जरूरी नील की काश्त करनी पड़ती थी और वह पैदावार अंग्रेजों को उनकी मनमानी कीमतों पर देनी पड़ती थी। किसान अपने अपमान और शोषण को सहने को तैयार न थे। महात्मा गाँधी ने उन्हें आन्दोलन चलाने की शिक्षा दी। यह आन्दोलन 1917 ई0 में प्रारम्भ हुआ। गांधी जी और डा0 राजेन्द्र प्रसाद ने इस आन्दोलन की बहुत सहायता की। कृषकों ने नील का उत्पादन बन्द कर दिया। सत्याग्रही कृषकों को बन्दी बना लिया गया और पुलिस ने उनकी पिटाई भी की परन्तु उन्होंने अत्याचारों का साहस से सामना किया। कृषकों को अपने आन्दोलन में सफलता मिली। एक जांच समिति नियुक्त की गई जिसमें सरकारी और गैर सरकारी सदस्य थे। उस जांच समिति की रिपोर्ट पर सरकार ने चम्पारन कृषि अधिनियम पारित किया। इस कानून द्वारा नील उत्पादकों द्वारा अत्यधिक मुनाफे पर रोक लगा दी गयी।

खेड़ा सत्याग्रह– मार्च 1919 ई0 में गांधी जी के नेतृत्व में खेड़ा सत्याग्रह शुरू हुआ। इसमें सरदार पटेल ने गांधी जी को बड़ा सहयोग दिया। यह आन्दोलन खेड़ा के कृषकों का बम्बई सरकार के विरूद्ध था। इस आन्दोलन का कारण यह था कि सूखे

के कारण फसलें नष्ट हो गईं। सरकार के नियमों के अनुसार यदि फसल 25 प्रतिशत कम हो तो किसानों की पूरी मालगुजारी की माफी की मांग कर रहे थे। गुजरात सभा ने माफी के लिए प्रार्थना भी की परन्तु सरकार न मानी। सरकार की हठधर्मी को देखकर महात्मा गांधी ने किसानों को सत्याग्रह करने के लिए कहा और उन्होंने लगान न देने की घोषणा कर दी। बहुत सत्याग्रही किसान जेलों में डाल दिये गये। उनके मवेशियों को नीलाम कर दिया गया। उनके मकान जब्त कर लिए गए। उन पर जुर्माने किये गए। उनकी खड़ी फसलों पर सरकार के अधिकारियों ने कब्जा कर लिया। जून 1919 तक यह आन्दोलन चलता रहा। अन्त में सरकार को कृषकों की मांग माननी पड़ी। जुडिथ ब्राउन का कहना है कि सरकार ने फिर भी लगभग 93 प्रतिशत लगान वसूल कर लिया।

मोपला विद्रोह – मालावार के मोपला मुसलमान थे और वे मुख्य रूप से खेतों या चाय तथा कॉफी के बागानों में मजदूरी करते थे। मालावार के बड़े–बड़े जमींदार तथा साहूकार अधिकतर हिन्दू थे। शासक वर्ग और जमींदारों के शोषित किसानों की मांग थी कि भूमि–व्यवस्था में सुधार किये जायें और लगान कम किये जायें। जमींदारों और साहूकारों ने उनका विरोध किया। कहते हैं कि एक हिन्दू जागीरदार के प्रबन्धक के कहने पर खिलाफत के मन्त्री के घर की तलाशी ली गई। हजारों मोपला किसान इकट्ठे हो गए। जब पुलिस मंत्री को पकड़ने के लिए मस्जिद में घुसी तो मोपलों ने विद्रोह शुरू कर दिया। उस इलाके में छः महीनें तक ब्रिटिश शासन न रहा। सारी हुकूमत मोपलों के हाथ में आ गई। आधुनिक हथियारों के न होने के कारण मोपले अधिक समय तक सेना का सामना न कर सके और विद्रोह कुचल दिया गया। लगभग तीन हजार मोपले मारे गए और हजारों जख्मी हुए। चूंकि इस विद्रोह ने साम्प्रदायिक रूप धारण कर लिया और हिन्दुओं पर बड़े अत्याचार किये गए, इसलिए इस आन्दोलन को शेष भारत का समर्थन न मिला। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का रवैया भी वैसा न था जैसा कि सिख किसानों के आन्दोलन के प्रति था। कांग्रेस ने आन्दोलनकारियों द्वारा उठाये गए हिंसक तरीकों के प्रति वेदना प्रकट की। कांग्रेस का कहना था कि आन्दोलन करने वालों ने न ही कांग्रेस और न ही खिलाफत के मूल उद्देश्यों को ठीक समझा जिनमें अहिंसक आन्दोलन चलाने की बात प्रमुख थी। फिर भी इस विद्रोह ने यह सिद्ध कर दिया कि किसान दमन और अत्याचार को सहन करने के लिए तैयार न थे और अपने हितों की रक्षा के लिए सशस्त्र–संग्राम से भी संकोच न करते थे।

उत्तर प्रदेश में कृषक आन्दोलन – उत्तर प्रदेश के जमींदार किसानों पर बड़े अत्याचार करते थे। साहूकार उनका शोषण करते थे। अधिकांश किसानों की स्थिति मजदूरी बहुत कम थी। अवध के किसानों की और भी बुरी अवस्था थी। 1920–21 के असहयोग आन्दोलन के दौरान कृषकों ने भी अपना आन्दोलन छेड़ने का निश्चय किया। पंडित जवाहर लाल नेहरू ने उस आन्दोलन को अपना समर्थन दिया।

फैजाबाद और रायबरेली जिलों के किसानों ने संघर्ष छेड़ दिया। उन्होंने ताल्लुकेदारों की व्यक्तिगत फसलों को नष्ट करना शुरू कर दिया। किसानों ने ताल्लुकेदारों और साहूकारों के घरों को लूटना शुरू दिया। पुलिस ने किसानों को बन्दी बना लिया और सेना की सहायता भी ली। सुलतानपुर में भी किसान आन्दोलन शुरू हो गया। इलाहाबाद में भी किसानों का विशाल प्रदर्शन हुआ। कांग्रेस के नेताओं की इलाहाबाद में उपस्थिति ने किसानों को नया उत्साह दिया। समाचार–पत्रों में किसान आन्दोलन का विस्तारपूर्वक विवरण छपा।

उत्तर प्रदेश में कांग्रेस के असहयोग–आन्दोलन की प्रमुख शक्ति किसान थे। पांच फरवरी 1922 ई0 को चौरी–चौरा (गोरखपुर जिला) में घटना घटी। हजारो व्यक्तियों ने जिनमें अधिकांश किसान थे, जुलूस निकाला। जुलूस को तितर–बितर करने के लिए पुलिस ने भीड़ पर गोली चलाई। गोलियां उस समय तक चलती रहीं जिस समय तक गोलियां समाप्त न हो गईं। तब भीड़ ने जवाबी हमला किया। पुलिस वाले भागकर थाने में घुस गये। भीड़ ने थाने को आग लगा दी जिसके कारण 21 पुलिस–कर्मचारी जल कर मर गए। हिंसा भड़कने के कारण गांधीजी ने असहयोग आन्दोलन बन्द कर दिया। लोगों को निराशा हुई और किसानों ने अपना अलग संगठन बना लिया जिसका नाम था ''राका''। उस संगठन ने कृषक आन्दोलन जारी रखा।

बारदोली सत्याग्रह (1929–30) – महात्मा गांधी के कहने पर सरदार पटेल ने बारदोली के किसानों के सत्याग्रह का आयोजन किया। किसानों ने सत्याग्रह इसलिए किया क्योंकि सरकार ने लगान बहत बढ़ा दिया था। सत्याग्रह के दौरान किसानों को बहुत सी यातनाएं सहनी पड़ी। उनकी फसलें नीलाम कर दी गईं, उनके मवेशियों को सरकार उठाकर ले गईं और उन्हें बेच डाला। ऐसा होते हुए भी किसान लोग सत्याग्रह में डटे रहे। अन्त में सरकार को उनकी मांगें माननी पड़ी। जब कांग्रेस ने अपनी सरकार 1937–39 में बनाई तो किसानों की जब्त की हुई जमीन भी वापिस कर दी गईं।

तेभागा आन्दोलन (1946 ई0) – तेभागा आन्दोलन उस समय आरम्भ हुआ जब कलकत्ता और नौआखली में साम्प्रदायिक दंगे हो रहे थे। यह आन्दोलन त्रिपुरा के हसनाबाद से प्रारम्भ हुआ। यह जगह नौआखली के समीप है। वहां के बटाईदार किसानों ने घोषणा की कि वे फसल का दो–तिहाई हिस्सा लेंगे और जमींदारों को केवल एक–तिहाई हिस्सा देंगे। फसल के विभाजन के कारण यह आन्दोलन तेभागा आन्दोलन कहलाता है। हसनाबाद से शुरू होकर यह आन्दोलन बंगाल के कई भागों में फैल गया। यह बड़ा व्यापक आन्दोलन था जिसमें लगभग पचास लाख किसानों ने भाग लिया। किसानों ने पुलिस और जमींदारों के गुण्डों का डट कर मुकाबला किया। पुलिस की गोलियों से कई किसान मारे गये। यह ठीक है कि आन्दोलन को सख्ती से दबा दिया गया परन्तु उस आन्दोलन ने किसानों में एक नई जागृति पैदा कर

दी। एक नया कानून बनाकर सरकार ने किसानों को कुछ और रियायतें दीं। यह आन्दोलन नवम्बर 1946 से मार्च 1947 ई0 तक चला।

तेलंगाना कृषक आन्दोलन – तेलंगाना क्षेत्र में पटेल और पटवारियों की सहायता से देशमुखों ने अच्छी जमीन के अधिक से अधिक भाग पर कब्जा करके उसे अधिक से अधिक लगान पर उठाना शुरू कर दिया। ज्यों–ज्यों समय बीतता गया। उन्होंने अपने प्रभाव क्षेत्र को बढ़ा लिया। उनकी शक्ति और हैसियत में भी काफी वृद्धि हो गयी और वे ग्रामीण समाज में कर्ताधर्ता बन गये। उन्होंने किसानों के खिलाफ कई प्रकार के झूठे आरोप लगाये, जैसे अवैध करों का न देना, बेगार न करना, ऋण अदा न करने या किसानों की भूमि पर जबरदस्ती कब्जा कर लिया। उन्होंने इस मात्रा में जबरदस्ती कब्जा किया कि 1940 ई0 तक उनके पास कुछ जिलों में तो 60–70 प्रतिशत भूमि पर कब्जा हो गया। कई बार एक–एक देश मुख के पास चालीस हजार से एक लाख अथवा डेढ़ लाख एकड़ तक भूमि हो गयी। किसानों और खेतिहरों ने जिनका भरपूर शोषण हो रहा था अपना आन्दोलन छेड़ दिया। धीरे–धीरे स्थानीय कम्युनिस्ट, मझोले किसान और कांग्रेस संगठन भी इस अभियान में शामिल हो गये। विद्रोह की चिंगारी किसानों के नेता कामरेड कमरय्या की हत्या से प्रारम्भ हुई और भयानक आग के रूप मं परिवर्तित हो गई। उनके शव को लेकर जब किसानों ने जुलूस निकाला तो पुलिस और रजाकारों ने निहत्थे किसानों पर आक्रमण कर दिया। किसानों ने ईंट–पत्थर से जवाब दिया। विद्रोह करके कई थानों पर अपना अधिकार कर लिया। उन क्षेत्रों में निजाम का प्रशासन समाप्त हो गया। जमींदारों को भगा दिया गया। भूमि को किसानों और खेतिहर मजदूरों में बांट दिया गया। जुलाई 1948 तब गुरिल्लाओं और कम्युनिस्टों के प्रभाव में लगभग पच्चीस हजार गांव आ चुके थे।

जब सितम्बर 1948 में भारत ने निजाम को हरा दिया तब उसको तेलंगाना के किसानों से निपटना पड़ा। तीन साल तक कार्रवाई चलती रही। उसमें लगभग चार हजार कम्युनिस्ट और उग्रवादी किसान मारे गये। दस हजार से भी अधिक कम्युनिस्टों को या तो जेलों में डाल दिया गया अथवा नजरबन्द कर दिया गया। बड़ी कठिनता से सरकार की सत्ता स्थापित की गई। विनोवा भावे ने भूदान और ग्राम दान आन्दोलन चलाया और किसानों को जमींदारों की कुछ जमीन दी गई। कहा जाता है कि जमीन पर जमींदारों का दमनात्मक प्रभाव और कृषक वर्ग तथा भूमिहीन मजदूर का शोषण ज्यों का त्यों चलता रहा।

बर्ली आन्दोलन – महाराष्ट्र में बर्ली किसानों ने 1947 ई0 में विद्रोह कर दिया। ये लोग बम्बई के समीप बसे आदिम जाति के किसान थे। वे जमींदारों, साहूकारों और जंगलों के ठेकेदारों से बहुत पीड़ित थे। किसान सभा के समर्थन से उन्होंने आन्दोलन शुरू किया। 1946 ई0 में किसान सभा ने खेतिहर मजदूरों की हड़ताल कराई। लगभग सभी बर्ली लोग साहूकारों के बंधुआ मजदूर थे। उन्होंने साहूकारों के

लिये बेगार करने से इन्कार कर दिया। उन्होंने घोषणा की कि यदि उन्हें पर्याप्त मजदूरी नहीं दी जायेगी तो न वे खेत जोतेंगे और न लकड़ी काटेगे। उन्होंने मांग की कि उनके कर्ज रद्द कर दिये जायें और उन्हें बन्धन मुक्त कर दिया जाये। पुलिस और साहूकारों ने उन पर बहुत अत्याचार किये परन्तु बर्ली डटे रहे। अन्त में साहूकारों को उनकी मांगें माननी पड़ी। उनके कर्जे रद्द कर दिये गये और उन्हें बन्धन मुक्त कर दिया गया। साहूकारों ने बर्ली लोगों को मजदूरी देना स्वीकार किया।

किसान सभाएं – किसानों के आन्दोलनों, सत्याग्रहों और विद्रोहों ने उनको अपना संगठन और अपने नेता दिए। बहुत से किसान कांग्रेस की किसान–नीति से संतुष्ट न थे। महात्मा गांधी और उनके अनुयायी कांग्रेसी नेता वर्ग–संघर्ष के पक्ष में नहीं थे। वे जमींदारों और किसानों में परस्पर मिलाप और प्रेम चाहते थे। इसके विपरीत वामपंथी दलों ने वर्ग–जागरण पैदा किया। इसका यह फल हुआ कि किसानों ने अपनी पृथक किसान सभाएं बनाईं। सबसे पहले बंगाल, पंजाब और उत्तर प्रदेश में किसान सभाएं बनाई गईं। 1928 में आंध्र प्रान्तीय रेयत सभा बनाई गई। 1931 में बंगाल पैजेन्ट्स लीग की स्थापना हुई। लेकिन धीरे–धीरे किसानों की एक अखिल भारतीय सभा की आवश्यकता अनुभव की गई। उसके लिए अक्टूबर 1935 में प्रोफेसर एन0जी0 रंगा और अन्य नेताओं ने कार्य करना शुरू किया। प्रथम अखिल भारतीय किसान सभा का गठन 11 अप्रैल, 1936 को लखनऊ में हुआ। किसानों का एक अखिल भारतीय सम्मेलन बुलाया गया और एक अखिल भारतीय काउंसिल का चुनाव किया गया। काउंसिल का अधिवेशन प0जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में हुआ।

किसान सभाओं का उद्देश्य किसानों की आर्थिक रक्षा करना था उन्होंने ऋणों पर विलम्ब काल मांगा। कम लाभदायक जोतों पर भूमिकर का हटाना मांगा, भूमिकर का कम करना मांगा। इस बात की मांग की गई कि साहूकारों को लाइसेंस लेने पर बाध्य किया जाए। कृषि मजदूरों का कम से कम वेतन सरकार द्वारा निश्चित किया जाये। गन्ने और अन्य व्यापारिक फसलों के लिए उचित दर निश्चित किये जायें। सिंचाई के साधन बढ़ाए जायें। जमींदारी व्यवस्था की समाप्ति की जाए। भूमि जोतने वाले को मिले न कि जमींदार को।

इस प्रकार इन किसान सभाओं के गठन से भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस पर भी दबाव बढ़ गया। कांग्रेस ने अपने कराची और फैजपुर अधिवेशनों के अपने कृषक कार्यक्रम में अधिक परिवर्तनशील मांगे प्रस्तुत की जिनमें किसानों की उपरिलिखित मांगों को भी शामिल किया गया।

1.3.1 बोध प्रश्न–2

प्र0–1 ब्रिटिश काल में किसानों की दशा पर टिप्पणी लिखिए।

1.4 सारांश

पूरे राष्ट्रीय आन्दोलन के समय किसान वर्ग व मजदूर वर्ग अपनी–अपनी समस्याओं के लिए सत्ता के साथ बराबर संघर्ष करते रहे और आन्दोलन चलते रहे। उनके इन आन्दोलन में उनका साथ समय–समय पर विभिन्न वामपंथी दलों जैसे कांग्रेस साम्यवादी और समाजवादी ने बड़ी बखूबी से निभाया।

1.5 शब्दावली

वामपंथ : राजनीति में वह पक्ष या विचारधारा जो समाज को बदलकर उसके अधिक आर्थिक बराबरी लाना चाहते है। इसका प्रारंभ फ्रांसीसी क्रान्ति से दिखाई पड़ता है।

पूंजीवाद : वह आर्थिक प्रणाली या तंत्र जिसमें उत्पादन के सभी साधनों पर निजी स्वामित्व हो।

1.6 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न–1

(a) गलत (b) सही (c) सही (d) गलत

इकाई–4
स्त्रियों की भागीदारी

इकाई की रूपरेखा :

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 औपनिवेशिक काल में भारतीय स्त्रियों की स्थिति

1.2.1 स्वतंत्रता आन्दोलन में स्त्रियों की भागीदारी

1.2.2 राजनीति में स्त्रियों की भूमिका

1.3 सारांश

1.4 बोध प्रश्न

1.5 शब्दावली

1.6 बोध प्रश्नों के उत्तर

1.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई 'स्त्रियों की भागीदारी में हम भारतीय स्त्रियों की भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में क्या भूमिका रही, इस बिन्दु पर चर्चा करेंगे।

1.1 प्रस्तावना

भारत में सामाजिक, धार्मिक सुधार आन्दोलन, ईसाई मिशनरियों द्वारा शिक्षा के प्रचार–प्रसार एवं ब्रिटिश उदारवादी शिक्षा नीति के कारण महिलाओं में एक नई तरह की ऊर्जा आयी। भारत की सचेत नारी अब जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सक्रिय भूमिका निभाने लगी। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम अनेक महापुरूषों वीरों की गाथाओं से भरा पड़ा है। वही भारतीय महिलायें भी पर्दा व सामाजिक रूढ़ियों को तोड़कर अपनी स्वाधीनता व देश की स्वतंत्रता के लिए आगे बढ़ी। उन्होंने अदम्य साहस और शौर्य का परिचय दिया तथा स्वाधीनता संघर्ष के लिए किये जा रहे क्रान्तिकारी कार्यक्रमों में भागीदारी की तथा समय–समय पर होने वाले आन्दोलनों में भी भाग लिया। अंग्रेजों के विरुद्ध पुरुषों के कन्धे से कन्धा मिलाकर देश की बेटियों ने अपना कर्तव्य निभाया। राष्ट्रीय आन्दोलन में इन महिलाओं ने सक्रिय भूमिका निभाई। वे घर की चार दीवारी से बाहर निकली और अपनी अपूर्व राष्ट्रीय भावना का परिचय दिया। कई ने तो देश की आजादी के लिए हथियार भी उठाये तथा जब देश आजाद हुआ तो नये भारत के निर्माण में भी उन्होंने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। जैसे सुचेता कृपलानी पहली महिला मुख्यमंत्री बनी। विजय लक्ष्मी पण्डित ने संयुक्त राष्ट्र संघ में भारत का

नेतृत्व किया। इस प्रकार भारत की सचेत नारी ने राष्ट्रीय आन्दोलन में महत्वपूर्ण निभाई।

1.2 औपनिवेशिक काल में भारतीय स्त्रियों की स्थिति

स्त्रियों की स्थिति उन्नीसवीं सदी के आधुनिकता–समर्थक भारतीय बुद्धिजीवियों के सुधार के एजेंडे का प्रमुख बिन्दु बन गया। पश्चिम की निंदामूलक समालोचना के जवाब में उन्होंने एक स्वर्णिम अतीत की कल्पना की, जिसमें स्त्रियों को आदर और सम्मान दिया जाता था। उन्होंने उन प्रथाओं में ब्रिटिश सरकार से सुधार का आग्रह किया, जिनको वे विकृतियाँ या भटकाव मानते थे। इस तरह कन्या शिशु की हत्या पर प्रतिबंध लगाया गया, सती का उन्मूलन किया गया और विधाओं के पुनर्विवाह को कानूनी बनाया गया। इन सभी मिसालों में शास्त्रों के हवाले देकर सुधारों को वैध तो ठहराया गया लेकिन इन सुधार आंदोलनों में स्त्रियों को कभी शामिल नहीं किया गया। ये बुद्धिजीवी स्त्रियों को अपने आधुनिकीकरण के कार्यक्रम का विषय तो अवश्य समझते थे और पर अपने बराबर की चेतना–संपन्न प्राणी नहीं समझते थे, जो अपनी खुद की मुक्ति के साधन बन सके। इस सुधारवाद पर उस वक्त हिंदुओं की उग्र प्रतिक्रिया सामने आई, जब 1891 में विवाह–आयु संबंधी विधेयक (एज ऑफ कंसेंट बिल) ने लड़कियों के लिए विवाह परिणिति (consummation) की आयु को 10 से बढ़ाकर 12 साल करने की कोशिश की। पत्नी पर उसके पति के दांपत्य–अधिकारों पर सीमा लगाने का प्रयास करके इस प्रस्तावित सुधार ने उस क्षेत्र का अतिक्रमण किया, जिसे अभी एक ''देशी पुरुषत्व'' के लिए अकेला शेष बचा स्वायत क्षेत्र माना जा रहा था। इसलिए बालिका वधू हिंदू गरिमा का प्रतीक बन गई थी तथा उस पर नियंत्रण रखना देशी पुरुष का ऐसा विशेषाधिकार था, जिससे छेड–छाड़ की इजाजत एक विजातीय (विदेशी) राजसत्ता को नहीं दी जा सकती थी। उन्नीसवीं सदी का समापन आधुनिकीकरण की इस योजना की जगह स्त्रियों के संसार पर पुरूषों के नियंत्रण के बारे में एक हिंदू रूढ़िवादी ऐलान के साथ हुआ। यह दावा अब राष्ट्रवाद के एजेंडे का एक बुनियादी अंग बनाया गया। वास्तव में प्राचीन भारत में स्त्रियों की स्थिति कभी भी जड़ या एकरस नहीं रही। रोमिला थापर के शब्दों में, ''पर्याप्त अधिकार और स्वतंत्रता की स्थिति से लेकर उतनी ही अधिक अधीनता की स्थिति'' तक उसमें व्यापक परिर्वतन आते रहे।'' हिंदू समाज में जाति–सोपान नाम का केंद्रीय संगठनकारी सिद्धांत पुरूष प्रधानता की विचारधारा से अभिन्न रूप से जुड़ गया। शूद्रों और स्त्रियों, दोनों को वैदिक अनुष्ठानों से वंचित कर दिया गया। सार्वजनिक जीवन जब पुरूषों का कर्मक्षेत्र बन गया, तो स्त्रियाँ घरों तक सीमित होकर रह गईं। वहीं दूसरी ओर प्राचीन हिंदू विधिनिर्माता मनु ने स्त्रियों के लिए स्थायी निर्भरता की स्थिति का विधान किया कि वह जीवन के विभिन्न चरणों में अपने पिता, पति और पुत्र से संरक्षण पाती है अठारहवीं सदी का एक ग्रंथ यह संकेत देता है कि स्त्रियों को अच्छी पत्नियाँ बनने

के लिए, अपने पतियों की सेवा अपने सबसे बड़े देवता के रूप में करने के लिए तैयार किया जाता है और उनसे संतान उत्पन्न करने की अपेक्षा की जाती है। अगर वे विधवा हो जाएँ, तो उनको चाहिए कि शेष जीवन अपने मृत पति की यादों के सहारे कठोर अनुशासन और सादगी के साथ गुजार दें। लेकिन अगर यह जीवन का एक सच था, तो दूसरी ओर यह बात भी सच थी कि स्त्रियों का अलगाव कोई निरपवाद, सार्वभौम प्रथा न था, क्योंकि अठारहवीं सदी में कुछ क्षेत्रों में धनी और निर्धन दोनों वर्गों की स्त्रियों की अत्यधिक सार्वजनिक सक्रियता के प्रमाण भी मिलते हैं। पर्दानशीन स्त्रीत्व का आदर्श केवल उन्नीसवीं सदी में ही सार्वभौमिक बना।

स्त्रियों पर ऐसे ही प्रतिबंध मुस्लिम समाज ने भी लगाए। उन्नीसवीं सदी में भारतीय मुसलमानों में दो सुधार आंदोलन चले। एक तो इस्लामी पुनरुत्थानवाद का आंदोलन था, जिसका नेतृत्व उलमा कर रहे थे और दूसरा था एक आधुनिकीकरण का अभियान, जिसका नेतृत्व शिक्षित मध्यमवर्ग कर रहा था।

हिंदू और मुस्लिम दोनों धर्मों की स्त्रियों के लिए पर्दे के इस रूपक का अर्थ केवल बुरके या जनानखाना की दीवारों के पीछे का भौतिक अलगाव ही नहीं था। उन्नीसवीं सदी तक हिंदू और मुस्लिम स्त्री, दोनों के लिए तथा कुलीन और साधारण जन दोनों के लिए पर्दे का आदर्श सार्वभौम बन चुका था, हालाँकि विभिन्न समूहों के लिए उसके व्यावहारिक निहितार्थ अलग–अलग थे।

उन्नीसवीं सदी में जब स्त्री–प्रश्न प्रगति और आधुनिकता–विषयक संवादों का अंग बन गया, स्त्री–शिक्षा का एक आंदोलन शुरू हुआ। कलकत्ता में पहल राधाकांत देव जैसे व्यक्तियों और स्कूल बुक सोसायटी ने और आगे चलकर केशवचंद्र सेन और ब्रह्मसमाज ने, पश्चिम भारत में महादेव गोविंद रानाडे और प्रार्थना समाज ने उत्तर भारत में स्वामी दयानंद और आर्यसमाज ने तथा मद्रास में एनी बेसेंट और थियोसोफिकल सोसायटी ने की। रहा सवाल शिक्षित भारतीय स्त्रियों का, तो हम पश्चिम भारत में पंडिता रमाबाई, मद्रास में सिस्टर सुब्बालक्ष्मी तथा बंगाल की मुस्लिम स्त्रियों में बेगम रुकैया सखावत हुसैन के प्रयासों का जिक्र कर सकते हैं। देश के दूसरे भागों में मुस्लिम स्त्रियों की शिक्षा के लिए हैदराबाद के बिलग्रामी या बंबई के तैयबजी परिवार ने, लाहौर के मियाँ परिवार ने, अंजुमने–हिमायते–इस्लाम और अंजुमने–इस्लाम जैसे संगठनों ने या हैदराबाद में निजाम की सरकार ने महत्त्वपूर्ण पहल कीं। लार्ड डलहौजी के प्रशासन के बाद उपनिवेशी सरकार ने स्त्री–शिक्षा में खास दिलचस्पी ली। 1849 में बेथ्यून ने कलकत्ता में एक बालिका विद्यालय स्थापित किया। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में जब आधुनिक राष्ट्रवाद का उदय हुआ तो इसने भी स्त्रियों का प्रश्न घरेलूपन की इन्हीं संकुचित सीमाओं के अंदर उठाया। सुधारवाद की जगह जब राष्ट्र की विभिन्न मूर्ति समान प्रस्तुतियों ने ली, तो हिंदू स्त्री उस नैतिक व्यवस्था की आदर्श मूर्ति बन गई, जो भारत की आत्मा की प्रतीक थी और माना जाने लगा कि वह पश्चिम के प्रदूषक प्रभाव से मुक्त थी।

1.2.1 स्वतंत्रता आन्दोलन में स्त्रियों की भागीदारी

बीसवीं सदी के आरंभिक वर्षों के राष्ट्रवादी संवाद में अगर स्त्रियों के मुद्दे नहीं उठे, तो कारण यही था कि मुक्ति के दूसरे सभी रूपों को राष्ट्रीय मुक्ति पर आधारित समझा जाता था। कांग्रेस ने भी स्त्री–प्रश्न को 1917 तक सीधे–सीधे नहीं उठाया– वैसे ही जैसे उसने छुआछूत के मुद्दे को नहीं छुआ–क्योंकि उसे अपने पर भरोसा नहीं था और वह एक नवजात राष्ट्र की नाजुक दशा के बारे में अति–संवेदनशील थी। लेकिन जब बंगाल में उसे गरमपंथ की शक्ति मिली, तो राष्ट्रवादियों ने वहाँ पहले से महत्त्व पा चुकी ''मातृत्व'' की धारणा को देशी संस्कृति की विशिष्टता के एक शक्तिदायी और प्रमाणिक प्रतीक के रूप में अपना लिया। आनंदमठ, उपन्यास में बंकिमचन्द्र चटर्जी ने देवी माँ की तीन छवियाँ प्रस्तुत की है। ''माँ जो वह थी'', ''माँ जो वह है'' और माँ जो वह बनेगी।'' ये तीन छवियाँ इस देवी के राष्ट्रवादी भक्तों की कल्पना और उनकी समर्पण–भावना को पंख लगाने के लिए पर्याप्त थीं और इन्होंने भारतीय राष्ट्रवादी संवाद में देवी–माँ के रूप को हमेशा के लिए अंकित कर दिया। इस गीत को सबसे पहले रवींद्रनाथ ठाकुर ने 1896 में कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में गाया था। कुछ साल बाद, स्वदेशी आंदोलन के दौरान बंगाल के गरमपंथी नेता अरविंद घोष ने इसकी शक्ति का एहसास किया, जो देशप्रेम और राष्ट्रीय जागरण का जन्मदाता बन सकता था। उसके बाद तो विपिनचंद्र पाल से लेकर जवाहर लाल नेहरू तक लगभग हर राष्ट्रवादी नेता ने देश और राष्ट्र के लिए मातृत्व के इस रूपक का प्रयोग किया।

भारतीय महिलाएं पहले भी 1905 में बंग विभाजन के विरोध में सफल आन्दोलन चला चुकी थी। सभाएं करके उन्होंने बंगाल की एकता की शपथ ली थी। रक्षा–बन्धन मनाया और हिन्दू मुस्लिम एकता की जबरदस्त मिसाल प्रस्तुत की। प्रभातफेरी निकाल कर वे एकजुटता और शक्ति का प्रदर्शन बंगाल में कर चुकीं थीं। अंग्रेजी सरकार को 1911 में बंग विभाजन वापस लेना पड़ा था।

1914 में गाँधी जी के कहने से भारतीय महिलाओं ने अपनी कीमती वस्तुएं, नगद व गहने युद्ध फण्ड में दे दिये थे। इस प्रथम महायुद्ध में बहुत सी भारतीय महिलाओं ने पिता, पति और पुत्र खोया था। 1919 में भारतीयों को सुविधा देने की जगह अंग्रेज उनका दमन रौलट बिल और जलियावाला बाग जैसी घटनाओं में कर रहे थे। उन्होंने मार्शल लॉ लगाया और देशभक्तों पर लाठी–गोली बरसाई।

1920 में जब गाँधी जी ने महिलाओं को पुकारा, तब शिक्षित अशिक्षित सब उनके आन्दोलन में शामिल हुई। बहुत सी महिलाएं ऐसी थीं जो पहली बार घर से बाहर निकल कर एक बड़े संसार में प्रवेश कर रहीं थीं। वे घबराईं या डरीं नही वरन साहस के साथ देश सेविकाओं के जत्थे में शामिल होकर कर्तव्य करती रहीं। राष्ट्रीय संघर्ष के लिए उन्होंने धन एकत्र किया ओर अपने आभूषण दान कर दिए। विदेशी

वस्त्रों की होली जलाई, जुलूस निकाले, नारे लगाए तथा लाठियां और गोलियां भी खायीं। बारदोली के 'नो टैक्स' आन्दोलन में भी बहुत सी महिलाओं ने भाग लिया। असहयोग आन्दोलन में वे अग्रणी थी। स्वदेशी का प्रचार स्वयं घर–घर चरखा चला कर किया। घायलों की सेवा चिकित्सा की और अहिंसक बनी रहीं। 1930 में उन्होंने डांडी मार्च में भाग लिया तथा नमक बनाया और बेचा। विदेशी माल और शराब की दुकानों पर धरना दिया। सड़कों पर लेट कर किसी को विदेशी सामान खरीदने नहीं दिया और जेल भेजी गयी। उन्होंने मार सहन की। उन्हें बाल पकड़कर घसीटा गया और उनके दुधमुंहे बच्चों को छीनकर पटक दिया गया। हर पीड़ा और कष्ट को वे खामोश सहती रहीं। उनकी सम्पत्ति जब्त कर ली गयी। उन्हें भद्दी गालियां दी जाती थी और अपमानित किया जाता था। इन सभी बातों का प्रमाण राष्ट्रीय अभिलेखागार एवं प्रान्तीय अभिलेखागारों में लिखित रूप में मौजूद है जिनसे नारी के त्याग और बलिदान की सत्य कथा साकार हो उठती है। अंग्रेजी अखबारों में उनकी प्रशंसा छपती थी। विदेशों में उनकी वीरता की खबरें जाती थीं। ब्रिटिश गुप्तचर संस्था हताश थी। वे हर कष्ट सह कर भी क्रान्तिकारियों का पता व स्थान नहीं बताती थी। कुछ गुप्त पर्चे छापती थी और इनका वितरण विभिन्न नगरों और ग्रामों में करती थी। भारतीय देशी भाषाओं और हिन्दी पत्र–पत्रिकाएँ गौरव से उनकी वीरता के समचार छापते थे। इन महिलाओं ने स्वराज्य, स्वदेशी और शिक्षा के कार्यक्रम में प्रमुख रूप से योगदान दिया। ''समग्र जनाना ही राष्ट्रीय संघर्ष में शामिल था। महिलाएं जुलूस का नेतृत्व करती थीं, सभाएं संचालित करती थीं, राष्ट्रीय गीत गाती थी, चरखा कातती थी, और राजनैतिक चेतना का प्रचार प्रसार करती थीं। मार्च पास्ट कर वे भारतीय राष्ट्रीय झण्डे को सलामी देती थीं। वे हड़तालों को सफलता से आयोजित करती थीं। कुछ महिलाएं 'खादी' बेच कर राष्ट्रीय कोष में धन जमा करती थीं।

स्वदेशी आंदोलन स्त्रियों की जो भी भागीदारी रही, वह वास्तव में इसी सुस्वीकृत लैंगिक विचारधारा के दायरे में रही, जो घर को स्त्रियों के कार्यकलाप के वैध क्षेत्र के रूप में पेश करती थी। उन्होंने ब्रिटिश मालों का बहिष्कार किया और स्वदेशी का उपयोग किया, अपनी काँच की चूड़ियाँ तोड़ीं और प्रतिरोध के अनुष्ठान के रूप में रसोईबंदी दिवस मनाए। सबसे दिलचस्प बात यह है कि उन दिनों बंगाल में स्त्रियों का समर्थन पाने के लिए जिस सबसे शक्तिशाली बिंब का उपयोग किया गया वह धन–दौलत की देवी लक्ष्मी का बिंब था, जिसमें कहा गया कि बंगाल–विभाजन के कारण अपना घर छोड़ दिया और जिसे वापस लाने, सुरक्षा देने और देखभाल करने की जरूरत है। निश्चित ही कुछ उल्लेखनीय अपवाद भी थे, जैसे सरला देवी चौधरानी थीं, जिन्होंने क्रांतिकारी आंदोलन में भाग लिया। लेकिन इस बाद वाली स्थिति में उनकी भूमिका मुख्यतः सहायक की या ''अप्रत्यक्ष'' प्रकृति वाली थी, जैसे फरार क्रांतिकारियों को पनाह देना या संदेश व हथियार लाने, ले जाने के काम करना। इस तरह उनकी भागीदारी की प्रकृति ने स्त्रियोचित व्यवहार

के सुस्वीकृत मानदंडों को नहीं तोड़ा न उनके शक्तिमान बनने का संकेत दिया।

पहले विश्वयुद्ध के बाद के काल में भारतीय राजनीति में दो यशस्वी स्त्रियों का उदय हुआ जिन्हें पहली थियोसोफिकल सोसायटी की अध्यक्षा और होमरूल लीग की संस्थापिका एनी बेंसेंट को 1917 में कांग्रेस की अध्यक्षा चुना गया। उसी साल इंग्लैण्ड में पढ़ी कवयित्री सरोजिनी नायडू, जो 1906 से ही कांग्रेस के अधिवेशनों में देशप्रेम भरे भाषण देती आ रही थीं, स्त्रियों के लिए मताधिकार की माँग करने के लिए लंदन में भारत सचिव मांटेग्यू के पास एक प्रतिनिधिमंडल लेकर गईं। अगले साल उन्होंने कांग्रेस के अधिवेशन में, स्त्री–पुरूष दोनों के लिए मताधिकार की समान पात्रता की माँग करते हुए एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया। 1925 में उनको भी कांग्रेस की अध्यक्षा चुना गया। लेकिन ''प्रेरणादायी चरित्र'' होने के बावजूद ये दोनों महिलाएँ न तो स्त्री–मुक्ति की एक विचारधारा विकसित कर सकीं और न ही राष्ट्रवादी राजनीति में उनको कोई स्थान दिला सकीं।

1942 की क्रान्ति में महिलाएं ही नेतृत्व कर रही थीं। 3 अगस्त 1942 को क्रान्ति आरम्भ हुई। छोटे नेता एवं शीर्षस्थ महिला नेत्रियों को भी जेल में डाल दिया गया। कुछ समय के लिए ऐसा लगा कि आन्दोलन इतने निर्णायक दौर में पहुंच कर बन्द न हो जाए। अरुणा आसफ अली, सुचेता कृपलानी और ऊषा मेहता अज्ञातवास में चली गई और वहीं से 1942 की क्रान्ति की गतिविधियों का संचालन करती रहीं। सड़कों और गलियों में उतर पड़ी थी सामान्य महिलाएं, जो भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अथवा सैन्यवादी संगठनों से जुड़ी थीं अथवा किसी संगठन की सदस्य भी नहीं थी। वे छात्राएँ थी और घर में रहने वाली महिलाएँ जो देशभक्ति से प्रेरित हो कर सड़कों पर निकल पड़ी थीं। महिलाओं ने राजनैतिक बन्दियों की सहायता के लिए धन एकत्र किया। उन्होंने स्वयं सेविकाओं के लिए प्रशिक्षण कैम्प स्थापित किये। पुलिस के अत्याचारों से पीड़ित लोगों का वे उपचार भी करती थी। उन्होंने इसके लिए 'प्राथमिक चिकित्सा' का प्रशिक्षण भी लिया। प्रातः भोर के समय वे लाठी और तलवार चलाने का प्रशिक्षण लेती थीं।

1942 की क्रान्ति की घटनाओं में महिलाओं ने पूरी शक्ति से भागीदारी की। सभी आश्चर्यचकित थे, यहाँ तक कि पुलिस भी जो उन्हें बाल पकड़कर खींचती थी और उन पर डण्डे बरसाती थी। जब महिलाएँ साक्षात दुर्गा के रूप में घर के बाहर निकल आई, तब अंग्रेज सरकार भयभीत हो गयी। इतनी जेलें भी नहीं थीं जहां उन्हें कैद किया जाता। जुलूसों में महिलाओं को पीटा जाता और वे गिर पड़ती तब तिरंगा झण्डा वे दूसरी महिला को थमा देती थीं। वे देशगीत और वन्देमातरम का गायन करती हुई बाहर आती थी। सरोजनी नायडू, कमलादेवी चट्टोपाध्याय, राजकुमारी अमृत कौर तथा स्वरूप रानी जैसी महिलाएं तो अग्रिम पंक्ति में होती थी। पर 1942 में साधारण महिलाएं अग्रिम पंक्ति में चलीं। यह सभी स्वदेशी और स्वशासन के पक्ष में थीं। लाला लाजपत राय की पत्नी राधादेवी भी इस क्रान्ति में नेतृत्व कर रही थी।

सरला देवी चौधरानी सबसे सशक्त नेत्री थीं जिन्होंने अनेक महिला समितियों की स्थापना की। उन्होंने सविनय अवज्ञा आन्दोलन में भी सक्रिय भाग लिया था। विजय लक्ष्मी पंडित के साथ मुकुन्द मालवीय, लक्ष्मी मेनन, उमा नेहरू, रामेश्वरी नेहरू, चन्द्रावती लखनपाल इत्यादि ने भी भाग लिया।

1.2.2 राजनीति में स्त्रियों की भूमिका

इस तरह राष्ट्रीय आंदोलन में स्त्रियों की भागीदारी की इस कथा में एक बड़ा मोड़ हम गांधी के आगमन के बाद ही देखते हैं। आदर्श भारतीय नारी की धारणा पेश करते हुए गांधी ने भी स्त्रियों की मातृत्व की बजाय बहनापे को ध्यान का केंद्र बनाया। स्त्रियाँ जो स्वार्थहीन बलिदान दे सकती थीं, उसकी शक्ति का अनुभव उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में ही कर लिया था और उसे राष्ट्र की सेवा में लगाने का फैसला किया था। सीता, दमयंती और द्रौपदी उनकी राय में भारतीय स्त्रियों के लिए आदर्श पात्र थीं। भारतीय पुराण ग्रंथों से लिए जाने के बावजूद इन प्रतीकों की पुनर्रचना करके उनको नए अर्थ दिए गय। इन स्त्रियों को अपने पतियों की दासियाँ न बताकर अत्यंत पुण्यात्माएँ और अपने परिवार, राज्य और समाज के लिए सर्वोच्च बलिदान दे सकने में समर्थ कहा गया। सीता का उदाहरण, विशेष रूप से क्योंकि तब अंग्रेजों को आसानी के साथ असुर राज रावण का पर्याय बतलाया जा सकता था। लेकिन मुस्लिम स्त्रियों को संबोधित करते हुए गांधी सावधानी के साथ रामायण के ऐसे हवाले देने से बचते रहते थे और उनसे सिर्फ अपने देश और इस्लाम के लिए बलिदान देने का आग्रह करते थे। उन्होंने उस चीज को स्वीकार किया, जिसे वे स्त्री–पुरूष के बीच ''स्वाभाविक श्रम–विभाजन'' कहते थे और समझते थे कि घर–बार देखना स्त्रियों का कर्तव्य है। लेकिन वे अपने लिए निर्दिष्ट क्षेत्रों से भी कताई करके, विदेशी कपड़ों और शराब की दुकानों पर धरने देकर और पुरूषों को शर्म दिलाकर कर्म के लिए तैयार करके राष्ट्र की सेवा कर सकती थी। उनकी नजर में स्त्री और पुरूष बराबर थे, पर उनकी भूमिकाएँ अलग–अलग थीं।

गांधी ने स्त्रियों को दक्षिण अफ्रीका में पहले–पहल 1913 में सार्वजनिक प्रदर्शनों में उतारा था और भारतीय स्त्रीत्व की भारी राजनीति क्षमता का एहसास किया था। भारत–वापसी के बाद 1919 के रौलट सत्याग्रह में उन्होंने औरतों को राष्ट्रीय अभियान में भाग लेने के लिए कहा लेकिन इस दिशा में कोई सार्थक पहल हो इससे पहले ही इस आन्दोलन को वापस ले लिया गया। 1921 में जब असहयोग आंदोलन शुरू हुआ तो गांधी ने स्त्रियों के लिए शुरू–शुरू में एक सीमित भूमिका बताई, अर्थात् बहिष्कार और स्वदेशी के अभियान में लेकिन इस क्षेत्र में स्त्रियों ने अपने लिए भी सक्रिय भूमिका का दावा किया। नवम्बर 1921 में एक हजार स्त्रियों के प्रदर्शन ने बंबई में प्रिंस ऑफवेल्स का स्वागत किया। फिर बंगाल के कांग्रेसी नेता चितरंजन दास की पत्नी बसंती देवी, उनकी बहन उर्मिला देवी और भतीजी सुनीति

देवी ने दिसंबर में कलकत्ता की सड़कों पर खुले–आम प्रदर्शन में भाग लेकर और गिरफ्तारी देकर देश को स्तब्ध कर दिया। गांधी को उनकी शारीरिक सुरक्षा और मर्यादा की चिंता थी, पर उन्होंने इस कदम का अनुमोदन किया, क्योंकि इसका एक असीमित प्रदर्शन–प्रभाव था। देश के दूसरे भागों में भी ऐसे ही प्रदर्शन हुए और उनमें सिर्फ सम्मानित मध्यवर्गीय परिवारों की स्त्रियों ने ही भाग लिया। देखने में लगता था कि गांधी की गुहार अब हाशिये पर पड़ी स्त्रियों तक, मसलन वेश्याओं और देवदासियों तक, भी पहुँच रही थी, हालाँकि खुद गांधी उनको शामिल करने के प्रति बहुत उत्सुक नहीं थे। इसके दरवाजे वास्तव में सविनय अवज्ञा आंदोलन के दौरान ही खुले। तब भी गांधी दांडी मार्च के लिए स्वयंसेवकों के मूल दल में स्त्रियों को शामिल करना नहीं चाहते थे। लेकिन रास्ते में उन्होंने जिन सभाओं को संबोधित किया, उनमें हजारों स्त्रियाँ शामिल हुईं और आंदोलन ने जब सचमुच जोर पकड़ा तो दूसरी हजारों स्त्रियों ने भी नमक के गैर–कानूनी उत्पादन में विदेशी कपड़ों और शराब की दुकानों पर धरनों में और जुलूसों में भाग लिया। जहाँ तक स्त्रियाँ की भागीदारी का सवाल हैं, आंदोलन सबसे अधिक संगठित बंबई में था, सबसे अधिक उग्र बंगाल में था और मद्रास में सीमित था। उत्तर भारत में इलाहाबाद, लखनऊ, दिल्ली और लाहौर जैसे शहरों में राष्ट्रवादी प्रदर्शनों में खुले–आम भाग लेकर सम्मानित परिवारों की सैकड़ों स्त्रियों ने अपने रूढ़िवादी पुरूष स्वजनों को स्तब्ध कर दिया। बंगाल में कुछ स्त्रियाँ हिंसक क्रांतिकारी आंदोलन में शामिल हुईं और उस समय, स्वदेशी के काल के विपरीत, उनकी मात्र सहायक भूमिकाएँ नहीं थीं। वे अब मजिस्ट्रेटों और गवर्नरों पर पिस्तौलों से गोलियाँ चला रही थीं। जो प्रवृत्ति 1930 के दशक में शुरू हुई थी, वह 1940 के दशक में भी जारी रही, जब सार्वजनिक जीवन में स्त्रियों की सक्रिय भूमिका को समाज में स्वीकृति मिली। यह समझना कठिन नहीं है कि स्त्रियों ने गांधी की अपील का प्रत्युत्तर क्यों दिया, जिसने राष्ट्र के प्रति स्त्रियों की सेवा को उनके धार्मिक कर्त्तव्य का अंग बना दिया। उनके अहिंसा संबंधी आग्रह और स्त्री सत्याग्रहियों की एक सम्मानित छवि की रक्षा पर उनके जोर ने स्त्री–सुलभ व्यवहार के प्रति सुस्वीकृत मापदंडों का हनन नहीं किया और इसलिए पुरूष इस भरोसे से भरे हुए रहे कि उनकी स्त्रियाँ गांधी के हाथों मे सुरक्षित रहेंगी। अधिकांश मिसालों में राष्ट्रीय आंदोलन में उन्हीं परिवारों की स्त्रियों ने भाग लिया, जिनके पुरूष गांधी के आंदोलनों में पहले से सक्रिय थे। इसलिए उनकी मिसालों में उनकी सार्वजनिक भूमिका पत्नियों, माताओं, बहनों और बेटियों के रूप में उनकी घरेलू या पारिवारिक संबंधों में किसी सार्थक परिवर्तन का कारण नहीं बना। इनमें से अधिकांश स्त्रियाँ हिंदू मध्यवर्ग के सम्मानित परिवारों की थीं। हालाँकि कुछ क्षेत्रों में ग्रामीण स्त्रियों ने भी आंदोलनों में भाग दिया, पर स्त्रियों की भागीदारी फिर भी एक प्रमुखतः शहरी संवृत्ति ही रही और इस बारे में भी सम्मानित छवि पर दिए जाने वाले जोर ने निम्नवर्गीय स्त्रियों या वेश्याओं जैसी हाशिए पर खड़ी स्त्रियों को बाहर ही रखा। जहाँ तक मुस्लिम स्त्रियों का सवाल था, 1921 में खिलाफत–असहयोग आंदोलन में

अनेकों ने भाग लिया था। लेकिन इससे अगर पर्दे की पाबंदियों के कम होने में मदद मिली तो भी उसके पूरे–पूरे उन्मूलन का सवाल ही पैदा नहीं होता था, क्योंकि मुसलमानों के लिए वह उनकी सांस्कृतिक विशिष्टता का प्रतीक था।

स्त्री–प्रश्न में कांग्रेस और उसके नेताओं की दिलचस्पी थी ही नहीं और थोड़ी बहुत प्रतीकात्मक उपस्थिति की अनुमति देने के अलावा उन्होंने किसी निर्णय प्रक्रिया में कभी स्त्रियों को शामिल नहीं किया। इसी कारण कुंठित होकर सरला देवी चौधरानी ने अफसोस जाहिर किया और कहा कि कांग्रेस उनको ''केवल कानून–तोड़क बनाना चाहती थी न कि कानून–निर्माता।'' फिर भी, इन तमाम बातों के बावजूद हमें यह भी मानना ही होगा कि सम्मानित परिवारों की सैकड़ों स्त्रियों ने भारत की सड़कों पर कतार बनाकर जुलूस निकाले, जेल गईं, वहाँ अपमान का सामना किया और कलंकित हुए बिना अपने परिवारों में वापस आईं तो यह भारतीय सामाजिक रवैया में एक उल्लेखनीय परिवर्तन का सूचक था। शौकत अली और मुहम्मद अली की बुजुर्ग वालिदा बी अम्मन ने पूरी जिंदगी पर्दे में गुजारने के बाद खिलाफत–असहयोग आंदोलन में भाग लिया। पंजाब की एक आम सभा में उन्होंने अपना बुरका उठाया और श्रोताओं को अपने बच्चे कहकर संबोधित किया। एक माँ को अपने बच्चों के सामने पर्दे की जरूरत नहीं होती, उनकी इस भाषा ने पर्दे की विचारधारा को निश्चित ही चोट पहुँचाई, उनके कर्म ने उसकी सीमा को कारगर ढंग से फैला दिया। दूसरी ओर यह बात काफी असंभव लगती है कि सविनय अवज्ञा आंदोलन में सचमुच भाग लेने वाली हजारों स्त्रियों ने पहले अपने संरक्षकों की अनुमति ली होगी और अगर ली भी होगी तो इस बात के अनेक ऐतिहासिक उदाहरण हैं कि ''एक बार लामबंद होने के बाद स्त्रियाँ अपनी इच्छा से आगे बढ़ती रहीं।'' उन्होंने बार–बार गांधी के उन आदेशों का उल्लघंन किया, जो उनकी सक्रियता पर बंधन लगाती थीं।

स्त्रियों की इस सक्रियता और राजनीतिकरण ने उपनिवेशी भारत में एक नारीवादी (feminist) चेतना को बढ़ावा दिया। लेकिन जिन स्त्रियों ने राष्ट्रीय आंदोलन में सचमुच भाग लिया, उनके लिए और उनकी अधिक प्रबुद्ध मध्यवर्गीय नेत्रियों के लिए जीवन अब संभवतः पहले जैसा रह भी नहीं सकता था। उस काल का बड़ा स्त्री–साहित्य यह संकेत देता है कि उनकी चेतना में सार्वजनिक–निजी का द्विभाजन अधिकाधिक धुँधला रहा था और वे अपने समाज में मौजूद लैंगिक असमानता पर चिढ़ती थीं। लेकिन, जैसा कि जानकी नायर का कथन है, ''ऐसे विरोध और 'वांछित' नियमों के ऐसे हनन'' के बावजूद ये मध्यवर्ग या उच्च जाति की स्त्रियाँ मोटे तौर पर राष्ट्रवादी पुरूष–प्रधानता की ''वर्चस्ववादी आकांक्षाओं से सहमत'' थीं। मुस्लिम स्त्रियों में भी बीसवीं सदी के आरंभिक वर्षों में एक नए ''नारीवादी'' उर्दू साहित्य का उदय हुआ, जिसने लैंगिक संबंधों की परंपरागत सीमाओं और विचारधाराओं को चुनौती दी। उन दिनों अधिकाधिक संख्या में उभर रहे

स्त्री संगठनों ने जो स्पेस पैदा किया, उसमें ऐसे अंर्विरोध और भी स्पष्ट तौर पर देखे जा सकते थे। आरंभ से ही राजनीति में स्त्रियों की भागीदारी अनेक विशुद्ध रूप से स्त्री संगठनों के मंच से होती रही। इन संगठनों में विभिन्न स्थानीय सामाजिक संगठनों से लेकर लड़कियों की शिक्षा संस्थाओं तक शामिल थे, और राष्ट्रीय स्त्री संघ या देश सेविका संघ जैसे अनेक राजनीतिक संगठन भी शामिल थे, जो कांग्रेस के सहायक संगठनों का काम करते थे। उसके बाद बीसवीं सदी के आरंभिक वर्षों में अनेक ऐसे स्त्री–संगठन अस्तित्व में आए, जो सार्वजनिक क्षेत्र में अधिक सक्रिय थे तथा स्त्रियों के राजनीतिक और कानूनी अधिकारों पर अधिक ध्यान केंद्रित करते थे।

अखिल भारतीय स्तर पर सबसे पहले मद्रास में 1917 में 'विमेंस इंडियन एसोसिएशन' का जन्म हुआ, जिसका आरंभ प्रबुद्ध यूरोपीय और भारतीय महिलाओं ने किया था। इनमें सबसे प्रमुख थीं एक आयरिश नारीवादी मार्गरेट कजिंस और एनी बेसेंट। 1925 में इंटरनेशनल काउंसिल ऑफ विमेन की शाखा के तौर पर नेशनल काउंसिल ऑफ विमेन इन इंडिया का गठन हुआ और आरंभिक वर्षों में उसकी प्रमुख प्रेरणा–स्त्रोत लेडी मेहरीबाई टाटा थीं। फिर 1927 में ऑल इंडिया विमेंस कॉन्फ्रेंस का जन्म हुआ, जो इन संगठनों में सबसे महत्त्वपूर्ण था। आरंभ में यह स्त्री–शिक्षा को बढ़ावा देने वाला एक गैर–राजनीतिक संगठन था, जिसकी प्रमुख प्रेरणा–स्त्रोत मार्गरेट कंजिस थीं। लेकिन वह संगठन आखिरकार राष्ट्रवादी राजनीति में भाग लेने लगा तथा मताधिकार से लेकर विवाह संबंधी सुधार और कामगार स्त्रियों के अधिकारों की पैरवी करने लगा। प्रान्तीय स्तर पर उन्हीं दिनों स्त्रियों के अनेक मुद्दों पर विभिन्न संगठन काम करने लगे। सरला देवी चौधरानी के भारत स्त्री महामंडल ने, जिसकी पहली बैठक 1910 में इलाहाबाद में हुई थी, स्त्री–शिक्षा को बढ़ावा देने के लिए पूरे भारत में अपनी शाखाएँ खोलीं। बंगाल में 1920 के दशक के दौरान, जैसा कि बार्बरा सदर्ड (1995) ने दिखाया है, बंगीय नारी समाज ने स्त्रियों के मताधिकारों के लिए अभियान आरंभ किया, बंगाल विमेंस एजुकेशन लीग ने स्त्रियों के लिए अनिवार्य प्रारंभिक और माध्यमिक शिक्षा की माँग की और ऑल बंगाल विमेंस यूनियन ने स्त्रियों के गैर–कानूनी व्यापार (trafficking) के खिलाफ कानून बनवाने के लिए एक अभियान चलाया।

फिर भी, इन मुद्दों पर जन–आंदोलन करने की बजाय इन स्त्री संगठनों ने सरकार को ज्ञापन दिए और राष्ट्रवादियों से समर्थन की प्रार्थना की। सरकार ने हस्तक्षेप भी किए तो हिचकते हुए और वह अकसर समझौते के सूत्रों को महत्त्व देती रही, क्योंकि उसका विश्वास था कि अधिकांश भारतीय स्त्रियाँ अभी भी अपने अधिकारों के समुचित उपयोग में समर्थ नहीं थीं। उदाहरण के लिए, 1919 के मांटेग्यू चेम्सफोर्ड सुधार ने स्त्रियों के मताधिकार का सवाल अनिर्णीत छोड़ दिया और इसका फैसला बाद में प्रांतीय विधायिकाओं द्वारा किया गया दूसरी ओर राष्ट्रवादी 1920 के दशक में स्त्रीप्रश्न पर अधिक हमदर्दी दिखाने लगे क्योंकि उनको राष्ट्र निर्माण में

स्त्रियों की भागीदारी की आवश्यकता थी। 1921 और 1930 के बीच सभी प्रांतीय विधायिकाओं ने स्त्रियों को मताधिकार दिया, हालाँकि उससे संपत्ति और शैक्षिक योग्यता संबंधी शर्तें निश्चित ही जुड़ी हुई थी। 1935 के भारत सरकार अधिनियम (गवर्नमेंट ऑफ ऐक्ट) ने मतदाता स्त्रियों का अनुपात बढ़ाकर 1:5 कर दिया और विधायिका में उनके लिए सीटें भी आरक्षित कीं। कांग्रेस और स्त्री–संगठनों को आरक्षण का विचार पसंद नहीं था और उन्होंने सार्वभौम वयस्क मताधिकार को प्राथमिकता दी। लेकिन इस प्रावधान के पारित हो जाने पर उन्होंने इसे स्वीकार किया और इसके कारण 1937 के चुनाव के बाद अनेक स्त्रियों को एक विधायी कैरियर आरंभ करने में मदद मिली। दूसरी ओर, विवाह–आयु संबंधी 1891 के विधेयक (एज ऑफ कंसेंट बिल) के विपरीत, 1929 का बाल–विवाह प्रतिबंध कानून (चाइल्ड मैरिज रिस्ट्रेन ऐक्ट) या शारदा कानून राष्ट्रवादियों के भारी समर्थन से पारित हो गया। इसमें स्त्रियों के लिए विवाह की न्यूनतम आयु 14 और पुरूषों के लिए 18 साल रखी गईं थी। अलावा इसके, 1930 के दशक के दौरान केन्द्रीय और प्रांतीय विधायिकाओं में ढ़ेरों ऐसे विधेयक पारित हुए, जो संपत्ति, विरासत और तलाक के बारे में स्त्रियों के अधिकारों को निरूपित करते थे, दहेज पर सीमा और वेश्यावृत्ति पर नियंत्रण लगाते थे।

बीसवीं सदी के आरंभ के विकासक्रमों ने– एक नई चेतना के जन्म, नए संगठनों के उदय और स्त्रियों के राजनीतिकरण ने– कुछ स्त्रियों के लिए, कुछ उल्लेखनीय परिवर्तन अवश्य पैदा किए। अधिक प्रबुद्ध, मध्यवर्गीय और शहरी स्त्रियों के लिए जिन्होंने अपने लिए कारगर ढंग से सार्वजनिक क्षेत्र में एक स्थान बनाया। उपनिवेश–काल के अंतिम वर्षों में इनमें से अनेक तो चिकित्सा और वकालत जैसे ऊँचे व्यवसायों में थीं, अच्छे वेतन पाती थीं और उनको सामाजिक जीवन में सम्मान मिलता था। पर अपनी नई सामाजिक भूमिकाओं और गृहिणी–वृत्ति के और बच्चों की देखभाल के कठोर तकाजों के बीच, कुछ खास मुखर प्रतिरोध किए बिना, वे भी बराबर डोलती रहती थीं। रहा सवाल बाकी भारतीय स्त्रियों का, तो परिवर्तन और भी नाटकीय रहे। इसका कारण यह था कि स्त्री–संगठनों और कार्यकर्तियों के प्रयास उस चीज से बाधित होते रहे। सीमा बाँधनेवाली सामाजिक विचारधारा को और उसे स्वीकार करने वाले स्त्री संगठनों के प्रभुत्व को 1940 के दशक के दौरान गंभीर चुनौती मिली, जब वर्गीय और धार्मिक सीमारेखाओं के आरपार स्त्रियों ने सार्वजनिक क्षेत्र में अपने लिए और भी सक्रिय भूमिका की माँग की और स्वतंत्रता संग्राम के अंतिम चरण में अपने साथ के पुरूषों की साथिनों के रूप में लड़ती रहीं। स्त्रियों की यह सक्रियता 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन में सबसे अधिक स्पष्ट रही, जिसके लगभग आरंभ में ही पहली कतार के सभी पुरूष कांग्रेसी नेता जेलों में बंद कर दिए गए। इस तरह की आकस्मिक परिस्थिति में अभूतपूर्व पुलिस दमन के सामने आंदोलन के समन्वय की जिम्मेदारी कुछ प्रमुख नेत्रियों ने अपने सर पर ले ली।

सुचेता कृपलानी ने अहिंसक प्रतिरोध का समन्वय किया, जबकि भूमिगत क्रांतिकारी गतिविधियों को नेतृत्व अरूणा आसफ अली ने दिया और यह काम उन्होंने गांधी की आत्मसमर्पण करने की सलाह को नरमी से ठुकराकर किया लेकिन इस आंदोलन का सबसे अहम पहलू बड़ी संख्या में ग्रामीण स्त्रियों की भागीदारी थी, जिन्होंने अपने देश को मुक्त कराने के लिए खुद पहलकदमी की। 1942 में कम्युनिस्ट पार्टी पर से प्रतिबंध हटने पर ग्रामीण स्त्रियों की यह संलग्नता और बढ़ी। इससे पहले 1920 और 1930 के दशकों में अनेक मध्यवर्गीय शिक्षित स्त्रियाँ कम्युनिस्ट आंदोलन में आईं थी और राजनीतिक बंदियों की रिहाई के अभियान में भाग लिया था। 1941 तक ऑल इंडिया स्टूडेंट्स फेडरेशन की छात्राओं की शाखा में कोई 50,000 सदस्याएँ थीं। 1942 में बंगाल की कुछ वामपंथी नेत्रियों ने एक महिल आत्मरक्षा समिति (वीमेंस सेल्फ–डिफेंस लीग) का गठन किया, उसके द्वारा ग्रामीण स्त्रियों को इकट्ठा किया और बंगाल में 1943 के अकाल के दौरान राहत के कार्य के किए।

कम्युनिस्ट आंदोलन में स्त्रियों की यह भागीदारी उस समय बढ़कर एक नए स्तर तक पहुँची, जब बंगाल में कम्यूनिस्ट नेतृत्व वाली किसान सभा के अंतर्गत 1946 में तेभागा आंदोलन उपज में बटाईंदारों के लिए दो–तिहाई हिस्से की माँग करते हुए शुरू हुआ। इसमें दलित और आदिवासी समुदायों की ''सर्वहारा और अर्ध–सर्वहारा स्त्रियों'' ने व्यापक स्तर पर स्वतंत्र कार्रवाइयाँ कीं। अपनी पहल पर उन्होंने 'नारीवाहिनी' बनाई और जो भी हथियार हाथ लगा उसी के बल पर उपनिवेशी पुलिस का मुकाबला किया। 1946 से 1951 तक तेलंगाना संघर्ष चला, बेहतर मजदूरी, सही लगान और अधिक सम्मान के लिए स्त्रियाँ पुरूषों से कंधे मिलाकर लड़ रही थीं। अधिकांश मिसालों में वे स्वयं आंदोलन में शामिल हुईं, गुप्त संदेशों के वाहकों के काम किए, छिपने की जगहों के प्रबंध किए और कुछ तो बंदूक लेकर दलम (क्रातिंकारी दलों) के सक्रिय सदस्य भी बनीं। लेकिन इस संघर्ष में भले ही किसान स्त्रियों के लिए जुझारू कार्रवाई का एक नया क्षेत्र पैदा किया हो लेकिन कम्यूनिस्ट नेता उनको बराबर का दर्जा नहीं देते थे। पार्टी नेतृत्त्व अपने बंगाली समकक्षों की ही तरह उनके लिए सिर्फ सहायक और गौण भूमिकाओं को प्राथमिकता देता था। वह लैंगिक संबंधों के परंपरागत ढाँचों से बाहर, अर्थात् विवाह और परिवार से बाहर, स्त्रियों के बारे में सोच ही नहीं सका और उन पर इतना भरोसा नहीं कर सका कि वास्तविक युद्ध क्षेत्र के लिए उन्हें बंदूकें थमा दे।

लगभग उन्हीं दिनों देश से बाहर वास्तविक फौजी कार्रवाई में स्त्रियों को शामिल करने का एक प्रयोग सुभाषचंद्र बोस ने किया। बहुत पहले 1928 में, उन्होंने ''कर्नल'' लतिका घोष के नेतृत्व में कांग्रेस का एक महिला स्वयंसेवक दल तैयार किया था, जिसने पूरी वर्दी पहनकर कलकत्ता की सड़कों पर मार्च किया था। 1943 में जब उन्होंने दक्षिण–पूर्व एशिया में प्रवासी भारतीयों की एक सेना बनाई, जिसे आजाद हिंद फौज कहा गया, तो उन्होंने उसका एक स्त्री रेजिमेंट भी बनाने का

फैसला किया, जिसका नाम 1857 के विद्रोह की वीरांगना रानी लक्ष्मीबाई के नाम पर रानी झाँसी रेजिमेंट रखा गया। इस नए रेजिमेंट के लिए प्रशिक्षण शिविर अक्टूबर 1943 में खोला गया और इसमें कोई 1500 स्त्रियाँ शामिल हुईं, जिनका संबंध दक्षिण–पूर्व एशिया में रह रहे, सभी धर्मों और जातियों के, कुलीन और मजदूरवर्गीय दोनों प्रकार के भारतीय परिवारों से था। उनको पूरा–पूरा सैन्य प्रशिक्षण दिया गया और लड़ने के लिए तैयार किया गया। आरंभिक चरण में उनको जब सैनिक भूमिकाएँ दी गईं, तो उन्होंने अपनी नेता से विरोध व्यक्त किया और आगे चलकर 1945 में इंफाल की मुहिम में उन्हें वास्तविक युद्ध कार्य में शामिल किया गया, लेकिन इस मुहिम में गंभीर गलतियाँ हुई। बोस खुद भी भारत की ''माताओं और बहनों की आध्यात्मिक शक्ति'' में विश्वास रखते और उसे जगाना चाहते थे। लेकिन यह राष्ट्रवादी राजनीति में स्त्रियों की भूमिका का एक सार्थक प्रसार अवश्य था कि उनको पौराणिक सीता की निष्क्रिय आदर्श भूमिका की जगह पुरूष सिपाहियों से कंधे मिलाकर लड़ रही स्त्रियों के लिए ऐतिहासिक रानी झाँसी की सक्रिय और शौर्यमयी भूमिका दी गई।

1940 के दशक के दौरान पाकिस्तान आंदोलन के उदय ने उपमहाद्वीप की मुस्लिम स्त्रियों के लिए राजनीतिक कार्रवाही का एक नया क्षेत्र पैदा किया। 1930 के दशक के दौरान वे मताधिकार जैसे अधिकारों की माँग करने के लिए अपनी हिंदू बहनों के साथ एक संयुक्त मोर्चे में भाग ले रही थी। लेकिन महिलाओं के लिए सांप्रदायिक आधार पर सीटों के आरक्षण को लेकर बेगम शाहनवाज ने अपनी आत्मकथा में लिखा है, ऑल इंडिया विमेन कॉन्फ्रेस की मुस्लिम नेत्रियों ने ''संयुक्त निर्वाचकमंडल को इसलिए स्वीकार करने से इनकार कर दिया, क्योंकि उनके पुरूष इसके लिए तैयार न थे। इस तरह व्यापकतर राजनीतिक कतारबंदियों ने यानी पुरूषों की राजनीति ने स्त्रियों के आंदोलन को भी प्रभावित किया। मुस्लिम लीग ने भी अपनी राजनीति को सर्वभौम बनाने की कोशिश की और मुस्लिम स्त्रियों को शामिल करने के लिए 1938 में एक महिला उपसमिति का गठन किया। जब पाकिस्तान के आंदोलन ने जोर पकड़ा तो अधिकाधिक महिलाएँ उसमें चुनावी उम्मीदवारों, मतदाताओं और सड़कों की राजनीति की सक्रिय प्रदर्शनकारियों के रूप में सामने आईं, खासकर पंजाब और पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत में। उनमें से अनेक तो साधारण स्त्रियाँ थी। जिनके लिए यह राजनीतिक भागीदारी अपने आप में एक ''मुक्तिदायी अनुभव'' था। मुस्लिम समाज में स्त्रियों के लिए यह एक सार्वजनिक भूमिका की स्वीकृति का सूचक था।

जवाहर लाल नेहरू जैसे कुछ अग्रणी राष्ट्रवादियों का विश्वास था कि राजनीतिक स्वतंत्रता बस मिल जाए, फिर तो स्त्री–प्रश्न का समाधान अपने आप निकल आएगा। जुझारू कार्रवाइयों के दौरान अगर सीमाएँ टूटीं, तो बाद में तेजी से, बिना किसी अपवाद के दोबारा कायम हो गईं। मल्लू स्वराज्यम् जैसी एक स्त्री, जिसे

''तेलंगाना की मशहूर वीरांगनाा'' कहा गया था, आंदोलन की वापसी के कुछ साल बाद क्या कर रही थी? उसके पति के शब्दों में, ''पका रही है और खा रही है। और क्या?'' तेलंगाना की स्त्रियाँ अगर अपने घरों से बाहर आईं, क्योंकि आंदोलन ने उनमें समानता दिलाने की उम्मीद जगाई थी, तो उसके बाद जल्द ही उन्होंने पाया कि परिवार के रूपक पर वह कम्युनिस्ट नेतृत्व बराबर जोर दे रहा था, जो हमेशा स्त्रियों को उसी परंपरागत सीमा के अंदर रखने को प्राथमिकता देता था।

दूसरी ओर पाकिस्तान के आंदोलन ने कुछ मुस्लिम स्त्रियों को सार्वजनिक कार्रवाई में जरूर खींचा, पर विभाजन के अनुभव ने एक बार फिर मुस्लिम स्त्रीत्व के परंपरागत आदर्श को बल पहुँचाया कि इस स्त्रीत्व की रक्षा घरेलू क्षेत्र में ही संभव है। इस सीमारेखा के किसी भी उल्लंघन को अनैतिकता, अधार्मिकता और समुदाय के लिए असम्मान का कारण समझा जाता था। वास्तव में विभाजन से जुड़ी हिंसा उप–महाद्वीप की स्त्रियों, हिंदू और मुसलमान, दोनों के लिए बदतरीन पल थी।

इस तरह ऐसा लगता है कि उपनिवेशी भारत में स्त्री–प्रश्नों को वह प्राथमिकता शायद ही मिली जो उसे मिलनी चाहिए थी। हालाँकि कुछ स्त्रियों में समझदारी आई, उन्होंने राजनीतिक संघर्षों में सक्रिय रूप से भाग लिया और अपने आपकों अनेक प्रकार से उदीयमान राष्ट्र के साथ जोड़ा पर मुक्ति की प्रचलित विचारधाराओं में अभी भी नारीवाद का समावेश नहीं हुआ था। लेकिन इसका यह मतलब भी नहीं कि राष्ट्रवादी नेताओं, समुदायों के बुजुर्गों या पार्टी के चौधरियों ने जिस प्रभुत्वशाली पुरूष–प्रधान परंपरा का समर्थन किया था, उसके उलटे जाकर कभी किसी स्त्री ने 'स्वतंत्रता' की कल्पना ही नहीं की।

सच तो यह है कि राष्ट्रीय संघर्ष ने भारतीय नारी की छिपी और दबी शक्ति को अनायास ही पूरी दुनिया के सामने प्रगट कर दिया। देशभक्ति में वे पुरूषों से कम नहीं थी और साहसिक कार्यों में उनसे आगे थीं। देश की स्वाधीनता के लिए उन्होंने अपने प्राण दिए। देश जिन्दा रहे और उनका बलिदान निरर्थक न हो, यह उनकी आत्मा की आवाज थी जिसके समक्ष ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के पैर उखड़ गये।

1.3 सारांश

वास्तव में भारतीय नारी का योगदान राष्ट्रीय संघर्ष में इतना अपूर्व था कि यह नारी इतिहास का स्वर्णिम अध्याय कहा जा सकता है। यह भी सच है कि भारत में जो नारी आन्दोलन अंकुरित हो रहा था वह राष्ट्रीय संघर्ष में आत्मसात हो गया। यह कहना त्रुटिपूर्ण है कि भारत में नारी आन्दोलन नहीं हुआ। भारत में नारी आन्दोलन हुआ, किन्तु दो कारणों से वह अपनी पूर्णता तक नहीं पहुंचा। पहला कारण यह था कि भारत का नारी आन्दोलन गौरवशाली अतीत की ओर वापसी थी। भारत का नारी आन्दोलन पश्चिमी विचारों से अनुप्राणित नहीं था। वह पुरूष–विरोधी

नही था वरन पुरूषों के अत्याचार का विरोधी था। दूसरा कारण यह था कि भारतीय नारियों ने अपने आन्दोलन को प्राथमिकता न देकर राष्ट्रीय संघर्ष को प्राथमिकता दी थी। स्वतंत्र भारत में इसीलिए जब संविधान लागू किया गया तो नारी वर्ग को समान अधिकार मिले और लिंग के आधार पर कोई भेदभाव नहीं किया गया।

1.4 बोध प्रश्न

1. स्वदेशी आन्दोलन में महिलाओं की भूमिका पर 10 पंक्तियाँ लिखिए।
2. निम्न पर सही/गलत का निशान लगाइये –

   (क) 1857 के गदर में अवध क्षेत्र का नेतृत्व बेगम हजरत महल ने किया था।

   (ख) 1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन में कल्पना दास ने गुप्त रूप से रेडियो का संचालन कर आन्दोलनकारियों का मार्गदर्शन किया।

   (ग) एनी बेसेन्ट ने भारत में होमरूल आन्दोलन चलाया।

   (घ) सुभाष चन्द्र बोस ने डॉ0 लक्ष्मी सहगल के नेतृत्व में एक महिला रेजीमेन्ट का गठन किया।

1.5 शब्दावली

स्वशासन – राज्य के किसी अंग द्वारा कुछ शक्तियों का उपभोग जो केन्द्रीय शासन द्वारा उसे प्रदान की जाये।

स्वदेशी – अपने देश का या अपने देश में निर्मित वस्तु।

राष्ट्रीय चेतना–एक संकल्पना जिसमें राष्ट्र या देश की सांस्कृतिक चिन्तन व्याप्त हो।

1.6 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न –2

(क) सही

(ख) गलत

(ग) सही

(घ) सही

इकाई–5
मुसलमानों का अलगाव

इकाई की रूपरेखा :

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 सर सैय्यद अहमद खाँ और अलीगढ़ आन्दोलन

1.2.1 मुस्लिम लीग की स्थापना

1.2.2 मुहम्मद अली जिन्हा : राष्ट्रवाद से संक्रमण तथा लीग का नेतृत्व

1.2.3 दो राष्ट्र सिद्धान्त और पाकिस्तान आन्दोलन

1.2.4 द्वितीय विश्व युद्ध के समय साम्प्रदायिकता

1.3 सारांश

1.4 शब्दावली

1.5 बोध प्रश्न

1.0 उद्देश्य

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में एक महत्वपूर्ण संकीर्ण चेतना जिसे उपनिवेशवाद ने उत्पन्न और अक्सर प्रत्यक्षतः प्रोत्साहित किया वह था हिन्दू और मुसलमानों में अलगाव की भावना। प्रस्तुत इकाई में हम दोनों धर्मों के मध्य बढ़ते अलगाव की चर्चा करेंगे जिसका परिणाम अन्तोगत्वा पाकिस्तान का निर्माण था।

1.1 प्रस्तावना

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के तत्वाधान में धीरे–धीरे 19वीं सदी के अन्तिम वर्षों से ही मुख्यधारा का राष्ट्रवाद जिस तरह विकसित हो रह था, उसे भारतीय समाज के अन्दर से ही बराबर चुनौतियाँ मिल रही थी, जिसके परिणामस्वरूप राष्ट्र सम्बन्धी वैकल्पिक धाराओं की एक श्रंखला सी उभर कर सामने आने लगी जिसका प्रतिनिधित्व ऐसे अनेक अल्पमत या हाशियाई (Marginal) समूह करते थे, जो कांग्रेस को लगातार चुनौती देते रहे या सौदेबाजी करते है। भारतीय राष्ट्रवाद को सबसे पहले चुनौती मुसलमानों से मिली, लेकिन उन्नीसवीं सदी के अन्तिम वर्षों में मुसलमानों में किसी भी तरह से एक स्पष्ट राजनीतिक विचार से युक्त एक समरस समुदाय नहीं थे। रजवाड़ो समेत पूरे भारत में उनकी आबादी, 1881 ई0 में कुल आबादी की 19.7% थी लेकिन उनकी आबादी के वितरण में राजनीतिक विषमताऐं

थी। जैसे संयुक्त प्रान्त में वे अल्पमत में थे तो पंजाब में वे बहुमत थें इसके अतिरिक्त मुस्लिम समुदाय की स्थिति और संरचना में भी अन्तर था जैसे सबसे अहम तो पंथ के (शिया–सुन्नी) भेद थे। फिर उनके बीच भाषायी बाधाओं के साथ–साथ अधिक असमताएं भी थी।

1.2 सर सैय्यद अहमद खाँ और अलीगढ़ आन्दोलन

मुसलमानों में नवजागरण लाने, अपने अधिकारों के प्रति सचेष्ट रहने की भावना का विकास सबसे पहले सैय्यद अहमद खाँ ने किया। वह पहले भारतीय थे जिन्होंने मुसलमानों को संगठन, अंग्रेजी शिक्षा, आधुनिकीकरण और अंग्रेजी शासन की सहानुभूमि प्राप्त करने का प्रयास किया। प्रारम्भ में उनका लक्ष्य साम्प्रदायिक न था परन्तु अंग्रजों की कृपा प्राप्त करने हेतु जो प्रयत्न उन्होंने किये उनके कारण स्वयं के और उनके द्वारा प्रारम्भ किया गया 'अलीगढ़ आन्दोलन' धीरे–धीरे साम्प्रादयिक होता चला गया। अलीगढ़ आन्दोलन का प्रारम्भिक उद्देश्य मुसलमानों की शिक्षात्मक, सामाजिक और आर्थिक प्रगति करना था किन्तु यह राजनीति से अलग न रह सका।

सन् 1877 में अलीगढ़ में 'ऐंग्लो–ओरिएण्टल कांग्रेस' की स्थापना की जो बाद में मुस्लिम विश्वविद्यालय बना। अलीगढ़ आन्दोलन का मूल उद्देश्य मुस्लिम समाज के भावी नेता उत्पन्न करना था तथा मुस्लिम युवकों में एकता की भावना उत्पन्न करना तथा देश में उनकी ऐतिहासिक भूमिक के प्रति जागृत करना था। सर सैय्यद अहमद खाँ कांग्रेस को स्पष्ट रूप से बहुसंख्यक हिन्दुओं का प्रतिनिधित्व मानते थे। वे राष्ट्रवाद के विरोधी न थे पर राष्ट्र की अलग धारणा के समर्थक थे उनका मानना था कि राष्ट्र विभिन्न प्रकार के राजनीतिक अधिकारों के समुदायों का एक संघ है। ये अधिकार उनकी वंशावलियों और राजनीतिक महत्व पर निर्भर होते है और भूतपूर्व शासक वर्ग का होने के नाते मुसलमानों का नए विश्वमुखी ब्रिटिश साम्राज्य में एक विशिष्ट स्थान है। सैय्यद अहमद खाँ की यह धारणा कांग्रेस की धारण से एकदम विपरीत थी। प्रतिनिधिक शासन के आरम्भ की संम्भवना ने बहुसंख्यक वर्चस्व के प्रभुत्व का एक राजनीतिक खतरा पैदा कर दिया जिसके अनुसार राष्ट्र नागरिकों से न कि समुदाय से बनता है। यह सत्य है कि अलीगढ़ आन्दोलन भारत के कोने–कोने में मुस्लिम आन्दोलन का मूलाधार बना और इसने भारतीय राजनीति में अलगाववादी शक्तियों को बढ़ावा दिया।

1.2.1 मुस्लिम लीग की स्थापना 30 दिसम्बर 1908

इंग्लैण्ड स्थित भारत सचिव से जिला प्रशासन तक सभी पदाधिकारी इस बात पर सहमत थे कि यदि भारत में यदि अंग्रेजी सत्ता बनाये रखना हो तो कांग्रेस की बढ़ती हुई शक्ति का कोई न कोई प्रतिद्वंदी ढूढ़ना ही पड़ेगा। एक ऐसा ही प्रतिद्वदी जो पृथक चुनाव मण्डल तथा उनके चुनाव में केवल मुसलमान मतदाता ही भाग ले सकें। चूँकि उस समय नये संवैधानिक सुधार विचाराधीन थे अतः मुसलमानों

को यह सुअवसर स्वतः ही उपस्थित हो गया। तत्कालीन मुस्लिम नेता आगा खाँ एक प्रतिनिधिमण्डल लेकर 01 अक्टूबर 1906 को शिमला में लार्ड मिन्टो से मिले। लार्ड मिन्टों ने इस प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर लिया और 30 दिसम्बर 1906 को अखिल भरतीय मुस्लिम लीग की स्थापना की गई। यह एक अलग निर्वाचनमण्डल के निर्माण के द्वारा एक अल्पसंख्यक समुदाय के रूप में अपने राजनीतिक अधिकारों का सुरक्षा की मांग के साथ–साथ एक अलग राजनीतिक पहचान की तलाश का, न कि एक अलग वतन (Home Land) की तलाश का, आरम्भ भी था।

ब्रिटिश शासन ने सन् 1909 में मार्ले–मिन्टो सुधार में जब एक अलग निर्वाचक मण्डल का यह विशेषाधिकार उन्हें दिया तो उन्हें एक 'अखिल भारतीय राजनीतिक प्रवर्ग' का दर्जा मिला लेकिन इस व्यवस्था ने उनको भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में एक स्थायी अल्पसंख्यक समूह भी बना दिया। इसके बाद तो प्रतिनिधिक शासन की ये ढांचागत मजबूरिया कांग्रेस और मुस्लिम लीग के सम्बन्धों को प्रभावित करने लगी।

सन् 1913 के उपरान्त लगभग एक दशक तक मुस्लिम लीग उदारवादी मुस्लिम नेताओं के प्रभाव में आ गयी थी, जिसमें मौलाना मोहम्मद अली, मौलाना मजहर उल–हक, सैय्यद बजीर हुसैन, हसन इमाम तथा मुहम्मद अली जिन्ना (जो उन दिनों राष्ट्रवादी नेता थे) आदि प्रमुख थे। सर्व इस्लामी प्रचार तथा खिलाफत आन्दोलन के कारण मुस्लिम लीग कांग्रेस के बहुत समीप आ गई और इसके फलस्वरूप कांग्रेस के साथ लीग के समझौता हो गया, इस समझौते का संक्षिप्त काल सन् 1916 के लखनऊ समझौते पर हस्ताक्षर के बाद शुरू हुआ जिसने अलग निर्वाचक मण्डल की मुस्लिम माँग को मान्यता दी। लेकिन ऐसी सभी व्यवस्थाएं जल्द ही अप्रांसगिक हो गई जब गांधी के आगमन और राष्ट्रवादी राजनीति के अभी तक बन्द दायरे में जनता के प्रवेश ने भारतीय राजनीति के ढाँचे को पूरी तरह बदल डाला।

खिलाफत आन्दोलन ने गाँधी द्वारा दिये गये समर्थन ने हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच सामंजस्य पैदा करने में काफी सहायता की लेकिन आन्तरिक फूट के कारण तथा तुर्की में कमाल पाशा के नेतृत्व में एक गणतान्त्रिक क्रान्ति के द्वारा खिलाफत के उन्मूलन के कारण यह आन्दोलन 1924 ई0 तक समाप्त हो गया।

इस आन्दोलन से पंजाब और बंगाल में मुस्लिम पहचान को और मजबूत करने में हुआ। मालमार में 1921 में खिलाफत आन्दोलन के कारण ही गम्भीर साम्प्रदायिक दंगा हुआ। वास्तविक रूप में देखा जाए तो खिलाफत आन्दोलन के द्वारा ही मुसलमानों की इस एक जुटता ने हिन्दुओं में हीनता और असुरक्षा की भावना को जन्म दिया तथा जिन्होंने अब मुसलमानों का अनुसरण करते हुए जबरनी एकजुटता दिखायी प्रारम्भ की। आर्य समाज ने पंजाब और संयुक्त प्रान्त में शुद्धि

अभियान प्रारम्भ किया। हिन्दू महासभा ने 1924 ई0 हिन्दू संगठन की मुहिम शुरू की। (राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ) सामुदायिक आधार पर ऐसी लामबन्दी का नजीता 1920 के दशक के दौरान अनेक दंगों का घटना था जिन्होंने भारत के लगभग सभी भागों को प्रभावित किया।

खिलाफत आन्दोलन के पतन के बाद हिन्दू–मुस्लिम सम्बंधों के साथ कांग्रेस की राष्ट्रवादी की धारणा में तेजी से जवाहर लाल नेहरू जैसे कांग्रेसी नेताओं ने अपने सार्वजनिक भाषण में भारतीय राष्ट्र की एक धर्मनिरपेक्ष धारणा पर जोर दिया जिसे सामुदायिक हितों से ऊपर माना गया। राष्ट्रवाद और सम्प्रदायवाद के बीच एक द्वैतविरोध माना जाने लगा और जो भी समुदाय की बात करता था उसे राष्ट्रवाद विरोधी या सम्प्रदायवादी कहा जाने लगा। कांग्रेस की धर्मनिरपेक्षता सम्बंधी घोषणा ऐसे समय में की गई जब हिन्दू और मुसलमान दोनों ही सार्वजनिक जीवन में धर्मिक पहचान व्यक्त कर रहे थे। जहाँ तक कांग्रेस की बात करे तो कांग्रेस के भीतर ही दो विरोधी धारणाओं के बीच लगातर संघर्ष चल रहा था, जिसमें एक तो समन्वित संस्कृति पर आधारित अर्थात राष्ट्र को समुदाय से ऊपर मानती थी। जबकि दूसरी विचारधारा हिन्दूओं ने नस्ली वर्चस्व के और विशेषकर मुसलमानों की अधीनता के विचार पर आधारित थी।

1.2.2 मुहम्मद अली जिन्ना : राष्ट्रवाद से संक्रमण तथा लीग का नेतृत्व

1920 के उपरान्त जिन्नाह का राष्ट्रवाद से संक्रमण होकर साम्प्रदायिक राजनीति की ओर झुकना प्रराम्भ हो गया। 1930 के बाद जिन्नाह लीग के निर्विवाद नेता बन कर उभरे। ऐसा प्रतीत होता है कि जिस भय से (हिन्दूओं का भय) सर सैय्यद अहमद खाँ राष्ट्रवादी से साम्प्रदायिकतावादी नेता बने उसी भय ने जिन्ना को भी साम्प्रदायिकता की ओर धकेल दिया। 1922 ई0 के उपरान्त हुए साम्प्रदायिक दंगों से सम्प्रदायिकता तथा मुस्लिम लीग को पुनः शक्ति मिली। 24 मई 1924 ई0 को जब लाहौर अधिवेशन हुआ तो जिन्नाह इसके अध्यक्ष थे और लीग ने कुछ मांगे प्रस्तुत की लेकिन ये मांगे स्वीकार नहीं की गई तब जिन्नाह ने न्यूनतम 14 बिन्दुओं को प्रस्तुत किया। जो निम्न थे।

- भारत का भावी संविधान संघीय होना चाहिए और अवशिष्ट शक्तियाँ प्रान्तों के पास होनी चाहिए।
- सभी प्रान्तों को समान मात्रा में स्वशासन दिया जाना चाहिए।
- देश के सभी चुने हुए निकायों तथा विधानमण्डलों का गठन अल्पसंख्यको को पयाप्ति तथा प्रभावशाली प्रतिनिधित्व के निश्चित आधार पर होना चाहिए।
- केन्द्रीय विधानमण्डल में मुसलमानों को $33\frac{1}{3}\%$ प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए।

- यदि भविष्य में प्रादेशिक पुर्नगठन किया जाए तो वह पंजाब, उत्तर–पश्चिमी प्रान्त तथा बंगाल में मुस्लिम बहुमत को प्रभावित नहीं करेगा।
- सभी सम्प्रदायों के लिए धार्मिक स्वतन्त्रता होगी।
- किसी विधानमण्डलों में ऐसा कोई प्रस्ताव पारित नहीं किया जायेगा जिसका किसी समुदाय के ¾ सदस्य इसलिए विरोध कर रहे हो कि उससे उस सम्प्रदाय पर विपरीत प्रभाव पड़ेगा।
- सिंध को बम्बई प्रेसीडेन्सी से अलग कर दिया जाए।
- उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त तथा बचूलिस्तान में अन्य प्रान्तों की भांति ही सुधार लागू किया जाए।
- संविधान में प्रावधान हो कि सेवाओं में तथा स्थानीय स्वशासित निकायों में मुसलमानों को पर्याप्त भाग दिया जाए।
- संविधान में ऐसे पर्याप्त संरक्षण दिये जायेंगे जिससे मुस्लिम संस्कृति शिक्षा, भाषा तथा धर्म की रक्षा हो।
- केन्द्र तथा प्रान्तीय मन्त्रिमंडलों का ऐसा गठन नहीं किया जाना चाहिए जिसमें मुसलमान मन्त्रियों की संख्या उनकी संख्या की 1/3 न हो।
- भारतीय संविधान में केन्द्रीय विधान मण्डल द्वारा कोई संशोधन उस समय तक नहीं होना चाहिए जब तक भारतीय संघ में सम्मिलित सभी राज्य उससे सहमत न हो।

द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में भिन्न–भिन्न सम्प्रदायों के लिए चुनाव प्रतिनिधित्व पर कोई सर्व सम्मत सहमति नहीं हो सकी अतः ब्रिटिश प्रधानमंत्री रेन्जे मेकडेनाल्ड ने अपना सुप्रसिद्ध साम्प्रदायिक निर्णय (Communal Award) – 16 August 1932 में घोषणा की जिसमें सम्प्रदायिक निर्णय में वह सभी कुछ स्वीकार कर लिया गया जो साइमन आयोग को भी असंगत लगता था।

सन् 1935 के भारत सरकार अधिनियम के अधीन प्रान्तीय विधान मण्डलों के लिए पहले चुनाव 1937 में हुए। मुस्लिम लीग ने अपने कार्यक्रम के आधार पर चुनाव लड़े लेकिन इसमें उन्हें थोड़ी सी सफलता प्राप्त हुई। कांग्रेस ने जुलाई 1937 ई0 में सरकारे बनाने का निश्चय किया। मुस्लिम लीग ने बंगाल, असम, पंजाब में कांग्रेस ने मिली–जुली सरकार बनाने की इच्छा प्रकट की और उसे आशा थी कि उत्तर–प्रदेश और बिहार में भी अनेक सदस्य मंत्रिमण्डल में सम्मिलित कर लिए जायेगें। कांग्रेस जो कि धर्मनिरपेक्षता पर गर्व करती थी, ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया और कहा कि यदि मुस्लिम लीग के सदस्य, मंत्री बनना चाहते है तो वे कांग्रेस में प्रतिज्ञापत्र पर हस्ताक्षर करें। यह सम्भवतः कांग्रेस की इस समय की सबसे बड़ी मूल थी।

जिन्ना ने इस सुझाव को मुस्लिम लीग के विरूद्ध सबसे बड़ी चाल बताया और कहा कि कांग्रेस हिन्दूओं की संस्था है जो अल्पसंख्यकों को दबाना चाहती है। उन्हें लगने लगा कि कांग्रेस से मुसलमानों को न्याय की आशा नहीं करनी चाहिए। कांग्रेस के प्रति साधारण रूख यह था मुसलमान समझते है कि बहुसंख्यक अन्याय से बढ़कर कोई अन्याय नहीं है। जब अक्टूबर 1939 में युद्ध के प्रश्न पर कांग्रेस मंत्रिमण्डलों ने त्यागपत्र दे दिया तो मुस्लिम ली ने मुक्ति दिवस तथा धन्यवाद दिवस (Deliverance and Thanks giving Day) मनाया।

1.2.3 दो राष्ट्र का सिद्धान्त और पाकिस्तान आन्दोलन

प्रायः सुप्रसिद्ध कवि तथा राजनीतिक चितंक मुहम्मद इकबाल को मुसलमानों के लिए पृथक राज्य (पाकिस्तान) के विचार का प्रवर्तक माना जाता है और कहा जाता है कि उन्होंने इस आन्दोलन को आवश्यक भावात्मक आधार प्रदान किया। वास्तव में मुसलमान के लिए पृथक स्वदेश जिसे पाकिस्तान कहा जाए, इस प्रकार का निश्चित विचार कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के एक विद्यार्थी 'रहमत अली' के मन में उत्पन्न हुआ। उन्होंने कहा कि पंजाब, उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त, कश्मीर, सिंध, बलूचिस्तान को भारतीय मुसलमानों का प्रान्त होना चाहिए। पाकिस्तान राष्ट्र भी इन्ही प्रथम चार प्रान्तों तथा पाँचवें प्रान्त के अन्तिम अक्षर को लेकर बनाया गया।

हिन्दू तथा मुसलमान अलग–अलग जातियाँ है इसकी घोषणा जिन्नाह ने मार्च 1940 के लाहौर अधिवेशन में की थी और ऐसी दो जातियों को एक राष्ट्र के रूप में बांधने (जिनकी रीति रिवाज, कैलेन्डर, भोजन, वस्त्र सभी भिन्न है।) से जिसके एक अल्पसंख्यक तथा दूसरी बहुसंख्यक हो असंतोष ही बढ़ेगा। इस प्रकार मुस्लिम लीग के लाहौर अधिवेशन में लीग को एक आकांक्षा और एक कार्यक्रम दिया। इसके उपरान्त मुसलमानों के लिए पाकिस्तान एक धर्मनिष्ठा का उतना ही महत्वपूर्ण भाग बन गया जितना कि कुरान। हिन्दू व मुस्लिम दो अलग–अलग जातियाँ हो इसकी घोषणा दबे शब्दों में जिन्ना ने लीग के मार्च 1940 के लाहौर अधिवेशन मे की थी।

1.2.4 द्वितीय विश्व युद्ध के समय साम्प्रदायिकता

कांग्रेस ने मांग की थी युद्ध के बाद देश को स्वतंत्रता मिले और सभी अन्तरिम सरकार का गठन हो तभी युद्ध में पूर्ण सहयोग मिलेगा लेकिन भारत के तत्कालीन वाइसराय लार्ड लिनलिथगो ने अगस्त 1940 में प्रस्ताव किया जिसमें युद्ध के बाद संविधान सभा बनाने की बात कही गई थी तथा अल्पसंख्यकों (मुस्लिम समुदाय) को विश्वास दिलाया गया कि अंग्रेजी सरकार किसी राज्य प्रणाली का समर्थन नहीं करेगी जिसमें उस देश की एक प्रमुख जाति स्वीकार न करे। मुस्लिम लीग ने इसका स्वागत किया और एक प्रस्ताव पारित किया जिसमें कहा गया कि ''भारत के भावी संविधान के कठिन प्रश्न का केवल एक मात्र हल विभाजन है''।

संवैधानिक गतिरोधक दूर करने के उद्देश्य से एक शिष्टमण्डल क्रिप्स के नेतृत्व में मार्च 1942 में भारत आया जिससे भारत के बंटवारे की माँग को और प्रोत्साहन मिला। अब पाकिस्तान आन्दोलन अब उ0प्र0 के जमीदारों तथा ताल्लुकदारों का पुराना अलीगढ़ आन्दोलन नहीं रह गया था बल्कि इसका आधार विस्तृत हो गया था जिसमें समस्त भारत के मुसलमान सम्मिलित हो गये थे। हालांकि कांग्रेस भी इस प्रस्ताव को अस्वीाकर कर दिया।

8 अगस्त 1942 को कांग्रेस ने जब 'भारत छोड़ो आन्दोलन' प्रारम्भ किया तो लीग ने इसका विरोध किया। इस समय जब कांग्रेस के प्रायः सभी बड़े नेता जेल में थे तब लीग ने पाकिस्तान के पक्ष में जबरदस्त प्रचार किया। धर्म का आधार लेकर लीग के नेताओं ने मुसलमानों को लीग का साथ देने और पाकिस्तान की माँग का समर्थन करने के लिए उकसाया। अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों को इसमें प्रशिक्षित करके दूर–दूर के प्रान्तों में प्रचार के लिए भेजा गया और प्रख्यात वक्ताओं जैसे नवाब बहादुर यारजंग, मौलाना जफर अली खाँ को घूम–घूम कर प्रचार करने की जिम्मेदारी सौंपी गई।

इस समय के अनेक समाचार पत्रों ने भी पाकिस्तान बनाये जाने का समर्थन किया। दिल्ली से अंग्रेजी में 'डॉन' और उर्दू में 'अंजाम', 'जंग', 'मंसूर' लाहौर से उर्दू में 'इन्कलाब', नवा–ए–वक्त और 'जमींदार' लखनऊ से उर्दू में 'हमदम' कलकत्ता से अंग्रेजी में पाकिस्तान के समर्थन में उत्साहपूर्ण प्रचार किया। लीग का यह प्रचार बेकार नहीं गया। मुसलमानों का अधिकांश वर्ग लीग के पक्ष में हो गया। इसी बीच 1944 ई0 में राजगोपालाचारी ने महात्मा गांधी की स्वीकृति से मुसलमानों की मांगों को पूरा करने के लिए अपना प्रस्ताव पेश किया। (Raj Gopalacharya's formula) लेकिन जिन्ना ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया क्योंकि इसमें पाकिस्तान की मांग की पूर्ति नहीं हो रही थी। जिन्ना ने कहा कि उसे 'अंगहीन' अनेक भुजाओं वाले तथा कीड़ों से खाया हुआ पाकिस्तान नहीं चाहिए। उसने कहा कि वह सिंध, पंजाब, उत्तर–पश्चिमी सीमा प्रान्त, बलूचिस्तान, बंगाल तथा असम इन छः प्रान्तों से कम किसी वस्तु को स्वीकार नहीं करेगा। अतः 1945 ई0 में गवर्नर जनरल लार्ड बैवेल ने शिमला में एक सम्मेलन (Shimla Conference) का आयोजन किया तथा अपनी योजना बैवेल (Wavell's Plan) योजना प्रस्तुत की और एक अन्तरिम सरकार के निर्माण का प्रयत्न किया। लेकिन जिन्ना की इस हठ पर कि उस सरकार के सभी मुसलमान सदस्य लीग के द्वारा ही लिये जायेंगे, यह सम्मेलन भी असफल हो गया।

जुलाई 1945ई0 में ब्रिटेन में मि0 एटली के नेतृत्व में मजदूर दल की सरकार का गठन हुआ। उसी वर्ष 1935 ई0 के कानून के आधार पर केन्द्रीय व प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं के चुनाव हुए, जिसमें लीग को पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई। मि0 एटली ने कहा कि एक मंत्रीमण्डल भारत भेजा जायेगा जिसका कार्य भारतीय समस्या के हल के सम्बन्ध में सुझाव देना होगा। मार्च 1946 ई0 में कैबिनेट मिशन भारत

आया और मई में उसने अपनी योजना कैबिनेट मिशन (Cabinet mission plan) लीग और कांग्रेस के समक्ष रखी। इस योजना के अन्तर्गत एक दुर्बल केन्द्रीय सरकार, शक्तिशाली प्रान्तीय सरकारों तथा उनके आपस में मिलने की सम्भावना, एक संविधान सभा का निर्माण और अन्तरिम सरकार के निर्माण की व्यवस्था की गई थी। प्रारम्भ में लीग ने इसे स्वीकार कर लिया परन्तु कांग्रेस ने केवल इसके एक भाग अर्थात संविधान सभा के निर्माण को ही स्वीकार कर लिया परन्तु कांग्रेस ने केवल इसके भाग अर्थात संविधान सभा के निर्माण को ही स्वीकार किया लेकिन बाद में कांग्रेस ने अन्तरिम सरकार के गठन को भी स्वीकार कर लिया तथा लीग ने इसमें भाग लेने से इन्कार कर दिया लीग ने इस विरोध में 16 अगस्त 1946ई0 को प्रत्यक्ष कार्यवाही दिवस (Direct Action Plan) मनाया जिसके परिणामस्वरूप बंगाल, बिहार और पंजाब में भयंकर हिन्दू–मुस्लिम दंगे हुए।

सितम्बर 1946 में पं0 जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में एक अन्तरिम सरकार का गठन हुआ और अक्टूबर में लीग ने अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने हेतु उसमें सम्मिलित होना स्वीकार कर लिया। उसी वर्ष दिसम्बर में संविधान सभा की बैठक हुई लेकिन लीग ने इस सभा के कार्यों में भाग लेने से इन्कार कर दिया। हिन्दू–मुस्लिम दंगे भड़के। ऐसी स्थिति में ब्रिटिश सरकार ने 20 फरवरी 1947 को यह घोषणा की कि प्रत्येक स्थिति में जून 1948 तक भारत छोड़ देंगे। उस समय लार्ड माउण्टवेटेन को गर्वनर जनरल बनकर भारत भेजा गया। 27 मार्च को लीग ने 'पाकिस्तान दिवस' मनाया। मार्च में पंजाब में भीषण दंगे फैले। इन दंगों की भीषणता इतनी विकराल थी कि लार्ड माउण्टवेटन ही नहीं पं0 जवाहर लाल नेहरू, सरदार बल्लभ भाई पटेल, जैसे नेता भी भारत विभाजन के लिए सहमत हो गये। भारत विभाजन की यह योजना 'बी0पी0 मेनन' ने प्रस्तुत की माउण्टवेटेन ने इसे 'जून–योजना' के रूप में प्रस्तुत किया। जून–योजना को कांग्रेस और लीग दोनों ने स्वीकार कर लिया। इस आधार पर जुलाई 1947 में 'भारतीय स्वतन्त्रता कानून' बनाया और भारत का विभाजन 15 अगस्त 1947 को भारत और पाकिस्तान नाम के दो राज्यों के निर्माण के साथ हुआ।

1.3 सारांश

भारत विभाजन भारतीय इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना थी। इसका प्रमुख कारण मुसलमानों की धार्मिक कट्टरता और उनकी साम्प्रदायिक भावना थी। शिक्षा और आधुनिक विचारों की कमी के कारण, धर्म से अधिक श्रेष्ठ और उपयोगी आदर्श उनके सामने नही था। ऐसी स्थिति में सर सैय्यद अहमद खाँ के नेतृत्व में आरम्भ हुआ अलीगढ़ आन्दोलन ने धीरे–धीरे साम्प्रदायिक रूप धारण कर लिया। मुहम्मद इकबाल ने इस भावना का पोषण किया और लीग के नेता मुहम्मद अली जिन्ना ने इसमें सबसे बड़ा योगदान दिया। जिन्ना के नेतृत्व में लीग की नीति दृढ़ मजबूत

होती गई जिसका परिणाम पाकिस्तान का निर्माण था।

1.4 शब्दावली

साम्प्रदायिकता –

इससे अभिप्राय है कि अपने धार्मिक सम्प्रदाय से भिन्न अन्य सम्प्रदायों के प्रति उदासीनता, उपेक्षा, घृणा, विरोधी व आक्रमण की भावना है।

राष्ट्रवाद –

लोगों के किसी समूह की उस आस्था का नाम जिसके अनुसार वे स्वयं को एक इतिहास, परम्परा, भाषा, जातीयता और संस्कृति के आधार पर एकजुट मानते है।

1.5 बोध प्रश्न–1

साम्प्रदायिकता के उदय पर एक टिप्पणी लिखिए।

बोध प्रश्न–2

जिन्ना के 14 सूत्री कार्यक्रम क्या था?